UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186502

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—68—11-1-68—2,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H181.4 K11B Accession No. H3550

Author कबीर .

Title बीजक - टीका . विचारदास शास्त्री .
1954 .

This book should be returned on or before the date last marked below.

सद्गुरु कबीर साहब का ग्रन्थ—

बीजक

—:o:—

टीकाकार

विचारदास शास्त्री

—:o:—

प्रकाशक

रामनारायण लाल

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद

तीसरी बार] १९५४ [मूल्य २॥)

प्रकाशक
रामनारायण लाल
प्रयाग

मुद्रक—
मुंशी रमजान अली शाह
नेशनल प्रेस
प्रयाग

समर्पण

पतितपावनाद्यनेकविरुदावलीविभूषितकरुणावरुणाऽऽ

लयप्रातःस्मरणीय श्री १०८ सद्गुरुकबीर-

चरणाम्बुजेषु बीजकग्रन्थस्यास्य

टीकाटिप्पण्यादिरूपपुष्पाञ्जलिं

भक्तिनम्रः समर्पयति।

सद्गुरो !

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझ को सौंपते, का लागत है मोर॥

चरण किङ्कर—

विचारदास।

दो शब्द

इस पुस्तक का शोधन अति प्राचीन प्रतियों के आधार से किया गया है, जो कि स्थान कबीर चौरा के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। उनमें एक प्रति अत्यन्त जीर्ण शीर्ण और अनेक दफा की जीर्णोद्धारित (मरम्मत) की हुई मालूम पड़ती है। उन पुस्तकों में प्रान्तीय भाषा के अनुरोध से वर्तमान पाठान्तरों का मैंने क पुस्तक ख पुस्तक आदिकों के बोधक 'क० ख० पु०' आदि संकेतों से टिप्पणी के नीचे उल्लेख कर दिया है। पाठान्तर और टिप्पणी का 'पाठा०' और 'टि०' से सूचना किया है। पाठकों को ज्ञात हो कि टीका की तरह टिप्पणी को धारा प्रवाह (सरपट) नहीं बाचना चाहिये किन्तु; मूल पाठ के ऊपर दिये हुये १, २, आदि अंकों के अनुसार नीचे अर्थ देखना चाहिये। इस ग्रन्थ में पाठकों के सुभीते के लिये सरल पद्यों पर टिप्पणी और कठिनों पर साद्यन्त टीका कर दी गई हैं। सबसे प्रथम पदार्थ का संक्षिप्त दिग्दर्शन, अनंतर टीका या टिप्पणी और अन्त में भावार्थ, यही क्रम [सिलसिला] आदि से अन्त तक रखा गया है।

जिन सज्जनों ने इस पवित्र कार्य में अपना अमूल्य समय आदिक देकर मेरी सहायता की है, उनका मैं चिरकृतज्ञ रहूँगा।

—:०:—

निवेदन

विज्ञ पाठकों और समालोचन-कर्त्ता महोदयों से विनम्र निवेदन है कि इस रूप में मातृभाषा [हिन्दी] की यह मेरी पहली ही सेवा है; अतः अनेक त्रुटियों का होना सम्भव है। इसके अतिरिक्त इसके सम्पादन और मुद्रण में अत्यन्त त्वरा की गयी है। अतः मानव सुलभ बुद्धि-दोष, दृष्टि-दोष, मुद्रण-दोषादिकों से होने वाली त्रुटियों को आप लोग अपने उदार हृदय से क्षमा करके कृपया मुझको सूचित करियेगा। जिससे अगले संस्करण में उनका सुधार हो सके। इस पुस्तक से यदि पाठकों को थोड़ा भी लाभ पहुँचेगा तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा। मैंने केवल यह महात्माओं की आज्ञा का पालन किया है।

"मों में इतनी शक्ति कहँ, गांऊँ गला पसार।
बन्दे को इतनी घनी; पड़ा रहै दरबार॥"
आत्मधर्मपथः सोऽयं, धर्माय गुरुणोदितः।
सुविचारेण सम्प्राप्तो, जगन्नाथपदाम्बुजात्॥

कबीर—जयन्ती (बरसाइत)
ज्येष्ठ शु० १५ सं० १९८३।

विनयावनतः—
विचारदास।

सूचना

उदार समालोचक वृन्द तथा सम्पादक महोदयों से आशा है कि इस ग्रन्थ के विषय में अपनी उदार सम्मति देकर मुझको कृतकृत्य करेंगे यदि पाठक गण (तथा हमारे कबीरपंथी महोदय) इसकी टीका और टिप्पणियों से सन्तुष्ट होकर मुझको उत्साहित करेंगे, तो मैं इसकी आदि से अन्त तक कुछ विस्तृत टीका बनाने के शुभ कार्य को सहर्ष स्वीकार कर लूँगा।

भूमिका

अत्र स्थाणु-सुपत्तने हि पुरतः क्षोणी-तले संस्थितो।
लोकातीत-महोदयो गुणनिधिः शास्ति स्वशिष्यान् पुरा॥
आर्य्यानार्य्यभिदामपास्य जनितो ह्येकात्मतत्वं परम्।
नानाऽऽडम्बरवारणैकमिहिरः श्रीमत्कबीरो गुरुः॥

अज्ञान दुःख का मूल है

इस संसार में केवल मनुष्य ही नहीं, किन्तु पशु पक्षी और कीट पतंग आदिक जितने प्राणी हैं, वे सब दुख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करते रहते हैं। उदाहरणार्थ मनुष्य ही को लीजिये, क्या लौकिक और क्या पारलौकिक जितने कार्य मनुष्य करता है, सब सुख ही के लिए करता है। कठिन से कठिन कार्यों में जो प्रवृत्ति होती है वह भी सुख ही के लिए। इस प्रकार सुख के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर भी सच्चा सुख नहीं मिलता, जो कुछ मिलता है वह दुःख मिश्रित सुखाभास ही है। इसका एक मात्र कारण अज्ञान है। अज्ञान ही की निवृत्ति के लिये हमारे प्रातः स्मरणीय ऋषि और महर्षियों ने वैदिक ज्ञान रूपी ज्योति को संसार में फैलाया। तथा नाना पुराण और स्मृतियों के द्वारा वैदिक अर्थ का उपबृंहण (वृद्धि) किया। अनन्तर नाना दर्शनों का निर्माण अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए ही किया गया।

---

*"पुरिलुङ् चास्मे" इतिसूत्रेण भूतार्थे लट्।

नाना आचार्यों ने अबोधनिवृत्ति के लिए ही नाना मत-मतान्तरों का प्रचार करके परस्पर विलक्षण अनन्तानन्त साधनों के अनुष्ठान का उपदेश दिया। संक्षेपतः आस्तिक और नास्तिक, वाम मार्ग और दक्षिण मार्ग नाना जप और कठिनातिकठिन तप आदिक अज्ञान ही की निवृत्ति के लिये विनिर्मित हुए। सबके सब मत अज्ञान निवृत्ति के द्वारा परम सुख (मुक्ति) प्राप्त करा देने का पूर्ण विश्वास दिलाते हैं। एकोक्त्या (संक्षेपतः) सारे संसार के मत मतान्तर पर-पक्ष खंडन पूर्वक स्वपक्ष का स्थापन करते हुए अहमहमिकया (परस्पर प्रतियोगिता से) मुक्ति दिलाने के लिये एक दूसरे के आगे बढ़ रहे हैं। ऐसी स्थिति में विचारशील पुरुष का यह परम कर्तव्य है कि वह प्रवृत्ति से पूर्व इस बात को जानने का पूर्ण प्रयत्न करे कि कौन मत और पथ तथा कौन साधन परम पद की प्राप्तिमें उपयुक्त है। क्योंकि "सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदाम्पदम्। वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुण लुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥" भारवि के इस कथनानुसार अन्ध श्रद्धा वाले अविवेकी अभीष्ट से वंचित रहकर भारी संकट में पड़ जाते हैं।

जिस प्रकार रोग और उसका कारण तथा रोग-निवृत्ति और उसका उपाय, इन चारों बातों को अच्छी तरह जाने बिना रोग की निवृत्ति पूरी तरह नहीं हो सकती है, इसी प्रकार दुःख और उसका कारण तथा उसकी निवृत्ति और उसका उपाय, इन चारों को यथावत् जाने बिना मनुष्य अपार संसार-सागर से कदापि पार नहीं हो सकता है। यही एक भारी त्रुटि है जिसके कारण मुक्ति के लिए किए हुए अनेक कठिनातिकठिन साधन भी वारि-मथन के समान निष्फल हो जाते हैं। क्योंकि "विचारेण विना सम्यग्ज्ञानं नोत्पद्यते क्वचित्। तस्माद्विचारः कर्तव्यो ज्ञान सिद्ध्यर्थमात्मनः।" [अर्थात् चैतन्य आत्मा का ज्ञान यथार्थ विचार के बिना नहीं उत्पन्न होता है। इस कारण ज्ञान की प्राप्ति के लिए आत्म-विचार करना आवश्यक है।]

आत्म-विचार का स्वरूप

उक्त विचार का स्वरूप यह है कि "कोहं कथमिदं जातं को वै कर्त्तास्य विद्यते। उपादानं किमस्तीह विचारः सोऽयमीदृशः" [अर्थात् मैं कौन हूँ, यह जगत् कैसे हुआ, इसका कर्त्ता कौन है, और विश्व का उपादानकारण कौन है ? वह विचार इस प्रकार है] इस प्रकार के विचार का नाम परीक्षा है जिसका महर्षि चरक ने यह निर्वचन किया है कि "एषा परीक्षा नास्त्यन्या यया सर्वं परीक्ष्यते। परीक्ष्यं सदसच्चैव तया चास्ति पुनर्भवः ॥" (जिससे सब परखे जाते हैं यही परीक्षा है, कोई अन्य वस्तु नहीं है। और परीक्षा करने योग्य आत्मा और अनात्मा दोही वस्तु हैं, और परीक्षा ही के द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि होती है) भाव यह है कि "न परीक्षा परीक्ष्यं न कर्त्ता करणं न च।" (अर्थात् नास्तिकों के मत में परीक्षा के योग्य पदार्थ कर्त्ता और करण नहीं माने जाते हैं) इससे यह वार्ता निर्विवाद है कि जिनके मत में परीक्षा (पारख) नहीं है, वे नास्तिक हैं। क्योंकि पुनर्जन्म की सिद्धि परीक्षा ही पर निर्भर है। विपरीत इससे जिनके मत में परीक्षा है वे आस्तिक हैं। इस बात को मनु भगवान ने भी स्पष्ट ही कह दिया है कि-"योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्विजः। स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः।" (अर्थात् जो केवल शुष्कतर्क के आश्रय से श्रुति और स्मृतियों का तिरस्कार करता है उस निन्दक द्विज को साधु जन सभ्य समाज से अलग कर दें; क्योंकि वेद की निन्दा करनेवाला अर्थात् वैदिक सिद्धान्त को न माननेवाला नास्तिक है। वस्तुतः परीक्षा ही द्वारा धर्म सत्य पद से विभूषित होता है। मनु भगवान् ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्रविरोधिना, यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।" इस प्रसंग में कविवर कालिदास जी का यह वचन अनुपम है कि—"तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः। हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा।"

सद्धर्म की इस परीक्षक-कोटि में हमारे स्वनाम-धन्य करुणा-वरुणालय सन्त-महात्माओं की गणना है। जिनकी महान् आत्मा और उदार हृदय हो वे ही महात्मा हैं। "अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्। उदार-चरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥" यह हमारा आत्मीय है, और यह दूसरा है, यह समझना संकुचित-हृदय के मनुष्यों का काम है। उदार हृदय वाले वे हैं जो कि सारी पृथ्वी को अपना कुटुम्ब समझते हैं "गुणाः पूजास्थानं गुणिषु नच लिगं नच वयः" गुणियों की पूजा उनके गुणों ही के कारण हुआ करती है; वेष और अवस्था के कारण नहीं। समय-समय पर निःस्वार्थ भाव से किये हुए महात्माओं के अनन्तानन्त उपकारों से संसार कदापि अनृण नहीं हो सकता। निर्बलों के ऊपर किये हुए प्रबल शक्तिशाली के अत्याचारों को निर्मूल करने के लिए अदम्य उत्साह से निरन्तर भगीरथ-प्रयत्न करते रहना, महात्माओं का ही काम है। महात्माओं ने केवल अपनी आत्मिक शक्ति के बल से बड़े दुर्दान्त अत्याचारियों के छक्के छुड़ा दिये थे। ईश्वरीय ज्ञान-गंगा जो कि हमारे पूर्वज महर्षियों के घोरातिघोर तपोऽनुष्ठान से सर्व-साधारण के कल्याणार्थ अवतीर्ण हुई है, उसकी अविच्छिन्न धारा को रोककर सर्व साधारण को उसके उपयोग से वंचित करनेवाले संकुचित हृदय के मनुष्यों के विरुद्ध आवाज उठाना यह महात्माओं का ही काम है। लोक कल्याण के लिए सदैव विष पीने के लिए उद्यत रहना और नाना यातना (कसनी) तथा सूली पर चढ़ाये जाने पर भी परमार्थ-पथ से विचलित न होना महात्माओं ही का काम है। संसार में ऐसी कौन शक्ति है जो कि महात्माओं को अपने लक्ष्य से हटा सके। ऐसे ही महात्माओं की गणना में प्रातः स्मरणीय परम-पूज्य सद्गुरु कबीर साहब का नाम है। जिनके वचनामृत से ज्ञान-सागर यह 'बीजक ग्रन्थ' भरा हुआ है; जिसके पान करने का यह शुभ अवसर प्राप्त हुआ है।

कबीर साहब के अगाध ज्ञान-रत्नाकर का परिमित शब्दों में वर्णन करने के लिये मेरे जैसे साधारण बुद्धि वाले का धृष्टता पूर्वक उद्यत हो जाना ठीक

वैसा ही है, जैसा कि कविकुल-चूड़ामणि कालिदास जी ने अपने विषय में कहा है कि "मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् । प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥" [अर्थात् स्वल्प बुद्धि होते हुए भी महाकवि सुलभ यश को चाहनेवाला मैं (कालिदास) ठीक उसी प्रकार हँसा जाऊँगा, जिस तरह लम्बे आदमियों से तोड़े जाने वाले फल को तोड़ने के लिए हाथ उठानेवाला बावना आदमी हँसा जाता है] । मैं अपने बुद्धि-दारिद्र्यादिकों को जानता हुआ भी इस सूक्ति के अवलम्बन से इस कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ । "विरोधि वचसो मूकान् वागीशानपि कुर्वते । जडानप्यनुलोमार्थान् प्रवाचः कृतिनां गिरः" ॥ [अर्थात् महात्मापुरुषों की वाणी की यह महिमा है कि उससे प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार कथन करनेवाला जड़मति भी अपने वक्तव्य में सफलता प्राप्त कर लेता है । और उनके वचनों से विरुद्ध सिद्धान्त के प्रतिपादन करने वाले बृहस्पति को भी अन्ततः मौन ही होना पड़ता है]

परिचय

कबीर साहब का परिचय कराना मानों सूर्य को दीपक से दिखाना है। आप दीनबन्धु और पतित पावन थे। परिणाम हितकारी तथा आपाततः विरस भासने वाले आपके वचन आडम्बर-प्रिय तथा मिथ्या अहंकारियों के अहंकार रूपी ज्वर को दूर भगाने के लिए शतशः अनुभूत कड़वे काढ़े के समान हैं। जीर्ण शीर्ण अनादि [आर्य सनातन] सत्यधर्मरूपी मंदिर के जीर्णोद्धार में ही आपने अपना सारा जीवन समय समर्पित किया था। दलित जातियों के साथ सहानुभूति रखने के लिए—जो कि त्रैवर्णिकों (द्विजातियों) की समुन्नति मे परम सहायक है—आप उच्च जातिवालों को बराबर सचेत करते रहे। अत्याचारियों के अत्याचार का घोर विरोध करने के कारण दुरात्माओं के द्वारा दी हुई कठिनातिकठिन यातनाओं को आप अखिन्न-चित्त से बराबर सहते रहे। दया की तो मानों आप मूर्त्ति ही

थे। इसी कारण धर्म की आड़ लेकर हिंसा करनेवाले धर्मध्वजी हिन्दू और मुसलमानों को आप समुचित कड़े शब्दों से फटकारा करते थे। जैसे कि "माटी के करि देवी देवा काटि काटि जिव देइया (जी)। जो तुहरा है साँचादेवा खेत चरत क्यों न लेइया (जी) ॥" और "हिन्दु कि दया मेहर तुरकान की दोनों घट से त्यागी। ये हलाल वै झटके मारै आग दोनों घर लागी ॥ ऐरे मूरख ! नादाना तैने हरदम रामहि ना जाना। बरबस आनि के गाय पछारिन गला काटि जिव आप लिया। ज़ीते से मुरदा कर डारा तिसको कहत हलाल हुआ ॥ तथा, धरम कथे जहाँ जीव बधे तहाँ अकरम करे मोरे भाई। जो तुहरा को ब्राह्मन कहिये तो काको कहिये कसाई ॥" इत्यादि।

लक्ष्य

"केवल ज्ञान कबीर का बिरले जन जाना" इसके अनुसार कबीर साहब ने अन्तिम लक्ष्य कैवल्य पद (आत्यन्तिक मुक्ति) प्राप्त कराने के उद्देश्य से उत्तम अधिकारियों को सम्बोधित करके बहुधा आत्मदृष्टि से तत्वोपदेश दिया है। और पद की प्राप्ति में प्रतिबन्धकी भूत नाना प्रपंच और पाखंडों का व्यक्तरूपक से (खुले शब्दों में) खंडन करते हुए हिन्दू और मुसलमानों के परम्परा मुक्ति के साधक तीर्थ और व्रत, रोजा, और नमाज, वेद और कितेब के सदुपयोग के लिए बार बार उपदेश दिया है। कबीर साहब की दृष्टि से वह धर्म धर्म नहीं है, जो चेतनात्मा के प्रतिकूल है। आत्मयाजिता और आत्म-तुष्टि ही इनके मत से सच्ची भक्ति और उपासना है। उनका यह वचन है कि "जीव दया अरु आतम पूजा। इन्ह सम देव अवर नहीं दूजा"। समय और पात्र की दृष्टि से नरम और गरम सभी प्रकार के शब्दों से उक्त तत्व के अनुसरण करने के लिए आपने बराबर शिक्षा दी है जैसे कि "दादा भाई बाप के लेखे चरणन होइ हौं बन्दा। अब की पुरिया जो निरुवारे सो जन सदा अनन्दा ॥

"किते मनाऊँ पाँव परि, किते मनाऊँ रोय। हिन्दू पूजें देवता तुरक ना काहू होय ॥" इत्यादि।

निर्मूल शंका

ऐसी स्थिति होते हुए भी कबीर साहब के विषय में यह शंका करना किसी प्रकार समीचीन नहीं है कि—उनने किसी मत विशेष की स्थापना के लिए वैदिक सिद्धान्त और उसके प्रवर्तक एवं पालक ऋषि और महर्षि तथा अवतारादिकों के विषय में निष्कारण आक्रमण किया है। यद्यपि कबीर साहब ने मुक्ति का साक्षात् साधन निर्विशेष आत्मतत्व-ज्ञान को ही माना है। जैसा कि उनका वचन है "अमरलोक फल लावै चाव। कहँहिं कबीर बूझै सो पाव ॥" तथापि परम्परा मुक्ति के साधक सात्विक पूजा तथा अवतारोपासना, योग, जप, तप, संयम, तीर्थ, व्रत दानादिकों की व्यर्थता उन्होने कहीं पर नहीं लिखी है। किन्तु धर्मध्वजी पाखंडियों के द्वारा की हुई इन्हीं की दुरुपयोगिता का ही खंडन किया गया है। जैसे कि उनके वचन हैं कि—"राम क्रिस्न की छोड़िन्हि आसा। पढ़ि गुनि भये कीतम के दासा ॥" बी. पृ. २५४। अवतारोपसना के विषय में आपके ये विचार हैं। "दसरथ सुत तिहुँ लोकहिं जाना। रामनाम का मरम है आना ॥ जिहि जिव जानि परा जस लेखा। रजु का कहै उरग सम पेखा ॥ जदपी फल उत्तिम गुनु जाना। हरि छोड़ि मन मुकुती उनमाना ॥ हरि अधार जस मीनहिं नीरा। अवर जतन किछु कहँहिं कबीरा ॥" बी. पृ. २३६। तथा "सन्तो ! आवै जाय सो माया। है प्रतिपाल काल नहिं वाके, ना कहुँ गया न आया। दस अवतार ईसरी माया करता करि जिन पूजा। कहँहिं कबीर सुनहुहो सन्तो ! उपजै खपै सो दूजा ॥ बी. पृ. १०७। तथा "झूठे जनि पतियाउ हो, सुनु सन्त सुजाना ! तेरे घट ही में ठग-पूर है मति खोहु अपाना ॥ झूठे का मंडान है धरती असमाना। दसहुँ-दिसा बाकी फन्द है, जिव घेरे आना। जोग, जाप, तप, संजमा, तीरथ

व्रत दाना। नौधा वेद किनेब है झूठे का बाना ॥ काहु के वचनहिं फुरे काहू करमाती। मान बड़ाई ले रहे हिन्दू तुरुक जाती। कहँहिं कबीर कासों कहौं, सकलो जग अन्धा सांचा सों भागा फिरै, झूठे का बन्दा ॥ इत्यादि बी. पृ. २४२। तीर्थों के विषय में आप के ये विचार हैं "तीरथ गये तीन जन, चित-चंचलमन-चोर। एकौ पाप न काटिया, लादिन मन दस और" ॥ इसके आगे की यह साखी है "तीरथ गये ते बहिमुये, जूड़े पानि नहाय। कहँहिं कबीर सन्तो सुनो, राच्छस ह्वै पछिताय ॥ तीरथ भई विष बेलरी, रही जुगन जुग छाय। कबिरन * मूल निकंदिया, कौन हलाहल खाय ॥" बी० पृ० ३३५।

ईश्वर या खुदा को एकदेशी मानने वाले पाप कर्म से उतना नहीं डर सकते, जितना कि उसको सर्व व्यापक समझने वाले डर सकते हैं, इसी कारण से ईश्वर को सर्वव्यापक बताते हुए एक देशी समझने वालों के भ्रम को दूर करने के लिए यह कहा है कि "जो खुदाय महजीद बसतु है, और मुलुक केहि केरा। तीरथ मुरुत रामनिवासी दुहु में किनहुँ न हेरा ॥ पूरुब दिसा हरी को बासा, पच्छिम अलह मुकामा। दिल में खोजु दिलहि में खोजो यहीं करीमा रामा ॥" अतः इस वचन पर यह आपत्ति लगाना कि यह उपासना स्थलों पर निष्कारण आक्रमण है, कहाँ तक संगत है। यदि हिंसाकारी हिन्दू और मुसलमान अपने अपने उपासना-गृहों की तरह निरपराध पशुओं के हृदयों को भी राम और खुदा के सच्चे मंदिर और मस्जिद समझते तो उनके गले पर तलवार और छूरी चलाने का दुःसाहस वे कभी नही करते। इसी अभिप्राय से सद्गुरु ने

---

* सूचना—यहाँ पर कबिरन शब्द इस (बीजक) ग्रन्थ के संकेत से अज्ञानियों का वाचक है, कबीर-मतानुयायियों का नहीं; जैसा कि समालोचना-कर्त्ताओं ने समझ लिया है। यह आगे 'बीजक संकेत' प्रकरण में लिख जायगा।

यह बार बार कहा है कि 'ऐरे मुरुख नादाना ! तैंने हर दम रामहिं ना जाना" । तथा, "घटघट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख !"।*

सिद्धान्त

कबीर साहब ने निर्विशेष (निरुपाधिक) आत्मतत्व शुद्ध चेतन का तात्पर्यतः इंगन (सूचन) किया है। क्योंकि 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति-र्जातिर्द्रव्यं गुणः क्रियाश्चेति' (महाभाष्य) अर्थात् जाति द्रव्य (रूढ़ि) गुण और क्रिया इन चारों को आश्रयण करके शब्द किसी अर्थ जाति को कहने में समर्थ होता है। इस नियम के अनुसार उक्त निर्विशेष—तत्व में शब्द मुख्य वृत्ति से प्रवृत्त नहीं हो सकता है "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" उस तत्व को कहने में असमर्थ वाणी मन सहित उपरत हो जाती है। "अवचनेनाह मौनमेवोत्तरं ददौ" इत्यादिक वचन भी इसी रहस्य को लिए हुए हैं। यदि उस तत्व के विषय में कुछ भी न कहा जाय तो अज्ञानियों को बोध किस तरह हो सकता है; अतः बोध की सिद्धि के लिए वेद ने उस तत्व का अभिधान अतद्व्यावृत्ति रूप से किया है। अर्थात् वह तत्व ऐसा (जैसा कि अज्ञानी लोग समझ रहे हैं वैसा) नहीं है। इस बात को पुष्पदन्ताचार्य ने भी कहा है कि "अतद्व्यावृत्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि। स कस्य स्तोतव्यः कति-विध-गुणः कस्य विषयः। पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः॥ इस प्रसंग में कबीर साहब ने भी कहा है कि "वेदौ नकल कहै जो जाने। जो समुझै भलो न माने॥ इत्यादि। निस्तत्व के परिचायक सद्गुरु के ये वचन हैं कि—

---

* सूचना—विधर्मियों के लेखों के आधार से जिन शेखतकी और ऊँजी के पीर आदिकों को कबीर साहब के गुरु बताने का दुःसाहस कतिपय समालोचक कर रहे हैं, उनको सम्बोधन करके कबीर साहब ने उक्त वचन कहे हैं। इन वचनों से किसकी शिष्यता और किसकी गुरुता प्रकट होती है इसका विचार विज्ञ पाठक स्वयं कर लें।

शब्द

पंडित ! मिथ्या करहु विचारा, न वहाँ सिस्टि न सिरजन हारा।
थूल (अ) स्थूल पवन नहिं पावक, रवि ससि धरनि न नीरा॥
जोति सरूप काल नहिं उहवाँ, वचन न आहि सरीरा।
करम धरम किछुवो नहि उहवाँ, न वहँ मंत्र न पूजा॥
संजम सहित भाव नहिं उहवाँ, सो धौं एक कि दूजा।
गोरख राम एकौं नहिं उहवाँ, न वहँ वेद विचारा॥
हरिहर ब्रह्मा नहिं सिव सक्ति, न वहँ तिरथ अचारा।
माय बाप गुरु जाके नाहीं, सो (धौं) दूजा कि अकेला॥
कहँहि कबीर जो अबकी बूझै, सोइ गुरु हम चेला।

तथा— बी. श. ४३ पृ १४६।

पंडित ! देखहु हृदय विचारी, को पुरुषा को नारी?
सहज समाना घट घट बोलै, वाके चरित अनूपा।
वाको नाम काह कहि लीजै ?, (ना) वाके बरन न रूपा॥
तैं मैं काह करसि नल बौरे ! का तेरा का मेरा।
राम खोदाय सकति सिव एकै, कहुधौं काहि निहोरा॥
बेद पुरान कोरान कितेवा, नाना भाँति बखाना।
हिन्दू तुरुक जइनि औ जोगी, येकल काहु न जाना॥
छव दरसन महँ जो परवाना, तासु नाम मन माना।
कहँहिं कबीर हमहीं पै बौरे, ई सभ खलक सयाना॥

बी. श. ४८ पृ. १५५

एक ही तत्व के अनेक नाम और गुणादिकों का वर्णन भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के लोगों ने किया है, जैसा कि इस पद्य से बोधित होता है कि "यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो। बौद्धा बुद्ध इति प्रमाण-पटवः कर्तेति नैयायिकाः॥ अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः

सोऽयं वो विदधातु मोक्षपदवीं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥" परस्पर नाम रूपादि में औपाधिक भेद, तथा सरलता कठिनता प्रयुक्त साधनों में भेद होने पर भी सबही ज्ञानियों का लक्ष्य एकही रहा करता है। जैसा कि कबीर साहब ने कहा है कि "समझे की मति एक है जिन समझा सब ठौर। कहहिँ कबीर ये बीच के बलकहि और की और।" "अनाथ सुज्ञानी कोटि को निश्चय निजमति एक। एक अज्ञानी के हिये, बरतत मतो अनेक।" उसी 'तत्व' का श्रुतियों ने अन्तर्यामी, अन्तर्ज्योति, आत्मज्योति, अक्षर, आत्मा आदिक नाना अभिधानों से वर्णन किया है। जैसा कि "य आत्मा अपहत पाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" (छान्दोग्य उपनिषद)। जो आत्मा पाप, मृत्यु, क्षुधा और पिपासा से रहित है और सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, उसी को ढूँढ़ कर जानना चाहिये। "यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरोयं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणिभूतान्यन्तरोयमत्येषत आत्मान्तर्याम्यमृतः" (वृहदारण्यक अन्तर्यामि ब्राह्मण)। सबों के अन्तर वर्तमान होते हुए भी जिसको प्राणी नहीं जानते हैं, और जिसके सब प्राणी शरीर हैं, क्योंकि वह (अन्तर्यामी) भीतर रहकर सबों को स्फूर्ति देता है; वही अविनाशी आत्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है। ["अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽस्ति विज्ञातैषत आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोन्यदार्तम्।"] इस अन्तर्यामी को न कोई देख सकता है न सुन सकता है न मन और बुद्धि से जान सकता है; क्योंकि इसके अतिरिक्त देखने वाला सुनने वाला जानने वाला कोई नहीं है। इसलिए यही आत्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है इससे भिन्न (ईश्वरादिक) मिथ्या हैं। "सहोवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वम-दीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसंगमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणमसुखममात्रमनन्तरमवाह्यं न

तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ।" (वृहदारण्यक, अक्षरब्राह्मण) । याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि हे गार्गी ! तुम्हारा पूछा हुआ अक्षर अविनाशी आत्मा यही है, जिसका कि आगे वर्णन किया जायगा । वह स्थूलादि परिमाण लोहितादि गुण आकाशादितत्व तथा चक्षु आदिक इन्द्रियों से भिन्न है । वह अन्दर है न बाहर और न उसको कोई खाता है न वह किसी को खाता है । अर्थात् भोग्य और भोक्ता दोनों से रहित है ।

"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः ।" (हे गार्गी ! इसी अक्षर के अधीन निश्चित रूप से सूर्य और चन्द्रमा रहते हैं ।) "अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य ! चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति ।" (वृहदारण्यक कूर्च ब्राह्मण) । [जनक महाराज पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य जी ! सूर्य और चन्द्रमा के अस्त होने पर अग्नि के बुझ जाने पर और किसी मार्ग दर्शक शब्द के न आने पर भी (घोरांधकार में) यह मनुष्य किसके प्रकाश से व्यवहार करता है ? मुनि कहते हैं—ऐसी दशा इसका प्रकाश कर्त्ता आत्मा ही है । (अपने) आत्मा ही के प्रकाश से यह बैठता है, जाता है, सब कामो को करता है, और लौट कर चला आता है । ["कतम आत्मेति योऽय विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः ।"] वह आत्मा पुरुष कौन है ? उत्तर—जो यह ज्ञान रूप से इन्द्रिय और प्राणों के समीप रहता हुआ हृदयस्थ बुद्धि में स्वयं प्रकाश रूप से वर्तमान है । इसी निरुपाधिक स्वयं ज्योति का सद्गुरु ने भी सबसे प्रथम "अन्तर जोति शब्द एक नारी" इत्यादि रमैनी से बोधन कराया है । यद्यपि आत्मा सर्व व्यापक है, तथापि हृदय में उसकी उपलब्धि होने के कारण वह 'अन्तर्ज्योति' कहा गया है । यही आत्मा कार्य कारण संघात का द्रष्टा (साक्षी) है, तथा अविनाशी होने के कारण सुषुप्ति का भी साक्षी है । "नहि द्रष्टुर्दृष्टे

र्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। नतु तद् द्वितीयमस्ति ततोन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्।"

माया की रचना

जिस प्रकार आत्मा अनादि है, उसी प्रकार माया भी अनादि है। दोनों ही अनादि होते हुए भी चेतनात्मा अनादि अनन्त हैं। और माया अनादि सान्त है। "तम आसीत्तमसा गूढ मग्रे" इत्यादि वचनों से माया का अभिधान श्रुति ने किया है। कबीर साहब ने भी माया की अनादिता का वर्णन "तहिया गुपुत थूल नहि काया। ताके न सोग ताकि पै माया॥ तथा, नारि एक संसारहि आई। माय न वाके बापहिं जाई॥ गोड़ न मूँड न प्राण अधारा। ता महँ भभरि रहा संसारा॥" इत्यादि पद्यों से किया है। माया चेतन की सत्ता से कार्य कारण रूप संघात की जननी होने के कारण "सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" इसके अनुसार प्रकृति भी कही जाती है। और यही माया सत्वगुण की अप्रधानता से अविद्या रूप को धारण कर लेती है। जैसा कि विद्यारण्य स्वामी का कथन है कि "चिदानन्दमयब्रह्म प्रतिबिम्बसमन्विता। तमोरजःसत्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा। सत्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते। माया बिम्बंवशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ॥" एकही तत्व माया रूप उपाधि के कारण ईश्वर और अविद्या उपाधि से जीव, कहा जाता है। चेतनता में दोनों की समानता होते हुए भी उपाधि की शुद्धता और अशुद्धता के कारण सर्वज्ञता और अल्पज्ञता आदिक गुणों का महान् अन्तर हो गया है। इस प्रसंग में सद्गुरु ने भी कहा है कि "नारी एक पुरुष दोय जाया, बूझहु पंडित ज्ञानी!" और अविद्या का वर्णन जुलाहिन के रूप से किया है, जैसे कि "खुर खुर खुर खुर चाले नार। बैठि जुलाहिन पलथी मार॥"

इसी माया से रज सत्व और तमोगुण की प्रधानता के कारण ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजी की सृष्टि हुई है। उपाधि दृष्टि से भेद होते हुए

भी वस्तुतः ये सब उस 'तत्व' से भिन्न नहीं है, जैसा कि कैवल्य श्रुति का यह वचन है कि "स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रश्चेति" सद्गुरु ने भी कहा है कि "रजगुन ब्रह्मा तमगुन संकर सत्त गुना हरि सोई। कहँहिं कबीर राम रमि रहिये हिन्दू तुरुक न कोई" इसी प्रकार जीवों के भोगोन्मुख कर्मों के अनुसार बार-बार सृष्टि और प्रलय हुआ करता है। माया के अघटित-घटना-पटीयसी पने के कारण चिदाकाश में किसी प्रकार का शंका-पंक नहीं लग सकता है। बीजांकुरन्याय से पूर्व २ कर्मों से उत्तर २ शरीरादिकों का निर्माण, तथा नाना शरीरों से नाना जन्म-दायक कर्म-समूह होता ही रहता है। जिसके कारण सात्विक राजस और तामस कर्मों के फलानुरूप देव मानव और दनुजादि शरीरों को धारण करता हुआ यह जीवात्मा चौरासी लाख योनियों में भ्रमण किया करता है।

बन्धन और उसकी निवृत्ति

इसके बन्धन का एक मात्र कारण अध्यास है जिसको कि जड़ चेतन की ग्रन्थि भी कहते हैं। बात यह है कि अज्ञान-वश जीवात्मा अपने (चेतन के) धर्म आनन्दादिकों को जड़ के [विषयों के] धर्म मान लेता है। अर्थात् यह सुख भोग मुझको विषयों से मिला है, ऐसा जान लेता है। और जड़ के धर्म वर्ण, आश्रम, अवस्था, आधि, व्याधियों को अपने (चेतन के) धर्म मान लेता है। इसलिये परमानन्द स्वरूप होता हुआ भी अपार दुःख सागर में डूबा रहता है। इसके दुःख का एक मात्र कारण अज्ञानजन्य भ्रम है। जैसा कि सद्गुरु ने कहा है कि—

अपन पौ आपुही बिसरो।
जैसे सुनहा काच-मंदिल में भरमतें भूँसि मरो।
जौं केहरि बपु निरखि कूप-जल, प्रतिमा देखि परो॥
वैसेही गज फटिक-सिला पर, दसनन्हि आनिअरो।
मरकट मूठि स्वाद नहिं बिहुरे, घर घर रटत फिरो॥
कहँहिं कबिर ललनी के सुगना, तोहि कौने पकरो।

जिस प्रकार प्रकाश के अतिरिक्त अन्धकार की निवृत्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती है इसी प्रकार अपने शुद्धानन्द स्वरूप के साक्षात् ज्ञान के बिना अन्यान्य उपायों से अज्ञान का भी निवृत्ति नहीं हो सकती है। जैसा कि श्रुत का वचन है कि "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" [अपने शुद्ध स्वरूप को जानने से ही जीवात्मा मृत्यु रहित हो सकता है; क्योंकि मुक्ति का मार्ग दूसरा नही है] इसी बात को सद्गुरु ने भी कहा है कि "आपु आपु चेते नहीं (औ) कहौं तो रुसवा होय। कहँहि कबीर जो सपने जागे, अस्ति निरास्ति न होय"। तथा "सुख बिसराय मुकुति कहाँ पावै। परिहरि साँच झूँठ निज धावै॥" इत्यादि। अपरोक्ष भ्रम की निवृत्ति के लिये अपरोक्ष स्वरूप ज्ञान का होना आवश्यक है, तथा निरुपाधिक कैवल्य पद की प्राप्ति के लिए निरुपाधिक कैवल्य ज्ञान ही उपयोगी हो सकता है, सोपाधिक ज्ञान नहीं, क्योंकि सोपाधिक ज्ञान अयथार्थ है। शुद्ध चेतन निरुपाधिक है। अतः निरुपाधिक ज्ञान से ही उसका साक्षात्कार हो सकता है। जो वस्तु जैसी हो उसका ठीक वैसा ही ज्ञान होना यथार्थ कहलाता है। जैसा यह लक्षण है कि "तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं यथार्थम्" इससे जो विपरीत ज्ञान है वह अयथार्थ [मिथ्या] ज्ञान कहा जाता है। फलतः निरुपाधिक (केवल) ज्ञान से ही साक्षात् मुक्ति मिल सकती है सोपाधिक (विशिष्ट) ज्ञान से नहीं; इस विषय में श्रुति-प्रमाण ऊपर दिया जा चुका है। इसी अभिप्राय से कबीर साहब ने तटस्थ ईश्वरवादी, अर्थात् अपने स्वरूप से भिन्न लोक-विशेष निवासी ईश्वर को मानने वाले, परोक्ष-ज्ञान वादी, गुणोपाधि से भिन्न नाना देवों की उपासना करने वाले तथा अनात्म भौतिक-ज्योति अनहद शब्दादिकों की उपासना से मुक्ति मानने वालों का खंडन इस ग्रन्थ में कई स्थलों पर किया है। तत्वदृष्टि से कबीर साहब का यह कथन श्रुति से अनुमोदित है। अतः इस कथन को देवादिकों के प्रति निष्कारण आक्रमण ठहराना समालोचना कर्ताओं की अज्ञानिता है। उदाहरणार्थ

कुछ वचन यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। "नियरे न खोजै बतावै दूरि। चहुँदिसि बागुरि रहलि पूरि।"

साम्प्रदायिक नाम

इस प्रसंग में यह बात जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि इस ग्रन्थ में कहे हुए राम, हरि, शार्ङ्गपाणि, यादव, राय, गोपाल आदिक साम्प्रदायिक नाम तथा साहब, राउर, खसम आदिक नाम उक्त प्रत्यक् शुद्ध चेतन को बोधन कराने के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। लोक विशेष निवासी तटस्थ ईश्वर और सादि [अवतार] राम के विषय में नहीं क्योंकि अपने राम और गोपाल को उन्होंने साक्षात् सर्वत्र वर्तमान बताया है। यह वार्ता इन पद्यों से स्पष्ट है। "दसरथ सुत तिहुँलोक बखाना। रामनाम का मरम है आना॥ गये राम और गये लछमना। तिरिविधि रहौ सभनि मां बरतौं नाम मोर रमुराई हो। बिनुगोपाल ठौर नहि कतहूँ नरक जात धौं काहे। हृदया बसे तेहि राम न जाना" इत्यादि।

अपरोक्षार्थ प्रधान उपदेश

उक्त तत्व के बोध के लिये दिये हुए कबीर गुरु के उपदेश में इतर उपदेशों से यह विलक्षणता है कि वह अपरोक्षार्थ प्रधान है, जैसे "सो तो कहिये ऐस अबूझ। खसम अछत ढिग नाही सूझ॥ हृदया बसे तेहि राम न जाना। पूरब दिसा हस गति होई। है समीप सोंघ बूझै कोई॥ एरे मूरुख नादाना तैंने हरदम रामहि ना जाना॥" इत्यादि। इसी अस्वारस्य से "तत्वमसी इनके उपदेशा" इस स्थल पर बार बार पराभिमत सूचक 'इनके' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस रहस्य को न जानने वाले कबीर साहब के सिद्धान्त में संदिग्ध चित्त वाले कतिपय आग्रही पुरुष उक्त रमैनी के शब्दों को तोड़ मरोड़ कर स्वसम्प्रदाय विरुद्ध स्वाभिप्रेत की सिद्धि के लिये निष्फल प्रयत्न करते हुए कालिदास जी की इस सूक्ति को

चरितार्थ करते हैं। "केवा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः" [व्यर्थ अकांड तांडव करने वाले अवश्य ही पाराश्त होते हैं]।

निरुपाधिक तत्व

इस ग्रन्थ में आदि से अन्त तक सोपाधिक का खंडन और निरुपाधिक तत्व का मंडन साद्यन्त वर्तमान है। अतः तत्व की ओर दृष्टि न देकर केवल रामादिक नामों को समानता से कबीर साहब के विषय में यह स्थिर करना कि "कहीं पर तो भक्ति के आवेश में आकर उन्होंने अवतारों का प्रतिपादन किया है, जैसे कि '—कहैं कबीर एक राम भजे बिनु बाँधे जमपुर जासी।' इत्यादि। और कहीं पर अवतारों का खंडन किया है। जैसे कि 'गये राम औ गये लछमना' तथा 'जाहि राम को करता कहिये तिनहुँ को काल न राखा, इत्यादि। अतः वे असंयत भाषी (कभी कुछ और कभी कुछ कहने वाले) थे।' अपनी तुच्छ बुद्धि पर पश्चात्ताप न करके एक महाज्ञानी महापुरुष और महात्मा के विषय में इस प्रकार विष उगलना समालोचकों की हृदयहीनता और बुद्धि की दुर्बलता का परिचायक है। इस प्रसंग में विद्वज्जन-वन्दिता सीता की यह उक्ति स्मरण हो आती है—'विपुलहृदयैक-वेद्ये, खिद्यति शास्त्रेन मौख्यें स्वे। प्रायः कंचुकिकारं निन्दति शुष्कस्तनी नारी।' [जिस प्रकार सूखे स्तन वाली स्त्री मूर्खतावश अपने स्तनों की दशा को न समझ कर चोली बनाने वाले बेचारे दर्जी की बराबर निन्दा किया करती है, इसी प्रकार शाखा-चक्रमण करने वाले मूर्ख लोग उदार हृदय वाले महापंडितों से जानने योग्य शास्त्र को न समझने के कारण उस पर नाना प्रकार के मिथ्यादोषारोपण किया करते हैं। परन्तु अपनी बुद्धि की तुच्छता का वे कभी विचार नहीं करते। कबीर साहब वैष्णव सम्प्रदाय के परमोद्धारक परमपूज्य श्रीयुत स्वामी रामानन्द जी महाराज से दीक्षित हुए थे। अतः वैष्णव सम्प्रदाय के नाम राम, गोपाल, हरि, आदिकों का परमतत्व के स्मरण करने के लिये प्रयोग करना उनके लिये स्वाभाविक

ही था। सभी महापुरुषों ने साम्प्रदायिक नामों से ही तत्त्वोपदेश तथा तत्त्व-स्मरण किया है। यथा 'वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी, यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयःशब्दो यथार्थाक्षरः। अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः।' इत्यादि। (अर्थात् यह महादेव तुम सबों को मुक्ति प्रदान करे जो कि वेदान्त में एक पुरुष कहा जाता है। और जिसको प्राणायाम के द्वारा मुक्ति चाहने वाले ढूँढ़ा करते हैं।)

विचार की प्रधानता

यहाँ तक यह सिद्ध हुआ कि मुक्ति का साक्षात् साधन आत्मबोध (निज रूप का लखना) है। 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः।' आत्म साक्षात्कार के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। मुक्ति के साधन ज्ञान में सब ज्ञानी महात्माओं का एकमत होने पर भी ज्ञान के साधन आत्मविचार और उपासनादिकों में (सम्प्रदाय भेद और प्रकिया भेद से) मतभेद है। जिनको अपने अधिकारानुरूप जिस साधन से आत्मबोध हुआ है, उन्होंने इतर-मत-निरास पूर्वक उसी मार्ग का प्रतिपादन किया है। यदि साधनों में श्रेष्ठत्वा-श्रेष्ठत्व का विवेक किया जाय तो आत्मविचार (निज परख) की सर्व प्रधानता निर्विवाद सिद्ध है। विवेक वैराग्य और शम दमादि षट्सम्पत्ति वाले उत्तम अधिकारियों को केवल विचार (पारख) ही के द्वारा निजरूप का साक्षात् भान हो जाता है। जैसा कि श्रुति का वचन है, 'तस्मादेव विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनंपाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वंपाप्मानं तपति विपापो विरज इत्यादि।' (जिससे कि आत्मा असंग निर्विकार है, अतः सद्गुरु के उपदेश से आत्मा की असगता जान कर शान्ति (बाह्येन्द्रियों का निरोध) दान्ति (मन का निरोध) उपरति (सर्वैषणात्याग और निष्कामता) और तितिक्ष (शीतोष्णादि द्वन्द्वसहन)

को धारण करता हुआ उत्तमाधिकारी कार्य कारण संघात में ही प्रत्यक्-चेतन (शुद्ध निजरूप) को व्यापक रूप से देखता है। उक्त रूप से अपने रूप को जानने वाला सर्वपाप और शोक, मोहादि से रहित होकर जीते जी मुक्त हो जाता है।

अविचार से प्राप्त हुए बन्धन की निवृत्ति का एकमात्र उपाय विचार (पारख) है। आत्म-विचार (पारख-पद) मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन है; अतः उसके अधिकारी भी शुद्ध हृदय वाले उत्तम पुरुष ही हो सकते हैं। और जो मध्यम पुरुष देहाध्यासादिक से दूषित हृदय होने के कारण आत्मविचार रूपी कसौटी (पारख-पद) पर नहीं टिक सकते हैं; उन्हीं के लिये वेदान्त शास्त्र में, 'अहंब्रह्मास्मि' इस प्रकार प्रत्ययावृत्ति रूप निर्गुण ब्रह्म की उपासना का विधान है। जैसा कि विद्यारण्य स्वामी ने 'ध्यानदीप' में कहा है। 'अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद्वा सामग्र्या वाप्यसंभवात्। यो विचरं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम्॥, (अत्यन्त मन्द बुद्धि वाले दूषित हृदय होने के कारण आत्मविचार नहीं कर सकते हैं, अतः उनको उचित है कि वे सदैव ब्रह्म की "अहंब्रह्मास्मि२" इस प्रकार उपासना किया करें।) 'देहाद्यात्मत्वविभ्रान्तौ जाग्रत्यां न हठात्पुमान्। ब्रह्मात्मत्वेन विज्ञातुं क्षमते मन्दधीत्वतः।' (देहादि अध्यास के रहते हुए मन्दाधिकारी आत्मैकत्व ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है।) 'ब्रह्म यद्यपि शास्त्रेषु प्रत्यक्त्वे नैव वर्णितम्। महावाक्यैस्तथाप्येतद् बोधमविचारिणः'। (यद्यपि शास्त्रों में ब्रह्मात्मा का महावाक्यों से अभिन्नत्वेन वर्णन किया गया है, तथापि बिना विचार के उसका साक्षात् बोध नहीं हो सकता है।) "उपास्तीनामनुष्ठानमार्षग्रन्थेषु वर्णितम्। विचाराक्षममर्त्याश्च तच्छ्रुत्वोपासते गुरोः।" [ब्रह्मोपासना का विधान वेदान्त के ग्रन्थों में किया गया है। अतः जो मन्दाधिकारी अपनी बुद्धि की मन्दता के कारण विचार (पारख) करने में असमर्थ हैं उनको उचित है कि वे ब्रह्मज्ञानी गुरु से ब्रह्मोपदेश सुन कर उसका "अहंब्रह्मास्मि अहंब्रह्मास्मि" इस प्रकार प्रत्यावृत्तिरूप उपासना किया करें, । "अर्थोऽय-

मात्मगीतायामपि स्पष्टमुदीरितः । विचाराच्चम आत्मानमुपासीतेति संततम्"। (आत्म गीता में यह वार्ता बार बार स्पष्ट रीति से कही गयी है कि जो आत्मविचार (निज रूप का पारख) करने में असमर्थ हैं वे निर्गुण-ब्रह्मोपासना करें।) इस विषय को आगे स्पष्ट किया जायगा।

सद्गुरु का आश्रय-ग्रहण

उक्त आत्म-विचार सद्गुरु के उपदेश के बिना नहीं हो सकता है; अतः उत्तमाधिकारी को उचित है कि वह आत्मनिष्ठतत्व वेत्ता [परमपारखी] सद्गुरु की शरण में विधि पूर्वक उपस्थित होकर आत्मोपदेश से आत्म-लाभ प्राप्त करे। जैसा कि श्रुति और स्मृतियों के वचन हैं। "तद्विज्ञानार्थं स गुरु मेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।" तथा "तद्विद्धि प्राणपातेन परिप्रश्नेन सेवया, उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः।" कबीर साहब ने भी कहा है कि "सन्तो भक्ति सतोगुरु आनी। नारी एक पुरुष दोइ जाया बूझहु पंडित ज्ञानी।" उत्तम साधन होने के कारण उत्तम अधिकारियों को 'बूझहु पंडित! करहु विचारा।' 'बुझ बुझ पंडित पद निरवान' 'सन्त महन्तो! सुमिरहु सोई।' इस प्रकार सम्बोधन करके कबीर साहब ने आत्म-विचार (पारख) का ही सर्वत्र उपदेश दिया है। तथा "करु विचार विकार परिहरु तरन तारन सोय। कहँहिं कबीर भगवंत भजु नल दुतिया अवर न कोय।"

आत्म-साक्षात्कार के प्रकार-भेद

यहाँ पर इस रहस्य का उद्घाटन कर देना अत्यन्त आवश्यक है। सन्त-मत के प्रवर्तक सद्गुरु कबीर साहब का उक्त आत्म-विचार में वेदांत के प्रक्रिया ग्रन्थों से सम्वाद होते हुए भी जिस अंश में मत भेद है वह दिखाया जाता है। पूर्वोक्त रीति से सत्व शुद्धि वाले उत्तम अधिकारियों को विचार द्वारा और देहाद्यासक्ति वाले मन्दाधिकारियों को ब्रह्मोपासना

द्वारा आत्मसाक्षात् करने का विधान किया गया है। इस विषय में सद्गुरु के ये विचार हैं कि जो मन्दाधिकारी सत्वशुद्धि के अभाव से आत्मविचार नहीं कर सकता है, वह निर्गुण ब्रह्मोपासना भी न कर सकेगा, क्योंकि महावाक्य जन्य परोक्ष ज्ञान से होने वाली ब्रह्मोपासना मन की कल्पना है। इस कारण उससे हृदय के विकार अहंकारादिक की निवृत्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत महाअहंकार की उत्पत्ति होती है; जो कि वासना वाले मन्दाधिकारियों को हानि पहुँचा सकती है। वह है अपने आपको ब्रह्म मानना, यथा "यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते। तावद्विचिन्त्य पश्चाच्च तथैवाभृति धारयेत्।" [मन्दाधिकारी को उचित है कि वह तब तक 'अहंब्रह्मास्मि' इस प्रकार ब्रह्मोपासना करे, जब तक अपने हृदय में ब्रह्मत्वाभिमान (मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार) न हो जाय। इस प्रकार प्रति दिन वैसे ही करता हुआ मरण पर्यन्त ब्रह्मत्वाभिमान को हृदय में धारण किये रहें]। यहाँ पर यह विचारणीय है कि जो हृदय वासना-पंकिल है, उसमें ब्रह्मदेव की प्रतिष्ठा किस प्रकार हो सकती है; अतः विकारों को दूर करने के लिये भी विषयानित्यता और परिणामविरसता आदिक विचार ही उपयुक्त है। "कुतःशाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे स्थितः।" (उस वृक्ष में हरे हरे पत्ते किस प्रकार निकल सकते हैं जिसके खोखले में अग्नि जलती हो) इस वचन के अनुसार कामनादिक विकार वाले पुरुष पूर्वोक्त विचार के बिना ब्रह्मोपासना से आत्मसाक्षात् नहीं कर सकते, अतः विकार निवृत्ति के लिये विचार करने की अनुमति सद्गुरु ने इस प्रकार दी है॥ "करु विचार जिहि सब दुख जाई। परिहरि झूठा केर सगाई॥ भव अति गरुआ दुख करि भारी। करु जिय जतन जो देखु विचारी॥" तथा "खराखोट जिन्ह नहिं परखाया॥ चहत लाभ तिन्ह मूल गमाया।" इत्यादि

वस्तुतः यमनियमादि अनुष्ठानपूर्वक किये जाने वाले संसारानित्यादि-विचार से सत्व शुद्धि हो जाने पर ब्रह्मोपासना की आवश्यकता ही नहीं

रहती। जो विचार करने में असमर्थ हैं उनको विचार शक्ति प्राप्त करने के साधनों का अनुष्ठान करना चाहिये। फलतः ब्रह्मोपासना उक्ताधिकारियों के लिए उपयुक्त नहीं। इसी अभिप्राय से कबीर साहब ने यह कहा है कि 'मैं तोहिं जाना तैं मोहिं जाना मैं तोहि माहिं समाना। उतपति परलय एकहु न होते तब कहु कवन ब्रह्म को ध्याना॥ जोगिया ने एक ठाठ रचो है राम रहा भर पूरी। औषध मूल किछू नहिं वाके, राम सजीवन मूरी॥' तथा "बुझलीजे ब्रह्मज्ञानी। घूर घूर बरषा बरखावो परिया बूंद न पानी। चिऊंटी के पग हस्ती बाँधो छेरी बीगर खाया॥" इत्यादि। भाव यह है कि काल्पनिक ब्रह्मत्वाभिमान से क्षणिक शान्ति प्राप्त होने पर भी नाना कामनाओं की विद्यमानता से तथा ब्रह्मत्वाहंकार को स्वयं अभिमान रूप होने के कारण मन्दाधिकारियों को ब्रह्मोपासना से परमशान्ति नहीं मिल सकती है। इस बात को व्यंग्य रूप से कबीर साहब ने इस साखी में कहा है "यह मन तो शीतल भया जब उपजा ब्रह्मज्ञान। जेहि बसंदर जगजरै सो पुनि उदक समान?॥" इसका अर्थ बीजक ग्रंथ के टीकाकार काशी कबीर चौरा के महात्मा रामरहस्य साहब ने इस प्रकार किया है। "मूढ़ सबै ज्ञानी भये आपै ब्रह्म कहाय। तथा, ब्रह्म होय सीतल भये सीतल तृप्ती रूप। अनल समानी ताहि जल परे भरम तमकूप॥" (पंचग्रंथी, टकसार)। दूसरा विषम्वाद यह है कि तत्वबोध के लिये दिया हुआ कबीर साहब का उपदेश प्रत्यक्षार्थप्रधान है। 'तत्वमस्यादि' के समान [प्रत्यभिज्ञावत्] परोक्षा-परोक्षार्थोभय प्रधान नहीं है। इसी अस्वारस्य से "तत्वमसी इनके उपदेसा।" इस रमैनी में पराभिमत सूचक इनके पद का प्रयोग किया गया है।

आत्म विचार और ब्रह्मोपासना में यह भी एक अन्तर है कि विचार वस्तु के अनुरूप होता है, अतः वह कर्ता के अधीन नहीं। और ब्रह्मोपासना कर्ता के अधीन होती है; तथा ध्यान की निवृत्ति से विलीन हो जाती है। यह वार्ता वेदान्तों के ग्रंथों में स्पष्ट है। इसी अभिप्राय से सद्गुरु ने

विचार की श्रेष्ठता बताते हुए कहा है कि 'ताखी तुरकी कबहुँ न साधेउ चढ़ेउ काठ का घोरा हो।' उक्त आत्म-विचार में अतीत विषय-चिन्तन, वर्तमान विषयासक्ति तथा भावी स्वर्गादिकों की इच्छा ये तीन प्रतिबंधक होते हैं। इन्ही की निवृत्ति प्रयत्नपूर्वक करना अत्यन्त आवश्यक है।

षड्लिंग-विचार

कबीर साहब के निर्दिष्ट तात्पर्य के निर्णय के लिये उपक्रमादिक षड्-लिंगों का विचार भी आवश्यक है। जिस प्रकार आलंकारिक आदिकों ने शब्दार्थ सन्देह स्थल में "संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः। सामर्थ्यमौचितीं देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे। विशेषस्मृतिहेतवः॥" (वाक्यपदीये-भर्तृहरिः। उक्त प्रकार से अर्थनिर्णायकतया संयोगादिकों को माना है। इसी प्रकार वेदान्तादि स्थलों में तात्पर्य निर्णय के लिये षड्लिंग माने गये हैं। यथा "उपक्रमोपसंहारावभ्यासोपूर्वता फलम्। अर्थऽवादोपपत्तीच लिंगं तात्पर्य निर्णये।" प्रकरण-प्रतिपादित अर्थ का ग्रंथ के आदि और अन्त में वर्णन करना 'उपक्रमोपसंहार की एकता' रूप लिंग है। जैसे कि बीजक के आदि में जिस 'निर्विशेष सर्वादिरूप आत्मतत्व का अन्तरजोति और रामरूप से वर्णन किया है' उसी का ग्रंथ की समाप्ति में "जासो नाता आदिका बिसर गया सो ठौर" तथा "साखी आँखी ज्ञान की समुझु देखु मन मांहि। बिनु साखी संसार का झगरा छूटत नाहिं।" साक्षी [अन्तर्यामी] रूप से वर्णन किया है। और प्रतिपादित अर्थ का पुनः-पुनः कथन 'अभ्यास' कहलाता है। यथा "रहहु सँभारे राम बिचारे कहता हौं जो पुकारे हो।" "राम बिना नल होइ हो कैसा, बाट मांझ गोबरौरा जैसा॥" "आदि को ऊदेस जाने तासु वेष बाना" तथा प्रतिपाद्य वस्तु की प्रमाणान्तर—अविषयता 'अपूर्वता' कहलाती है। यथा "रूप निरूप जाय नहिं बोली। हलुका गरुआ जाय न तोली॥" तथा प्रतिपाद्य वस्तु के

ज्ञान से परम पुरुषार्थ (मोक्ष) की सिद्धि को 'फल' कहते हैं। यथा "बहुत दुःख है दुःख की खानी। तब बचिहो जब रामहिँ जानी॥ रामहिँ जानि जुगति जो करई। जुगतिहि ते फंदा नहिं परई॥" तथा प्रतिपाद्य वस्तु की प्रशंसा को 'अर्थवाद' कहते हैं। यथा "राम नाम का सेवहु बीरा, दूर नाहिं दुरि आसा हो। आन देवका सेवहु बोरे ई सभ झूठी आसा हो।" तथा नाना दृष्टान्तादिकों से प्रतिपाद्य की सिद्धि को 'उपपत्ति' कहते हैं। यथा "इच्छा के भवसागरे बोहित रामआधार। कहहिँ कबिर हरिसरण गहु, गोबछ खुर बिस्तार॥" इत्यादि।

अन्तिम लक्ष्य एक है

उक्त षड्बिध लिंगों के पर्यालोचन से कबीर साहब का तात्पर्य विचार द्वारा शुद्धात्म बोध कराने में ही है। मंदाधिकारियों के लिये प्रतिपादित ब्रह्मोपासना में नहीं। इसी ब्रह्मोपासना के निरास में सबके सब सन्त मतानुयायी तथा सम्प्रदायी एकमत हैं। इसका एकमात्र कारण उस ब्रह्मोपासना के द्वारा अशुद्ध हृदय वालों को—जो कि ब्रह्मोपासना के अधिकारी बताये गये हैं—पहुँचने वाली हानि की सम्भावना ही है। जैसा कि बहुधा देखने में आता है। सद्गुरु के इस उच्च सिद्धान्त को नहीं जानने वाले कतिपय संशयात्माओं ने "ई निश्चै इन्ह के बड़ भारी। वाहिक बरनन करु अधिकारी॥ 'कहौं' लौं कहौं जुगन की बाता, भूले ब्रह्मन चीन्हें बाता॥" इत्यादि अनेक स्थलों में परस्पर विरुद्ध, असंगत और मूलकार के आशय के विरुद्ध तथा पुनरुक्ति आदिक अनेक दोषों से दूषित रेखांकित पाठ-भेदों की तरह अपने से कल्पित नाना पाठान्तर बना कर स्वाभीष्ट की सिद्धि के लिये सम्प्रदायोच्छेद करने का महा भयंकर और निष्फल प्रयत्न किया है। स्थानाभाव से इस समय विस्तृत विवेचना नहीं की जाती है।

सब ही कबीरपंथी ग्रन्थ तथा भजनों में कुछ कुछ प्रक्रिया भेद होते हुए भी मंदाधिकारियों से अनुष्ठित उक्त ब्रह्मोपासना के निरास में उन सबों की एक वाक्यता है। ब्रह्मोपासना में होने वाले अहंकार का उल्लेख "यावच्चिन्त्य स्वरूपत्वाभिमनः स्वस्य जायते। यावद्वचिन्त्य पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत् ॥" इत्यादि पद्यों से पहले कर चुका हूँ। इसी बात को महात्मा श्री रामरहस्य साहब ने स्वविनिर्मित पञ्चग्रन्थी में कहा है "जमाएक—पद बहु भया कारण हंता पाय ॥ हन्ता बासी जीयरा सोई ब्रह्म कहाय ॥" उक्त महात्मा ने शुद्ध चेतनु (निजपद) का स्मरण रामभूमिका, आतमराम, रमैया रमिता आदिक शब्दों से किया है। और विचार (पारख) द्वारा उत्पन्न होने वाले अपरोक्ष ज्ञान से उसको साक्षात्कार होने का सर्वत्र वर्णन किया है, जो कि सद्गुरु के वचनों के सर्वथा अनुकूल है। कतिपय टीकाकार अविद्योपाधिक जीव रूप को ही परमार्थ और स्थिर पद (जमा) बताते हैं। उनका यह सिद्धान्त "साखी सब्दी गावत भूले आतम खबरि न जाना"। इत्यादिक सद्गुरु के वचनों के अनुरूप नहीं है। क्योंकि जो कर्म परतन्त्र संसरणशील सोपाधिक चेतन है, उसी की जीव संज्ञा है 'कर्महि के बस जीव कहतु है कर्महि को जिव दीन्हा" (बीजक)। "जीवोवै प्राणधारणात्" जो प्राणों को (सूक्ष्म शरीर को) धरकर संसार में भ्रमण करता रहै, उसी को 'जीव' कहते हैं। ऐसी दशा में वह जमा पद [स्थिरपद, या निजपद] कैसे कहा जा सकता है। मुक्त होने पर तो प्राणोपाधिकी निवृत्ति से उसकी जीव संज्ञा ही नहीं रहती, अतएव सद्गुरु ने "ठाढे देखें हंस कबीर" इत्यादि स्थलों में मुक्तात्माओं को लक्ष्य करके 'हंस कबीर' पद का प्रयोग किया है। जीव का तो यह लक्षण है कि "जीव होय सो जुग २ जीवै। उतपति परलय माहीं, देह धरै भुगतै चौरासी निरभय कबहूँ नाहीं ॥" श्रीयुत गोस्वामी जी ने भी कहा है कि 'परबस जीव स्वबस भगवन्ता'। जीवात्मा की दुःख दशा का वर्णन सद्गुरु ने रमैनियों में विस्तार पूर्वक किया है। यथा "जियरा आपन दुखहिं संभारू।

जे दुख व्यापि रहल संसारू ॥ उपजि विनसि फिर जो इनि आवै । सुख को लेस न सपनेहु पावै" ॥ इत्यादि ।

बिना परिचय उपासना अपूर्ण है

यहाँ तक यह कहा गया कि विचार द्वारा निरुपाधिक (शुद्ध) स्वरूप के साक्षात्कार से ही कैवल्य पद (मुक्ति) प्राप्त हो सकता है । सोपाधिक (साकेतादि लोक विशेष निवासी) ईश्वरादि के ज्ञान से नहीं । इसी अभिप्राय से कबीर साहब ने अपने स्वरूप से भिन्न लोक विशेष निवासी परोक्ष तटस्थ ईश्वरादिकों का खडन किया है । यथा-"चात्रिक कहाँ पुकारो दूरी । सो जल सकल रहा भर पूरी ॥ औ, कहहु हो अंमर ! कासो लागा ? चेतन हारे चेत सुभागा ॥" तथा "नियरे न खोजै बतावै दूरि, चहुँदिसि बागुरि रहलि पूरि ॥" इसी प्रकार राम के परिचय बिना केवल रामनाम की उपासना करने वाले अन्ध श्रद्धालु उपासकों को लक्ष्य करके इस पद्य में उनकी उपासना की अपूर्णता बतायी गयी है । "हरि मोरा पिउ मैं राम की बहुरिया । राम बड़ो मैं तनिकि लहुरिया ॥" अन्त में कहा है—"कहहि कबीर सूत भल काता, चरखा न होय मुकुति को दाता" । बीजेश्वर वादियों का यह मत है कि बीज वृक्ष-न्याय से यह संसार ईश्वर का परिणाम है । उसका खंडन कबीर साहब ने इस प्रकार किया है । "जोपै बीज रूप भगवान तो पंडित का पूछहु आन ॥" माया और गुण त्रयरूप उपाधि के आश्रयण से नाना अवतार और नाना देवताओं का आविर्भाव हुआ करता है । यह वार्ता "प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्मायया" इत्यादि वचनों से प्रतिपादित होने के कारण सर्वसम्मत है । और सोपाधिक उपासना से निरुपाधिक (प्रत्यक्चेतन) की प्राप्ति नहीं हो सकती (यह पहले कहा जा चुका है) इसी आशय से कबीर साहब ने अवतारोपासना, तटस्थेश्वरोपासना, तथा नाना देवोपासना में अपना अस्वारस्य प्रकट किया है । यथा 'सन्तो ! आवे जाय सो माया, है प्रति-

पाल काल नहिं वाके न कहुँ गया न आया।" अन्त में कहा है कि "दस अवतार ईसरी माया करता करि जन पूजा। कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो! उपजै खपै सो दूजा" ॥ तथा "रजगुन ब्रह्मा तमगुन संकर सत्त गुना हरि सोई। कहँहिं कबीर राम रमि रहिये हिन्दू तुरुक न कोई ॥"

त्रिदेवोपासना

गुण त्रय प्रधान तीनों देवता सर्जन, पालन और संहार रूप कार्य को करने वाले अधिकारी पुरुष हैं। और अधिकारी पुरुषों के लिए यह नियम है कि "अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परं पदम्"। अधिकारी पुरुष अपने अधिकार की समाप्ति के अनन्तर मुक्ति पद को प्राप्त करते हैं, क्योंकि सत्व, रज और तम ये तीनों गुण बन्धन कारक हैं। यह वार्ता गीता के १४वें अध्याय में 'तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशक मनामयम्' इत्यादि श्लोकों से स्पष्ट है। दूसरी रमैनी की टीका में भी इस विषय में प्रकाश डाला गया है। फलतः त्रिदेवोपासना में कबीर साहब के अस्वारस्य का यही बीज है "रजगुन ब्रह्मा तम गुन संकर सत्तगुना हरि सोई। कहँहिं कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरक न कोई" इत्यादि। अवतारोपासना को कबीर साहब ने सर्वथा निष्फल नहीं बताया है, किन्तु मायिकता के कारण उससे वे मुक्ति होना नहीं मानते हैं, यह वार्ता "जदपी फल उत्तिम गुन जाना। हरि छोड़ मन मकुती उनमाना इत्यादि वचनों से व्यक्त है।

ज्ञान-साधक-विचारोत्पत्ति के साधन

अहिंसा

अन्तःकरण में मल, विक्षेप और आवरण ये तीन दोष रहा करते हैं। कर्मानुष्ठान से मल दोष की निवृत्ति होती है। वह कर्म विहित और प्रतिषिद्ध रूप से दो प्रकार का है। जिन कर्मों के करने का विधान वेदादि सत्शास्त्रों ने तथा महात्माओं ने किया है, वे विहित कर्म कहलाते हैं जैसे

"अहरहः सन्ध्यामुपासीत" तथा गुरु पूजादिक। और जिन कर्मों के करने का निषेध किया है, वे निषिद्ध कर्म कहलाते हैं। जैसे—हिंसा और असत्य भाषणादिक "माहिंस्यात्सर्वा भूतानि" (किसी प्राणी को न मारो) "अवश्य-मेवहि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" (किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फल अवश्य भोगने पड़ते हैं।) "जिव जनि मारहु बापुरा सबके एके प्रान। तिरथ गये नहिं बाँचिहो कोटि हिरा दे दान।" इत्यादि श्रुति स्मृति और महात्माओं के वचनों से सर्वत्र [यागादिकों में] हिंसा सर्वथा निषिद्ध है। यद्यपि "अग्नी षोमीयं पशुमालभेत" इत्यादि विशेष विधि से "माहिंस्यात् सर्वाभूतानि" इस सामान्य शास्त्र का बाध होना "सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्" इत्यादि न्यायानुमोदित है। तथापि, "सतिविरोधे बलीय साहि दुर्बलं बाध्यते।" इस नियम से उक्त सामान्य विधि हिंसा मात्र में अनर्थ हेतुता की सिद्धि करती है। किन्तु क्रतूपकारकत्व का प्रतिषेध नहीं करती। इसी प्रकार "अग्नीषोमीयं" यह विशेष विधि भी यागीय पशुहिंसा में कृतार्थता का बोधन कराती है। परन्तु हिंसा में अनर्थ हेतुता का प्रतिषेध नहीं करती, अतः हिंसा मात्र में अनर्थ हेतुता सिद्ध होने से 'यज्ञेबधो-ऽबधः' तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इत्यादि वचन अर्थवाद मात्र हैं। अतएव "दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यवि शुद्धि. क्षयातिशययुक्तः" इत्यादि सांख्यकारिकाकार कृष्णयज्वा तथा "स्वल्पा सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः" इत्यादि पञ्च शिखाचार्य, और 'मृष्यन्तेहि पुण्यसम्भारोप-नीतस्वर्गसुधामहाह्रदावगाहिनः कुशलाः पापमात्रो-पपादितां दुखवह्निकणि-काम्।' इत्यादि वाचस्पतिमिश्र के वचन सङ्गत हैं। वस्तुतः विधिबोधित आलम्भन पद की आकारविघटन में लक्षणा है, जैसा कि शास्त्रदीपिका में मीमांसादर्शन के द्वितीयसूत्रस्थ अर्थ पद के व्याख्यानावसर में सुदर्शनाचार्य जी ने लिखा है कि—उक्तं च भाष्यकारेण—कोऽनर्थः ? यः प्रत्यवायाय श्येनो वज्र इषुरित्येवमादिः, तत्रानर्थ धर्म उक्तो माभूदिति अर्थ-ग्रहणम्; कथं पुनरसावनर्थः ? हिंसा हि सा, हिंसा च प्रतिषिद्धा। इति।

श्रूयतेच्च 'मा हिंस्यात्सर्वाभूतानि' इति। ननु ज्योतिष्टोमादिष्वपि हिंसायाः सत्वादनर्थत्वं स्यात्तेषामितिचेन्न, 'अग्नीषोमीयंपशुमालभेत' इत्यादि वाक्यानां पिष्टपशुविषयत्वात्। ननु पिष्टपशोरालम्भनं न सम्भवति जडत्वादितिचेत्। चेतनस्यात्मनोऽपि न सम्भवति तस्य नित्यत्वात्। शरीरस्य च तत्रापि जडत्वात्। ननु प्राणवियोजनं ह्यालम्भनशब्दवाच्चा हिंसा सात्र जीवत्पशुवत् पिष्टपशोर्न सम्भवतीतिचेत्, आलम्भनादि शब्दानामाकार विघटने लक्षणा वक्ष्यामः किंबहुना साक्षाद्धन्तेरप्याकार—विघटनेध्वपकारेषु च प्रयोगो भवति यथा हतोमया घटो हतोमया देवदत्त इति तत्र घटस्याकार—विघटनं कृतं देवदत्तस्यचापकारमात्रं कृतं नतु प्राणवियोजनम्; एव मत्राप्याकारविघटने लक्षणा। आकार-विघटनं च पिष्टकृतपशोरपि सम्भवस्येव। लक्षणाश्रयणमेव दोष इतिचेन्न। माहिंस्यादिति, श्रुतिविरोधसम्पादनापेक्षया वरं लक्षणाश्रयणम्। कोहि विद्वान् वाक्यस्य गतौ सत्यामनर्थस्वरूपां हिंसामाचरेदिति परम वैष्णव सिद्धान्तः। इत्यादि।

विधि के स्वरूप-पर्यालोचन से भी पशु हिंसा वेद-बोधित सिद्ध नहीं हो सकती है; क्योंकि विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' इस कथन के अनुसार अप्राप्त वस्तु को बोधन कराने वाली विधि कहलाती है। यथा 'स्वर्गकामोयजेत' यहाँ पर स्वर्ग प्रमाणान्तर से अप्राप्त है। इस प्रकार हिंसा अप्राप्त नहीं है, वरन् रागतः प्राप्त है। अतः यह विधि नहीं है, किन्तु परिसंख्या है। अर्थात् स्वभाव प्राप्त हिंसा का 'सौत्रामण्यां सुरांपिवेत्' के समान वेद ने सङ्कोच किया है। फलतः वैदिक वाक्यों का तात्पर्य हिंसादि की निवृत्ति में ही है, प्रवृत्ति में नहीं। उक्त वैदिक रहस्य को नहीं जानने वाले रसनालोलुप पुरुषापसदों ने अपने अनुकूल नाना स्मृति वचनों का निर्माण करके संसार को उत्पथगामी बना दिया है। ऐसे ही वेदव्याख्याता और स्मृतिकार-ब्राह्मणों को लक्ष्य करके कबीर साहब ने ये वचन कहे हैं।

"नष्ट गये करता नहीं चीन्हा नष्ट गये अवरहिं मन दीन्हा॥
नष्ट गये जिन बेद बखाना बेद पढ़े पै भेद न जाना॥"

"वेद कि पुत्री है स्मृति भाई सो जेवर कर लेतहिं आई ॥
आपुहि बरि आपन गर बंदा झूठा मोह काल को फंदा ॥
बन्धा बँधवत छोरि न जाई विषय रूप भूली दुनियाई ॥'
"अन्ध सो दरपन बेद पुराना दरबी कहा महारस जाना ॥
जस खर चन्दन लादै भारा परिमलबासन जानु गँवारा ॥"
"रामहुँ केर मरम नहिं जाना ले मति ठानिन बेद पुराना ॥
बेदहु केर कहल नहिं करई जरतई रहै सुस्त नहिं परई ॥"

विध्यादिक के ये लक्षण है। "विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिकेऽसति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते" इसी प्रकार देव बलि निमित्त से पशु हिंसा करके स्वोदरपूर्ति करने वाले ब्राह्मणों के निन्दित आचरणों का खंडन इस प्रकार किया है "सुम्रिति सुहाय सभै कोइ जाने हृदया तत्व न बूझै। निरजिव आगे सरजिव थापे लोचन किछुवो न सूझै ॥ माटी के करि देवी देवा काटि-काटि जिव देइया जी। जो तुहरा है साँचा देवा खेत चरत क्यों न लेइया जी ॥"
"सन्तो ! पांड़े निपुन कसाई।

बकरा मारि भैंसा पर धावै, दिलमहँ दरद न आई।" "माँस मछरियाँ तै पै खइये, जो खेतन में बोइया जी। कहँहिं कबीर जिह्वा के कारन यहि बिधि प्रानी नरक परे"। इत्यादि। जीवहिंसा की तरह द्यूत कर्म और असत्य भाषणादिक भी प्रतिषिध कर्म हैं। उक्त सब ही कर्म कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से तीन प्रकार के हैं। विहित कर्मों के सेवन और निषिद्ध कर्मो के परित्याग से चित्त शुद्धि द्वारा आत्मविचार का उदय होता है।

सत्संगति

चित्तशुद्धि के साधनों में मुख्य साधन सत्संगति है; क्योंकि बिना सत्सङ्ग के सार असार का ज्ञान (विवेक) नहीं हो सकता है जैसा कि गोस्वामी जी ने कहा है "बिनु सतसङ्ग विवेक न होई। राम कृपा बिनु

सुलभ न सोई ॥" इसी बात को भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने [illegible] एकादश स्कन्ध में अक्रूर जी के प्रति वर्णन किया है "नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः। ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः" जलमय-तीर्थ और मृत्तिकापाषाणरूप देवता निश्चय से कालान्तर में पवित्र करते हैं; किन्तु सन्तजन तो दर्शनमात्र से ही पवित्र कर देते हैं। "साधवो हृदयं मह्यंसाधूनांहृद्यंत्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहन्तेभ्यो मनागपि"। सन्त मेरे हृदय रूप हैं। और मैं सन्तों का हृदय हूँ। क्योंकि मेरे अतिरिक्त वे दूसरे को नहीं जानते हैं और मैं भी उनके सिवा दूसरों को (आत्मीय) नहीं जानता हूँ। यही उपदेश करुणासिन्धु श्री कबीर साहब ने निज-शिष्य धर्मदास जी साहब को दिया है। "धर्मदास ! साधू मम नामा। साधुन माहिं करौं बिसरामा। अन्ते खोजी पैहो नाहीं। जब पैहो तब सन्तन माहीं," सर्व पाप हारी सन्त जन वस्तुतः जंगम (चलते फिरते) तीर्थ हैं। जैसा कि गोस्वामी जी ने कहा है कि "मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथ राजू। सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा। अकथ अलौकिक तीरथ राऊ। देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ॥" इत्यादि। उक्त प्रकार से सत्संगति के द्वारा विवेक प्राप्त करके चित्त शुद्धि के परमोपयोगी मैत्री करुणा मुदिता और उपेक्षा रूप वृत्तियों की भावना करे ! "मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखादुःखा पुण्यापुण्य विषयाणां भावा-नातश्चित्तप्रसादनम्" (योगदर्शन, समाधिपाद ३३ सूत्र) अर्थात् सुखियों में दुःखियों में धर्मात्माओं में और पापियों में क्रमशः सौहार्दभाव, दयाभाव, हर्ष भाव और तटस्थभाव की स्थापना से यथाक्रम ईर्षा, अपकार, बुद्धि, असूया और क्रोध की निवृत्ति हो जाने से मानस महोदधि प्रशान्त और निर्मल हो जाता है।

निष्काम कर्म

इसी प्रकार निष्काम-कर्मानुष्ठान से भी चित्त की शुद्धि होती है; क्योंकि कामना पूर्वक किये हुए याग दानादिक सबही कर्म बन्धन कारक हो जाते

हैं। इसी अभिप्राय से त्रिगुणात्मक कर्मों के विधायक वैदिक कर्मकाण्ड की भगवान ने गीता में इस प्रकार समालोचना की है "यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवन्दन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ। नान्यदस्तीति वादिनः। त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।" (हे अर्जुन! सकाम यागादि द्वारा प्राप्त होने वाले स्वर्ग को ही परम पुरुषार्थ मानने वाले अज्ञानी लोग लोकवञ्चना के लिए जन्मान्तर-दायक नाना प्रकार की रोचक वाणियाँ कहा करते हैं; क्योंकि वेद स्वयं त्रिगुणात्मक विषय सुख के प्रकाश करने वाले हैं। इसलिए हे अर्जुन! तू निर्द्वंद्व, निश्चल, सावधान और निष्काम होकर सर्व बन्धनों से मुक्त होजा)। श्रुति ने भी कहा है कि "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञ रूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनंदंति मूढ़ा जरामृत्युं ते पुनरेवापयन्ति" (मुण्डकोपनिषद्)। [स्वर्ग की इच्छा से किया हुआ वह यागादि कर्म, जिसमें की सोलह ऋत्विक् यजमान और उसकी स्त्री ये अठारह रहते हैं, जन्ममरण का देने वाला है, क्योंकि ये यज्ञ जर्जर और तुच्छ नौका (डोंगी) के समान हैं। इसलिए इनका अवलम्बन करने वाले संसार-सागर में डूब जाते हैं। इसी रहस्य को लेकर कबीर साहब ने केवल कर्म वादी ब्राह्मणों के प्रति कहा है। "पढ़ि गुनि भये क्रीतम के दासा। करम पढ़ैं करमहिं को धावैं। जे पूछे तेहि करम दिढ़ावैं॥ निहकरमी की निंदा कीजै। करम करै ताही चित दीजै॥" इत्यादि।

नमोपासना

निष्काम कर्म की तरह उपासना भी विक्षेप (चंचलता) को दूर करती हुई चित्त को निर्मल बना देती है। सब उपासनाओं में मुख्य चेतनात्म रूप सद्गुरु की उपासना है। क्योंकि "यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" (जिसकी गुरु में परमात्मा के समान भक्ति है, उसके हृदय में श्रुति—प्रतिपादित आत्म-तत्व प्रकाशित होता है।) "जो तोहि सतगुरु सत्त लखाव। ताते न छूटे

चरन भाव ॥ अमर लोक फल लावै चाव । कहँहिं कबीर बूझै सो पाव ॥" गुरूपासना के समान नामोपासना भी अभ्युदय और निःश्रेयस को देने वाली है । अनेक नामों में से "सत्यनाम" आत्मा (शुद्धचेतन) का निज-नाम है । क्योंकि यह आत्मा सत्य है, और सत्य का वाचक नाम 'सत्य' ही हो सकता है "नह्यस्मादन्यत्सर मस्त्यथनामधेयं सत्यस्य सत्यमिति" "तस्य नाम सत्यमिति" "तानिह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति, तद्यत्सत्तदमृथयत्तितन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति" (छान्दोग्योपनिषद) । कबीर साहब ने भी "सत्त सत्त कहै सुमृति वेद" इत्यादि वचनों से "सत्यनाम" की महिमा का बहुत वर्णन किया है । और इसी विशाल झंडे के नीचे समस्त सन्त मतानुयायी उदासी, सिक्ख, सत्यनामी, दरियापंथी, कबीरपंथी आदि वर्तमान हैं । या यों कहना और भी समुचित होगा कि इसी सूत्रात्मा सत्यनाम से समस्त सन्त मतानुयायी परस्पर सम्मिलित हैं; क्योंकि सभी सत्यनाम के उपासक हैं । खेद है कि इस रहस्य को नहीं जानने वाले हमारे कतिपय भोलेभाले कबीर पंथी भाई सर्वोत्कृष्ट "सत्य-नाम" से विमुख होते चले जा रहे हैं ।

अंतःकरण के उक्त तीन दोषों में से आवरण (अज्ञान) दोष की निवृत्ति स्वरूप ज्ञान से होती है । (यह पहले कहा जा चुका है) । इसी प्रकार सहज योग और भक्ति योग [ईश्वरप्रणिधान] का भी सत्व-शुद्धि में उपयोग होता है । कबीर साहब ने केवल हठ योग का खंडन किया है । जो कि कामना मूलक होने के कारण अनर्थ कारक है । "कच्चे सिद्धन माया पियारी ।" "योगिया के नगर बसो मति कोय । जोरे बसे सो जोगिया होय ॥" पूर्वोक्त प्रकार से तीर्थ जप तप आदिकों की आड़ में होने वाले पाखंडों का ही कबीर साहब ने लोकोपकार के लिए खंडन किया है । मुसलमानों के आसमानी खुदा और नाना अत्याचारों का भी बड़े जोर शोर से खंडन किया है । "कहँ तब आदम कहँ तब हव्वा । कहँ तब पीर पैगम्बर हूवा ॥ जिन्हि दुनियाँ में रची मसीद । झूठ रोजा

झूठी ईद। कहुधौं भिस्त कहाँ ते आई। किसके कहे तुम छुरी चलाई।" इत्यादि।

जातिवाद और छुआछूत

जातिवाद में कबीर साहब के ये विचार हैं—प्राक्तन शुभाशुभ कर्मों के अनुरोध से जीवात्मा उत्तमाधम शरीरों को धारण करता है। और वर्तमान जीवन में भी उन्नति और अवनति निजकृत कर्मों पर ही निर्भर है। एवं "जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः श्वपाक्याश्च पराशरः। शुक्याः शुकः णादाख्यस्तथोलूक्याः सुतोऽभवत्॥" [भविष्य पुराण]। (मल्लाह की लड़की से व्यासजी, श्वपाक की लड़की से पराशर जी, शुकी से शुकदेव जी, और उलूकी से कणाद जी हुए। अर्थात् अधम कुलों में उत्पन्न होने पर भी दिव्य गुणों के कारण ये सब ब्राह्मण कहलाये)। इत्यादि इतिहास पुराणादि के पर्यालोचन से गुण कर्म ही ब्राह्मण्यादि के सम्पादक प्रतीत होते हैं, केवल जन्म नहीं; अतएव "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः" इत्यादि वचन भी संगत होते हैं। क्योंकि "आकृतिग्रहणा जातिः" जो आकृति (आकार) के देखते ही जान ली जाय वाही जाति है। वार्तिककार के बताये हुए इस जाति के लक्षण के अनुसार मनुष्य जाति ही सच्ची जाति है। इसी अभिप्राय से कबीर साहब ने मनुष्य जाति की प्रधानता, और इतर [कल्पित] जातियों की—गौणता मानी है। "जो तू करता बरन विचारा। जन्मत तीन दंड अनुसारा॥ जन्मत शूद्र मुये पुनि सूद्रा। कीतिम जनेउ घालि जग दुन्द्रा॥" इत्यादि छूआछूत के विषय में सद्गुरु के ये विचार हैं कि—जन्म से कोई मनुष्य अछूत नहीं, हाँ मलीनता के कारण वह दूर रखा जा सकता है॥ इसके अतिरिक्त अन्तः शौच रहित मिथ्या आचार महा अनर्थ का करने वाला है। "छूतहि जेवन छूतहि अचवन छूतहि जगह उपाया। कहँहि कबीर ते छूत विवर्जित जाके संग न माया॥" इत्यादि।

बीजक के सांकेतिक शब्द

राम शब्द जहाँ तहाँ सोपाधिक (अवतार राम) का और बहुधा निरुपाधिक शुद्ध स्वरूप (चैतन्य) का बोध है। इसी प्रकार हरि, जादव राय, गोविन्द, गोपाल आदिक हैं। मन के बोधक मच्छ, माँछ, मीन, जुलाहा, साउज, सियार, रोझ, हस्ती, मतंग, निरंजन आदिक हैं। और पुत्र, पारथ, जुलाहा, दुलहा, सिह, मूस, भँवरा योगी शब्द जीवात्मा को सूचित करते हैं। और माया के बोधक शब्द—माता, नारी, छेरी, गैया, बलैया आदिक हैं। और सायर, बन, सीकम आदिक शब्द संसार के बोधक हैं। तथा यौवन, दिवस और दिन आदिक शब्द नर तन के बोधक हैं। सखी, सहेलरी, आदिक सांकेतिक शब्द इन्द्रियों के बोधक हैं। स्थानाभाव से सब संकेतों का उल्लेख नहीं किया जाता है। इस ग्रन्थ में १—"हंस कबीर" २—"कहहिं कबीर" ३—"कहैं कबीर" ४—'कबीर' ५—'दास कबीर' ६—"कबीरा" और "कबिरन" इन शब्दों का भी विशेष अर्थ में संकेत है। जो कि गुरु परंपरा से ज्ञात होता है। बीजक के अर्थ का यथार्थ ज्ञान इन्हीं संकेतों पर निर्भर है। पहला संकेत मुक्तात्मा का सूचक है। दूसरा स्वोक्ति [गुरु वचन] का, तीसरा और चौथा अन्योक्ति का। [औरों के वचनों का अनुवाद]। पाँचवाँ लोक विशेष निवासी ईश्वर के उपासकों का। और छठा सातवाँ कर्मों, अज्ञानी तथा वंचक गुरुओं का बोधक है। खेद है कि इन संकेतों को न जानने के कारण कबीर गुरु की तथा उनके ग्रन्थों की समालोचना करने वालों ने "अन्धस्येवान्धलग्नस्थ विनिपातः पदेपदे" के अनुसार पैण्ड पैण्ड पर धोका खाया है। कोई "कबिरन" का अर्थ 'कबीर पंथी' बतलाते हैं, और कोई 'जुलहा दास कबीर' का अर्थ जुलहा कबीर लगाते हैं। इसी प्रकार कबीरा आदि शब्दों का भी मनमाना अर्थ किया है। ठीक ही है। मर्मज्ञ (भेदू) के बताये बिना वस्तु नहीं मिल सकती है। "वस्तु कहीं ढूँढ़े कहीं, केहि विधि आवै हाथ। कहहिं कबीर तब पाइये भेदू लीजै साथ।"

कबीर-साहब और उनके ग्रन्थ

कबीर साहब ने स्वयं कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है, जैसा कि उनका वचन है—'मसि कागद छूओ नहीं, कलम गही नहीं हाथ, चारौं जुग महातम, (कबीर) मुखहि जनाई बात।' सद्गुरु की शिक्षा मौखिक हुआ करती थी जो कि शिष्यों के द्वारा ग्रन्थ रूप में परिणत की गयी है; यह वार्ता सर्वसम्मत है। इस विषय को सूचना रूप से मैंने पृ० ३६४ में लिखा है। सद्गुरु के वचनों के संग्रह रूप 'अखरावती' आदिक कई ग्रन्थ हैं यह वार्ता कबीर पन्थी इतिहास के ज्ञाताओं को विदित ही है। जो लोग यह कहते हैं कि कबीर साहब के बचन केवल इतने ही हैं जो कि इस [बीजक] ग्रन्थ में वर्तमान हैं; वे लोग 'छ लाख छानबे सहस रमैनी एक जीव पर होय' तथा पंच ग्रन्थी में सत्य शब्द टकसार नाम से दिये हुए 'सन्तो ठहरिके करहु बिचार' इत्यादि बचनों के रहस्य से अपरिचित हैं।

बीजक और उसकी भाषा

इस ग्रन्थ का नाम 'बीजक' है। गुप्त धन को बताने वाले सांकेतिक लेख को 'बीजक' कहते हैं। जैसे कि कहीं २ धन के सूचक शिलालेख पाये जाते हैं। प्रकृत में आत्मधन अत्यन्त गुप्त है। "एको देवः सर्व भूतेषु गूढः" (श्वेताश्वतरोपनिषद्) एक चैतन्य आत्मा सम्पूर्ण प्राणियों में छिपा हुआ है। "तं दुर्दर्शं गूढः मनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्" 'यं लब्ध्वा चापरं लाभ मन्यते नाधिकं ततः' वह धन अत्यन्त प्राचीन और सबों के हृदय निकेतन में वर्त्तमान है। तथा उसकी प्राप्ति से बढ़ कर दूसरा लाभ नहीं है। उस गुप्त धन को बताने वाला यह बीजक ग्रन्थ है। इसलिये इसको बीजक कहते हैं। कबीर साहब ने स्वयं कहा है।"बीजक बतावै वित्त को; जो वित गुप्ता होय। सब्द बतावै जीव को बूझै विरला कोय॥"

इस ग्रन्थ को कबीर साहब ने पूर्वी भाषा में कहा है जैसा कि उनका वचन है। 'बोली हमारी पूर्व की हमें लखे नहिं कोय। हमको तो सोई लखै, धुर पूरब का होय॥' इसके अनुसार ग्रन्थ में संयुक्तप्रान्तीय अवधी भाषा का बनारस, मिर्जापुर और गोरखपुर आदि जिलों की भाषा का अधिक समावेश है। इसकी भाषा ठेठ प्राचीन पूर्वी है, जिसको सर्व साधारण हिन्दी जानने वाले भी नहीं समझ सकते हैं। "यह तो गति है अटपटी, चटपट लखै न कोय। जो मन की खटपट मिटै, चटपट दरसन होय॥" प्रथमतः गम्भीरार्थ की प्रतिपादक होने से कबीर गुरु की वाणी अत्यन्त गूढ़ है, तिस पर प्राचीन पूर्वी भाषा ने उसको इस समय और भी क्लिष्ट और जटिल बना दिया है। प्राचीन समय में यह सर्व साधारण की भाषा थी और इस समय भी इसके बहुत से शब्द उक्त प्रान्तों में ज्यों के त्यों प्रचलित हैं। जैसे जहँड़े, घूर पवाँरिन, नाधे, असगर, विरधा, भिस्त, एकसर आदिक। अपने भावों को सर्व साधारण तक पहुँचाने का एक मात्र उपाय साधारण बोलचाल की (ठेठ) भाषा का प्रयोग ही है। इसी अभिप्राय से अध्यात्मज्ञान के शिक्षक प्रायः सभी महात्माओं ने अत्यन्त सरल(वर्तमान) भाषा में अपने विचार प्रगट किये हैं। और कभी साहित्य के नियम और बन्धनों में नहीं पड़े हैं, अतः कवि और काव्य की दृष्टि से महात्मा और उनकी वाणियों को जो (समालोचक) देखते हैं, तथा उसी दृष्टि से कवि श्रेणी में उनको हीन अथवा उत्तम स्थान देते हैं, वे भूल करते हैं, क्योंकि आत्म-भाव-दृष्टि वाले महात्माओं को काव्य शब्दार्थरूप शरीर-दृष्टि नहीं रहती है। 'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, (साहित्यदर्पण)। यही कवि और महात्माओं में विशेषता है। उनकी रचनाओं में जो कुछ अलंकार आदिक आ जाते हैं (जैसे कि इसमें कहीं २ पर हैं। देखिये बी० पृ० १०७ आदिक, वे स्वाभाविक हैं, उनके लिए ऊहापोह या आवापोद्वाप उनको नहीं करना पड़ता है। बीजक पहले कैथी लिपि (अक्षरों) में लिखा गया था। उक्त लिपि के नियमों का दिग्दर्शन

मैंने 'ज्ञनचौंतीसा' की टिप्पणी में कराया है। उसी नियम के अनुसार इसकी मातृका (वर्णमाला) है। गोस्वामी तुलसीदास जी की असली रामायण इन्हीं अक्षरों में लिखी हुई बतलाई जाती है। काशी 'नागरी-प्रचारणी सभा' से उसका प्रकाशन हो चुका है। भाषा की रूढ़ि के अनुसार 'श, य, ण, क्ष,' आदिक के स्थान में क्रमशः स, ज, न, छ, आदि लिखे जाते थे। रामायण आदिक सारे प्राचीन ग्रन्थों में इस नियम का बराबर पालन हुआ है। संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् महात्मा निश्चल दास जी ने भी अपने विचार सागर आदि ग्रन्थों में इस नियम का अक्षरशः पालन किया है। और सर्व साधारण के परिज्ञानार्थ लिख भी दिया है कि यह भाषा की सम्प्रदाय है।

दोहा—"लघु गुरु गुरु लघु होत है, वृत्ति हेत उच्चार।
रू ह्रै अरु की ठौर में अबकी ठौर बकार॥
संयोगी क्ष कपर ख न, नहिं टवर्ग णकार।
भाषा में ऋलृहु नहीं, अरु तालव्य शकार॥

टीका—इतने अच्छर भाषा में नहीं। कोई लिखे तो कवि असुद्ध कहैं 'क्ष, के स्थान में छ। 'ख' के स्थान में 'ष'। णकार के स्थान में नकार 'ऋलृ' के स्थान में 'रिलि' है। शकार के स्थान में सकार भाषा में लिखने योग्य हैं। विचार सागर षष्ठ तरंग, संस्करण शाले अहमद। पीताम्बर टीका सहित)

बीजक की सब लिखित पुस्तकें इसी नियम के अनुसार हैं। बीजक की वर्णमाला लिपि आदि के विषय में होने वाली संशय की निवृत्ति तो इसमें दिये हुए 'ज्ञान चौंतीसा' के विवेक पूर्वक परिज्ञान से ही हो जाती है। इसमें 'य' के स्थान में 'ज' का प्रयोग किया है। 'जाजा जगत रहा भरपूरी, जगतहु ते है जाना दूरी' और 'श' की जगह 'स' का प्रयोग इस

प्रकार है। 'साखा सर नहिं देखै कोई। सर सीतलता एकै होई॥ इत्यादि* इन सब बातों को जानते हुए भी बीजक के शोधन कर्ता संस्कृत प्रेमियों ने इस ग्रन्थ को अपने पाण्डित्य प्रकट करने की ध्वजा बनाकर अत्यन्त सरल विरध, विरछ, छेव, अछत, मच्छ, लछ जोजन, जोति या जोत, भिस्त आदिकों के स्थान में क्रमशः वृद्ध, वृक्ष, क्षेव, अक्षत, मत्स्य, लक्ष, योजन, ज्योति, बिहिश्त आदि संस्कृतादि शब्द लिखकर और उक्त प्राचीन शैली को मिटा कर लोकोपकार के लिए बहती हुई दयालु महात्मा की बचनामृत गंगा के पान से सर्व साधारण को वञ्चित कर दिया है। आज तक मुद्रित हुए सभी बीजकों की यही दशा है। दिनोंदिन इसको संस्कृत-मय बनाने का और मनमाने पाठ बना लेने का प्रबल प्रयत्न किया जा रहा है। एक असाधारण महात्मा की अनुपम वाणी को इस प्रकार अग-भंग करके विकृत बना देना विवेकियों को शोभा नहीं देता है।

आक्षेप–परिहार

कबीर साहब के पूर्व निर्दिष्ट सिद्धान्त और उच्चादर्श से अनभिज्ञ समालोचकों ने उन पर और उनकी बाणी पर नाना प्रकार के दोषारोपण किये हैं। स्थानाभाव से उन सबों की विवेचना यहाँ पर नहीं की जाती है। एक महाशय लिखते हैं "मेरा विचार यह है कि उनका यह संस्कार मुसलमान धर्म मूलक है। वैदिक काल से उपनिषद् और दार्शनिक काल पर्यन्त आर्य धर्म में भी कहीं अवतारवाद और मूर्ति पूजा का पता नहीं चलता। पौराणिक काल में ही इन दोनों बातों की नींव पड़ी है, अतएव यदि ऊँचे उठा जाय तो कहा जा सकता है कि कबीर साहब ने प्राचीन आर्य धर्म का अवलम्बन करके ही अवतारवाद और मूर्ति पूजा का विरोध

---

* सूचना—इहाँ पर संस्कृत प्रेमियों ने 'याया जगत रहा भरपूरी। तथा 'शाखा सर नहि देखे कोई।' इस प्रकार बल पूर्वक महात्मा की वाणी को तोड़ मरोड़ दिया है। स्थानाभाव से स्थलान्तर नहीं दिखाये जाते हैं।

किया है। किन्तु यह काम स्वामी दयानंद सरस्वती का था। कबीर साहब का नहीं। अपठित होने के कारण उनको वेद और उपनिषद् की शिक्षाओं का ज्ञान न था इसलिये इतनी दूर पहुँचना उनका काम न था" इत्यादि। इन पंक्तियों के लेखक महात्माओं के द्वेषी और दार्शनिक ज्ञान से नितान्त ही शून्य मालूम पड़ते हैं, अन्यथा कबीर साहब के 'प्रातिभाज्ञान' में उनको संशय न होता। यह तो सर्व सम्मत ही है कि कबीर साहब एक सिद्ध महात्मा थे। वह सिद्धि भी उनको जन्म ही से प्राप्त थी। "जन्मौषधिमंत्रतपः समाधिजाः सिद्धयः।" (योग दर्शन कैवल्य पाद १ सूत्र) जन्म से औषधि से, मंत्र से, तप से और समाधि से सिद्धि प्राप्त होती है। सत्व गुण की उद्रिक्त दशा में योगियों को "ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा" इसके अनुसार ऋतंभरा प्रज्ञा प्राप्त होती है। जिस बुद्धि-दर्पण में केवल सत्य ही का प्रस्फुरण हो, उस प्रज्ञा को "ऋतंभरा" कहते है। कबीर साहब की प्रज्ञा ऋतंभरा थी उसी के बल से उन्होंने सत्य सिद्धान्त को प्रकट किया है। प्रतिभा ज्ञान वेदों का स्वयं जनक है, अतः प्रातिभ ज्ञान वाले महात्माओं को वेदों के पढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृगवेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चेति" चारों वेद महान आत्मा की स्वासा रूप है। "ब्रह्म रूप अहि ब्रह्मवित् ताकी वाणी वेद; भाषा अथवा संस्कृत करत भेद भ्रम छेद।" इसके अतिरिक्त महाशय जी के उक्त आक्षेप का समाधान तो स्थानान्तर में दिये हुए उन्हीं के इन वचनों से हो जाता है। खेद है, कि द्वेष वश अपने ही असंयत और परस्पर व्याहत वचनों को वे न समझ सके। "जब वे किसी अवसर पर मुसलमान धर्म पर आक्रमण करते हैं तो उन्हीं ऊपरी बातों को कहते हैं, जिनको एक साधारण हिन्दू भी जानता है, किन्तु हिन्दू धर्म विवेचन के समय उनके मुख से वे बातें निकलती हैं जिन्हें शास्त्रज्ञ विद्वानों के अतिरिक्त दूसरा नहीं जानता है!" यदि श्रीमान् वेस्कट साहब के परम भक्त उक्त महाशय जी हिन्दुओं के जन्मान्तरवाद को मानते

होते तो भी कबीर गुरु के जन्मान्तर-अर्जित ज्ञान में उनको विप्रतिपत्ति नहीं होती, क्योंकि नूर अली जोलाहे के औरस पुत्र न होने से उहीं के हृदय में मुसलमानी संस्कार कैसे आ सकते थे। इसी प्रकार महाशय जी ने एक आदर्श महात्मा की अमृतमय वाणी पर निष्कारण विष उगल कर साधारण जनता को सत्य ज्ञानामृत के पान से वंचित करने का महाभयंकर प्रयत्न किया है। ऐसे ही मनुष्य महात्माओं के कल्याण कारक मार्ग से संसार को विचलित कर देते हैं, इसी कारण इसकी हीनातिहीन दशा होती चली जाती है। कोई कोई महाशय एक प्रक्षिप्त साखी के प्रमाण से कबीर साहब का विवाह होना सिद्ध करते हैं, जो कि उनके सर्व वचन और ग्रन्थों से विरुद्ध है।

कबीर साहब की शिक्षा से लाभ

कबीर साहब ने परस्पर विरोधी नाना धर्म और मजहबों से फैली हुई अशान्ति को दूर करने के लिये सर्वधर्मानुमोदित "**सनातन आर्य-मानव-धर्म**" (आत्म-धर्म, राष्ट्रीय-धर्म) का सारे संसार को उपदेश देकर अनेकता में एकता स्थापन करने का अविश्रान्त प्रयत्न किया है। "शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः" "आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः" तथा "उदार चरितानांतु वसुधैव कुटुम्बकम्" इत्यादि आत्म-धर्म का आदर्श कबीर गुरु के इन पद्यों में पूर्णतया वर्तमान है। इन पद्यों के पर्यालोचन से तो स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि राष्ट्रधर्म के सर्व प्रथम प्रचारक कबीर गुरु ही थे। कितनी सरल भाषा में कल्याणकारी सर्वोच्च सिद्धान्त रख दिया है।

"भाइ रे! दुइ जगदीस कहाँ ते आया, कहु कवने भरमाया।
अल्लह राम करीमा केसो, हरि हजरत नाम धराया॥
गहना एक कनक ते गहना इनि महँ भाव न दूजा।

कहन सुनन को दुइ करिथापिनि एक निमाज एक पूजा ॥
वही महादेव वही महम्मद ब्रह्मा आदम कहिये।
को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जिमींपर रहिये ॥
बेद कितेब पढैं वै कुतबा वै मोलना वै पांड़े।
बेगरि बेगरि नाम धराये एक मटिया के भाँड़े ॥
कहँहिं कबीर वे दूनों भूले रामहिं किनहु न पाया।
वै खँस्सी वै गाय कटावैं बादहि जनम गँवाया ॥"
तथा "लख चौरासी नाना बासन सो सब सरि भौ माँटी।
एकै पाट सकल बैठाये छूत लेत धौं काटी।" इत्यादि।

"धर्म्मो यो बाधते धर्म न स धर्मः कुधर्म तत्। धर्माविरोधी यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रमः ॥" जो धर्म दूसरे धर्म का बाधक है वह धर्म नहीं कुधर्म है। और जो धर्म दूसरे धर्म का अविरोधी है वह पराक्रम शील सत्य धर्म है। इस कथन के अनुसार कबीर साहब का बताया हुआ उदार धर्म "सत्य धर्म" है। और सत्य ही के आश्रयण से "सत्यमेव विजयते नानृतम्" के अनुसार परम शान्ति और परम सुख (सच्चा स्वराज्य) मिलता है; अतः जब तक संसार इस निष्कंटक सत्य-पथ का अनुसरण नहीं करेगा तब तक एकता और शान्ति के लिए किये हुए प्रयत्न कदापि सफल न होंगे।

—:०:—

बीजक-सार सिद्धान्त, बीजक-माहात्म्य तथा पाठ-फल

बीजक कहिये साखि धन, धन का कहै संदेस।
आतम धन जेहि ठौर है, बचन कबिर उपदेस ॥१॥
देखे बीजक हाथ ले, पावे धन तेहि सोध।
याते बीजक नाम भौ, माया मन का बोध ॥२॥
आस्ति आतमाराम है, माया मन कृत नास्ति।
याकी पारख लखे जथा, बीजक गुरु मुख आस्ति ॥३॥
पढ़ै गुने अति प्रीति जुत, ठहरि के करै बिचार।
थिरताबुधि पावै सही, बचन कबिर निरधार ॥४॥
सारसब्द टकसार है, बीजक याको नाम।
गुरु कि दया से परख भा, बचन कबीर तमाम ॥५॥
पारख बिनु परचै नहीं, बिनु सतसंग न जान।
दुबिधा तजि निरभै रहै, सोई संत सुजान ॥६॥
नीर छीर निरनय करे, हंस लच्छ सहिदान।
दयारूप थिर पद रहे, सो पारख पहिचान ॥७॥
देहमान अभिमान के, निरहंकारी होय।
बरन करम कूल जाति ते, हंस निनारा होय ॥८॥
जग बिलास है देहको, साधो करो बिचार।
सेवा साधन मन करम (ते) दया भक्ति उरधार ॥९॥

—:o:—

श्रीसद्गुरुस्तुतिः संक्षिप्तजीवनचरितञ्च ।

आदौ फुल्लकुशेशयप्रविलसत्कासारमध्येऽभव
त्काश्यां शैशवरूपिणोऽवतरणं श्रीमत्कवीरस्य वै ।
लीलामानुषविग्रहस्य नयनं नीरूनिमाभ्यां कृतम्,
रामानन्दमनस्विनःपुनरभूच्छिष्यत्वमस्यप्रभोः ॥१॥
पश्चाद्वादिकदम्बकुञ्जरहरे राश्चर्यमय्योऽभव
ल्लीलाःशक्तिविकाशनञ्च पुरतो माहम्मदक्षोणिप :
पश्चाज्जीवनमद्भुतं कृतमभूत्कम्मालिकम्मालयोः
पश्चाद्वेलकस्य रक्षण महो दूरात्कृतंवद्वित ॥२॥
पारावारविघट्टनं मुररिपो रावाससंस्थापनम् ।
गोरक्षस्य ततः स्वयोगकलया दर्पोपसम्मर्दनम् ॥
संसाराम्बुधिसेतुरूपमचलं संस्थाप्यधर्मं निज-
मन्तर्धानमजन्मनो मगहरे जातश्चरित्रं गुरो : ॥३॥

—:o:—

वक्तव्य

सद्गुरु के अपार अनुग्रह से इस ग्रन्थ की शीघ्र ही द्विरावृत्ति हो गयी। प्रेमी पाठकों ने जिस प्रेम से इसको अपनाया, वह अवर्णनीय है। सम्मानित विद्वानों की सम्मतियों में से कुछ सम्मतियाँ अन्यत्र प्रकाशित की जाती हैं। मिथ्या आडंबरों को दूर करने वाली गुरु कबीर की वाणियों का (अधिक मात्रा में) सर्वत्र प्रचार होना चाहिये। कबीर साहब निर्भीक कवि और महात्मा दोनों थे; इसी कारण उनके उपदेश से संसार को अधिक प्रकाश और शान्ति मिल सकती है।

गत पौष की 'माधुरी' में श्रीमान् अवध उपाध्याय जी ने यह आक्षेप प्रकाशित किया है कि मैं कबीर साहब को कवि नहीं मानता। भूमिका के जिस अंश का उन्होंने अधूरा उद्धरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है, वह अंश तो कवि और महात्माओं की विशेषता दिखलाने के लिए लिखा गया था। यह वार्ता उसके शेषांश से स्पष्ट है "यही कवि और महात्माओं में विशेषता है। उनकी रचना में जो कुछ अलंकार आदिक आ जाते हैं, वे स्वाभाविक हैं। उनके लिए ऊहापोह या आवा-पाद्वाप उनको नहीं करना पड़ता है" (भू० पृ० ३७) अन्यत्र भी मैंने यह कहीं नहीं लिखा है कि वे कवि नहीं थे; प्रत्युत कबीर साहब को मैं एक स्वयंसिद्ध (नैसर्गिक) सर्वोत्तम कवि मानता हूँ, कृत्रिम कवि नहीं।

वर्ण-मैत्री, अनुप्रास-प्रयास तथा अलंकारादिकों के प्रलोभन में पड़े हुए कृत्रिम कवियों को स्वयंसिद्ध कवि सुलभ आत्मालोक नहीं प्राप्त हो सकता है। उसके लिए तो आत्म संस्कृति की आवश्यकता है। शुद्ध

हृदय का वर्णन ही कविता है, उसमें कृत्रिमता (काव्याङ्गरीति—आदिकों) को मुख्यतः स्थान ही कहाँ, इसी अभिप्राय से श्रीयुत गोस्वामी जी ने कहा है—"कवि न होउँ नहिं चतुर कहाऊँ। मति अनुरूप राम गुन गाऊं"। अतः जो स्वयं सिद्ध कवि महात्माओं को केवल कवि समझ कर उनकी समालोचना करते हैं, वे भूल करते हैं। कबीर साहब के कवि होने में किस को सन्देह हो सकता है; क्योंकि "कवित्वबीजं प्रतिभानम्" वामनाचार्य के इस सूत्र के अनुसार कबीर साहब में वह प्रतिभा थी जिसके कारण उन्होंने ऐसी धार्मिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी जो कि संसार को सत्पथ पर लाने के लिए दिनोंदिन अधिकाधिक प्रगति कर रही है। किमधिकम्।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः।

प्रथम श्रा० शु० ७
सं० १९८५।

विचारदास
काशी

—:०:—

बीजक की प्रकरण-सूची

प्रकरण	पृष्ठ
रमैनी	१
शब्द	६४
ज्ञान-चौंतीसा	२४६
विप्रमतीसी	२५३
कहरा	२५६
बसंत	२७१
चाचर	२८८
बेली	२६३
बिरहुली	२६७
हिंडोला	३००
साखी	३०५

संक्षिप्त विषय-सूची

रमैनी प्रकरण

विषय	पृष्ठ-संख्या	पद्य-संख्या
सृष्टि—उत्पत्ति	१, १८, २३	१, २, ३
नाना वाणी और कर्मों का जाल	२४	४
द्वन्द्व-फन्द	२५	५
आत्मा की असंगता का वर्णन	२६	६
पूर्व—वृत्तान्न	२७	७
वेदान्त—विचार	२७	८
माया के बन्धनों का कथन	२८	९
बन्धन और उससे छूटने का उपाय	२९	१०
चेतावनी	३०	११
भ्रम-जाल-कथन	३०	१२
मिथ्या आशा	३१	१३
अभिमान और अनेकता	३२	१४
अज्ञान अंधकार और कर्मों का भार	३३	१५
अविद्यारात्रि	३४	१६
गुरूपदेश	३४	१७
कठिनमार्ग	३५	१८
अनाहत शब्द के उपासकों की दशा	३६	१९
नाम उपासकों का कथन	३६	२०
चेतावनी	३७	२१
कर्मबन्धन	३८	२२

विषय	पृष्ठ-संख्या	पद्य-संख्या
उपदेश	३८	२३
संसारी गुरुओं की करनी	३९	२४
शब्द-जाल	४०	२५
रचना-रहस्य	४०	२६
अधिकार-विभाग	४१	२७
मन का ताना बाना	४२	२८
मन की दशा	४२	२९
जैनादिमत समीक्षा	४३	३०
शास्त्रव्यवसायी पंडितों की दशा	४४	३१
ज्ञान की आवश्यकता	४५	३२
स्मृति-विचार	४५	३३
प्रश्न	४६	३४
मिथ्याचार	४६	३५
वाणी की अविषयता	४७	३६
वादिमत-समीक्षा	४८	३७
भ्रमबन्धन	४९	३८
यवन मत और कर्म बन्धन	५०	३९
आदि कथा	५०	४०
अज्ञानान्धकार	५१	४१
आदि-रहस्य	५२	४२
स्वेच्छाचारिता	५२	४३
उद्बोधन (चेतावनी)	५३	४४
संसार की अनित्यता और अज्ञानता	५३	४५
प्रलय का दृश्य	५४	४६
माया की प्रबलता और संसार की अनित्यता	५५	४७

विषय	पृष्ठ-संख्या	पद्य-संख्या
यवन मत-विचार उपदेश और प्रचार	५५	४८
मुसलमानों से प्रश्न	५६	४९
मोहमहिमा	५८	५०
अकथ कथा और ज्ञानियों के लक्षण	५८	५१
आत्म-सन्देश	५९	५२
मन की प्रबलता	६०	५३
शरीरों की अनित्यता और काल की प्रबलता	६०	५४
संसार की अनित्यता	६१	५५
वञ्चक गुरुओं की वञ्चकता	६२	५६
स्वर्ग-लोक और साकेत-पुरी का विचार	६२	५७
सद्गुरूपदेश	६३	५८
हठ योगियों की दशा	६४	५९
उपदेश	६५	६०
धर्म-कथा के व्यवसाइयों की दशा	६६	६१
एक-जाति-वाद तथा मनुष्य-जाति-निरूपण	६६	६२
वर्ण-विचार	६७	६३
आत्म-रति और अनात्म-संसर्ग	६८	६४
उपदेश	७०	६५
सच्चे और झूँठे गुरुओं की पहचान तथा शिष्य और कुशिष्यों के लक्षण	७१	६६
आत्म-रत और अनात्म-रतों के लक्षण तथा आत्म सन्देश	७३	६७
प्रपंच-परायणता तथा आत्म (स्वरूप) विस्मृति का फल	७३	६८
शैवादि-वेष-धारियों की दशा	७५	६९

विषय	पृष्ठ-संख्या	पद्य-संख्या
उपदेश विचार (वचन विचार)	७५	७०
शैव हठ-योगियों की तथा वाचक-ब्रह्म-ज्ञानियों की दशा	७६	७१
माया की प्रबलता	७८	७२
आत्म-विमुख-वृत्ति	७९	७३
रचना-रहस्य और आचार-विचार	८१	७४
अवतार-वाद	८४	७५
माया फाँस और उसका विनाश	८५	७६
काल पुरुष और जीव का स्वरूप	८६	७७
नर-तन के साक्षी और ग्राहक	८७	७८
माया और वाणी की दशा	८८	७९
विवेक की आवश्यकता	८८	८०
शील-सुधार और माया की प्रबलता	८९	८१
माया-नाटक	८९	८२
क्षत्रिय-कर्तव्य-विचार	९१	८३
उद्‌बोधन चेतावनी	९२	८४

शब्द प्रकरण

सद्‌गुरु भक्ति	९७	१
उद्‌बोध महिमा	९६	२
घर का झगड़ा	१०१	३
भ्रम भूत विचार	१०२	४
माया की प्रबलता वर्णन	१०३	५
माया का लीला बिहार	१०४	६
चेतन की सत्ता, व्यापकता तथा प्रकाशता का वर्णन	१०५	७

विषय	पृष्ठ-संख्या	पद्य-संख्या
मायिक अवतारों का वर्णन	१०६	८
कठिन समस्या	१०७	९
हिन्दू और मुसलमानों के मतों की आलोचना	१०८	१०
पुरोहितों की समालोचना	१०९	११
प्रेम प्रपा और आत्म-तुष्टि	११०	१२
माया की प्रबलता और उससे छूटने का उपाय	११०	१३
अध्यास-फाँस	११२	१४
माया की रचना	११२	१५
अनहद उपासना	११४	१६
हिंसारत प्रतिग्रह-परायण ब्राह्मणों की दशा	११६	१७
अवतार-मीमांसा	११७	१८
निज रूप (राम) के जानने के साधन	११८	१९
रामरस का पान	१२०	२०
भ्रम और आडम्बर	१२२	२१
सत्य-पद प्रदर्शन	१२२	२२
प्रकृति वैचित्र्य	१२३	२३
विहँगम मार्ग और मीन मार्ग समीक्षा	१२५	२४
हठयोग समीक्षा	१२७	२५
भक्ति-विचार	१३०	२६
विश्वास-दर्शन, ज्ञान लक्षणाभक्ति	१३१	२७
वाणी विस्तार	१३२	२८
ब्रह्मज्योति आदिक अनात्मोपासकों को उपदेश	१३५	२९
राम और रहीम की एकता	१३६	३०
प्रपंची गुरुओं की संगति का फल	१३७	३१
शिक्षा और उद्बोधन	१४०	३२

विषय	पृष्ठ-संख्या	पद्य-संख्या
शरीर वियोग (अन्तिम दृश्य)	१४०	३३
निज भक्तों के लक्षण तथा हंस स्थिति	१४१	३४
नामोपासकों की धारणा	१४१	३५
मोह-जाल	१४२	३६
प्राण-वियोग	१४३	३७
गुरु-पद	१४३	३८
आत्मविमुखता	१४४	३९
अन्धविश्वास	१४६	४०
छुआछूत विचार	१४६	४१
ज्ञानियों की स्थिति	१४८	४२
स्वरूप स्थिति एवं तत्व-विचार	१४९	४३
अनोखी नारी	१४९	४४
मृत्यु-विचार	१५२	४५
मांसाहारी ब्राह्मणों से प्रश्न	१५२	४६
जल-विचार	१५३	४७
आत्म-विचार	१५५	४८
आत्मा की ज्ञानरूपता का वर्णन	१५६	४९
विश्ववृत्त	१५७	५०
मन की लीला	१५८	५१
अनधिकार चर्चा	११६	५२
संसारतरु	१६५	५३
अंध परम्परा	१६६	५४
मिथ्या विवाह	१७०	५५
सुरति (वृत्ति) के निरोध की आवश्यकता	१७३	५६
वन्ध्याज्ञानी (वाचक ज्ञानी) और हठ योगियों की दशा	१७४	५७

विषय	पृष्ठ-संख्या	पद्य-संख्या
कामना-अग्नि विचार	१७६	५८
माया-विचार	१७७	५९
अहिंसा-विचार	१७८	६०
अन्त दशा-विचार	१७९	६१
सहज-भावना-विचार	१७९	६२
कल्पना-विचार	१८०	६३
नाम सुमिरन का उपदेश	१८१	६४
हठयोगियों की गति	१८४	६५
अमृत वल्ली	१८५	६६
बीजेश्वर वादियों के मत की आलोचना	१८७	६७
मन की कल्पना	१८८	६८
शब्द और शब्दी विचार	१९१	६९
मांसभक्षण विचार	१९२	७०
चेतन की व्यापकता का विचार	१९३	७१
शरीर की असारता और विनाशिता का वर्णन	१९४	७२
भारी भ्रम	१९५	७३
जीवात्मा के स्वरूप का परिचय	१९६	७४
एक जाति (मनुष्य जाति) वाद	१९८	७५
निज-भ्रम-विचार	१९९	७६
स्वावलम्बन-विचार	२००	७७
ज्ञानोदय दशा का वर्णन	२०१	७८
शून्यवाद निराश तथा आत्मोन्मुखता	२०१	७९
जीवित-मुक्ति-विचार	२०२	८०
सुगम भक्ति (रामोपासना) का विचार	२०३	८१
षट् चक्र विचार	२०४	८२

विषय	पृष्ठ-संख्या	पद्य-संख्या
हिंसा और अभक्ष्य-भक्षण-विचार	२०७	८३
हिन्दू जाति और तुरुक जाति का विचार	२०८	८४
धन और धाम की ममता का विचार	२१०	८५
वासना-विचार और स्वरूप स्थिति	२१०	८६
मन रूपी शिकारी और हठ योगियों का वर्णन	२१३	८७
मनमाया रूप मृगमांस के लोलुपों का वर्णन	२१४	८८
चेतावनी	२१५	८९
स्मरणीय वस्तु 'तत्व'	२१६	९०
दुःखमय जगत्	२१७	९१
मनोविज्ञान	२१७	९२
संसार-व्यवहार	२१८	९३
ब्रह्मज्योति के उपासकों से प्रश्न	२१९	९४
कलियुगी गुरु	२२०	९५
काल की प्रबलता का विचार	२२२	९६
राम और रहीम की एकता तथा पाखंड-विचार	२२२	९७
नाम-चर्चा और आदि कथा	२२४	९८
अन्तिम अवस्था का विचार	२२५	९९
आत्म सम्बन्ध-विचार	२२५	१००
सुरति योग (विहंगम मार्ग)	२२७	१०१
प्रेमोपालम्भ और दयापूर्वक उपदेश	२३१	१०२
संम्वाद	२३१	१०३
सम्वाद या उपदेश	२३३	१०४
भ्रम भूत-विचार	२३३	१०५
अनात्मोपासकों का अन्तिम पश्चात्ताप	२३४	१०६
कर्म और कामनाओं का विचार	२३४	१०७

विषय	पृष्ठ-संख्या	पद्य-संख्या
काशी-काया-वियोग (उपासकों की अन्तिमावस्था)	२३५	१०८
अवतारोपासना का विचार	२३६	१०९
प्रारब्ध-फल-विचार	२३७	११०
जीव पर मन की सेना का आक्रमण	२३८	१११
आत्मदर्शन तथा आत्मपरिचय	२४०	११२
मन का साम्राज्य	२४२	११३
तत्त्वोपदेश	२४३	११४
स्वरूप विस्मृति का वर्णन	२४५	११५

ज्ञान चौंतीसा

हठयोगसमीक्षा	२४६	१

विप्रमतीसी

ब्राह्मणोचित धर्म का उपदेश	२५३	१

कहरा

योग में भोग और उसका खंडन	२५६	१
आत्म-प्रीति	२५९	२
आत्मपूजा	२६०	३
राम के व्यापारी	२६१	४
संसार की असारता का विचार	२६२	५
आत्म-परिचय की आवश्यकता का उल्लेख	२६३	६
कृत्रिम वेश	२६३	७
संसार की असारता और विनाशिता	२६४	८
शरीर की हीनता और अनित्यता	२६५	९
रामराज का आत्म-परिचय और रामकहानी	२६६	१०
कुमति और अविद्या का कलह	२६८	११

विषय	पृष्ठ-संख्या	पद्य-संख्या
माया का आखेट खेल	२७०	१२
बसन्त		
नित्य बसंत और अनित्य बसन्त का वर्णन	२७१	१
मायिक बसन्त का वर्णन	२७२	२
कर्मी और उपासकों की सम्मिलित प्रार्थना	२७४	३
झीनी माया	२७५	४
माया की प्रबलता का विचार	२७७	५
अविद्या के दास	२७९	६
माया नारी का गृह-कलह	२८१	७
माया कठपूतली का रूपक	२८२	८
माया का विद्युल्लिलास (अस्थिरता)	२८३	९
अहंकार की प्रबलता का विचार	२८४	१०
काशी सेवन विधि	२८५	११
प्रबोधन	२८८	१२
चाचर		
माया का फगुआ खेल	२८८	१
धोखे की टट्टी	२९१	२
बेली		
हंसोद्बोधन चेतावनी	२९३	१
जीवोद्बोधन चेतावनी	२९५	२
बिरहुली		
तत्त्वोपदेश-गारुडमन्त्र	२९७	१

विषय	पृष्ठ-संख्या	पद्य-संख्या
हिंडोला		
भ्रम का झूला	३००	१
मनमोहन झूले की रसीली पैंग	३०३	२
उक्त झूले की लोकप्रियता का विचार	३०४	३
साखी		
कबीर साहब की शिक्षा के सूत्र रूप साखियाँ	३०५	१—३५३

बाखरि[1] एक बिधाते कीन्हा चौदह ठहर पाट सो लीन्हा।
हरि[2] हर ब्रह्मा महतो नाऊँ तिन्ह पुनि तीनि बसावल गाऊँ।
तिन्ह[1] पुनि रचल खंड ब्रह्मंडा छव दरसन छानवे पाखंडा।
पेटे[1] काहुन बेद पढ़ाया सुनति+कराय तुरुक नहिं आया।
नारी[3] मो चित गरभ-प्रसूती स्त्रांग धरे बहुतै करतूती।
तहिया[4] हम तुम एकै लोहू एकै प्रान बियापै मोहू।
एकै[5] जनी जना संसारा कवन ज्ञान ते भयउ निनारा।
भौ[10] बालक भग-द्वारे आया भग×भोग के पुरुष कहाया।
अबिगति[11] की[12] गति काहु न जानी एक जीभ कित कहौं बखानी।
जो मुख होय जीभ दस-लाखा तो कोइ आय महन्तो भाखा।

साखी—कहँहिं[13] कबीर पुकारिके, ई ले † ऊ व्यवहार।
राम-नाम जाने बिना, बूड़ि मुवा संसार॥

❀ टीका ❀

संसारदावानलदह्यमानान्, विलोक्य जीवान् करुणार्णवो द्राक्।
वचोऽमृतं यो विमलं ववर्ष, तं वारिवाहं कमपि प्रणौमि।

यद्गवीभानुभाभिन्नाः, प्रयान्ति तमसश्छटाः।
अमन्दानन्दसन्दोह, मीडे तं सद्गुरुं परम्॥
यत्कृपालेशतो जातो, विचारोऽयं सताम्मतः।

+सुनति कराये इ तुरुकन आया।
×भाग भोगेते। † ई लयऊ। ई वो इली।

१ श्लेष की महिमा से इसके दो अर्थ होते हैं। कैवल्य-पदासीन (लीन) परम-हंस-प्रवर गुरुवर श्री६ जगन्नाथदास जी साहब। दूसरे पक्ष में अन्तर्यामी। विचार=ग्रन्थकी टीकादिक सम्पादन रूप। दूसरे पक्ष में यह तुच्छ विचारदास।

कृपालुन्तमहं वन्दे, जगन्नाथं गुरुं वरम्।
क्वाय दुस्तरपाथोधिः क्वाहं भीरु रसाधनः।
जगन्नाथपदध्यानं तरीभवतु मेऽधुना।
अमूर्तेनापि मूर्तेनाऽक्रमं रामेण नोदितः।
विदधे पाठकप्रीत्यै, बीजकार्थप्रबोधिनीम्॥

'ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण से शिष्टाचार का परिपालन तथा आस्तिकता का द्योतन होता है' इस बात की शिक्षा देते हुए कबीर साहब ने भी जोति पद से प्रत्यक्चेतन (अन्तरात्मरूप परमात्मा) का स्मरण करके सृष्टि-कथन रूप वस्तु निर्देशात्मक मंगल का अनुष्ठान किया है। इसा ग्रन्थ में पहली दूसरी और तीसरी रमैनी में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। सृष्टि-वर्णन का तात्पर्य आत्म-कैवल्य प्रति-पादन में ही है, और यही 'आत्म-कैवल्य' इस ग्रन्थ का विषय है। 'केवल ज्ञान कबीर का विरले जन जाना।' और सर्वानर्थ निवृत्ति तथा परमानन्द (परम शान्ति) की प्राप्तिरूप परम प्रयोजन है। एवं उसका साक्षात्साधन आत्म-कैवल्य-ज्ञान है। और विवेक (पारख) वैराग्यादि साधन-सम्पत्ति वाले इसके अधिकारी हैं। और निरूप्य निरूपक भाव तथा बोध्य-बोधक भाव रूप सम्बन्ध हैं।

सूचना—यह बीजक का संक्षिप्त अनुबन्ध चतुष्टय है। ग्रन्थ-विस्तर भय से इन सबों की लक्षणादि द्वारा विस्तृत विवेचना नहीं की गयी है, इसी प्रकार आगे भी अन्यान्य पदार्थों के निरूपणादिक में उक्त भय से संक्षिप्तता का ही अनुसरण किया गया है।

यद्यपि मुक्ति का साक्षात्साधन आत्म-कैवल्य ज्ञान (आत्मासंगता ज्ञान) ही है, सृष्टि (रचना) ज्ञान नहीं, इस कारण प्रथमतः लोकादि रचना का वर्णन आपाततः असंगत सा मालूम पड़ता है, तथापि सूक्ष्म विचार करने से यह असंगति-ज्ञान दूर हो जाता है क्योंकि निजपद के

वाखरि[३] एक बिधाते कीन्हा चौदह ठहर पाट सो लीन्हा।
हरि[४] हर ब्रह्मा महतो नाऊँ तिन्ह पुनि तीनि बसावल गाऊँ।
तिन्ह[५] पुनि रचल खंड ब्रह्मंडा छव दरसन छानवे पाखंडा।
पेटे[६] काहुन बेद पढ़ाया सुनति+कराय तुरुक नहिं आया।
नारी[७] मो चित गरभ-प्रसूती स्त्रांग धरे बहुतै करतूती।
तहिया[८] हम तुम एकै लोहू एकै प्रान बियापै मोहू।
एकै[९] जनी जना संसारा कवन ज्ञान ते भयउ निनारा।
भौ[१०] बालक भग-द्वारे आया भग×भोग के पुरुष कहाया।
अबिगति[११] की[१२] गति काहु न जानी एक जीभ कित कहौं बखानी।
जो मुख होय जीभ दस-लाखा तो कोइ आय महन्तो भाखा।

साखी—कहँहिं[१३] कबीर पुकारिके, ई ले † ऊ व्यवहार।
राम-नाम जाने बिना, बूड़ि मुवा संसार॥

❀ टीका ❀

संसारदावानलदह्यमानान्, विलोक्य जीवान् करुणार्णवो द्राक्।
वचोऽमृतं यो विमलं ववर्ष, तं वारिवाहं कमपि प्रणौमि।

यद्गवीभानुभाभिन्नाः, प्रयान्ति तमसश्छटाः।
अमन्दानन्दसन्दोह, मीडे तं सद्गुरुं परम्॥
यत्कृपालेशतो जातो, विचारोऽयं सताम्मतः।

+सुनति कराये इ तुरुकन आया।
×भाग भोगेते। † ई लयऊ। ई वो इली।

१ श्लेष की महिमा से इसके दो अर्थ होते हैं। कैवल्य-पदासीन (लीन) परम-हंस-प्रवर गुरुवर श्री६ जगन्नाथदास जी साहब। दूसरे पक्ष में अन्तर्यामी। विचार=ग्रन्थकी टीकादिक सम्पादन रूप। दूसरे पक्ष में यह तुच्छ विचारदास।

कृपालुन्तमहं वन्दे, जगन्नाथं गुरुं वरम्।
क्वाय दुस्तरपाथोधिः क्वाहं भीरु रसाधनः।
जगन्नाथपदध्यानं तरीभवतु मेऽधुना।
अमूर्तेनापि मूर्तेनाऽक्रमं रामेण नोदितः।
विदधे पाठकप्रीत्यै, बीजकार्थप्रबोधिनीम्॥

'ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण से शिष्टाचार का परिपालन तथा आस्तिकता का द्योतन होता है' इस बात की शिक्षा देते हुए कबीर साहब ने भी जोति पद से प्रत्यक्चेतन (अन्तरात्मरूप परमात्मा) का स्मरण करके सृष्टि-कथन रूप वस्तु निर्देशात्मक मंगल का अनुष्ठान किया है। इस ग्रन्थ में पहली दूसरी और तीसरी रमैनी में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। सृष्टि-वर्णन का तात्पर्य आत्म-कैवल्य प्रति-पादन में ही है, और यही 'आत्म-कैवल्य' इस ग्रन्थ का विषय है। 'केवल ज्ञान कबीर का विरले जन जाना।' और सर्वानर्थ निवृत्ति तथा परमानन्द (परम शान्ति) की प्राप्तिरूप परम प्रयोजन है। एवं उसका साक्षात्साधन आत्म-कैवल्य-ज्ञान है। और विवेक (पारख) वैराग्यादि साधन-सम्पत्ति वाले इसके अधिकारी हैं। और निरूप्य निरूपक भाव तथा बोध्य-बोधक भाव रूप सम्बन्ध हैं।

सूचना—यह बीजक का संक्षिप्त अनुबन्ध चतुष्टय है। ग्रन्थ-विस्तर भय से इन सबों की लक्षणादि द्वारा विस्तृत विवेचना नहीं की गयी है, इसी प्रकार आगे भी अन्यान्य पदार्थों के निरूपणादिक में उक्त भय से संक्षिप्तता का ही अनुसरण किया गया है।

यद्यपि मुक्ति का साक्षात्साधन आत्म-कैवल्य ज्ञान (आत्मासंगता ज्ञान) ही है, सृष्टि (रचना) ज्ञान नहीं, इस कारण प्रथमतः लोकादि रचना का वर्णन आपाततः असंगत सा मालूम पड़ता है, तथापि सूक्ष्म विचार करने से यह असंगति-ज्ञान दूर हो जाता है क्योंकि निजपद के

साक्षात् वेत्ता महात्माओं का यह मत है कि 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चयते। शिष्याणां सुखबोधाय तत्त्वज्ञैर्विहितः क्रमः' ॥ अर्थात्—अध्यारोप (प्रपञ्च रोप) तथा अपवाद (प्रपंच का बोध) द्वारा ही प्रपंचाभाव का बोध कराया जा सकता है अतः सर्व प्रथम किया हुआ जगदुत्पत्ति का वर्णन भी 'चिन्तां प्रकृतसिद्धयर्थामुपोद्घातं विदुर्बुधाः।' (अर्थात् प्रकृत [इष्ट] की सिद्धि के लिए की हुई चिन्ता को उपोद्घात कहते हैं।)इस लक्षित उपोद्घात रूप संगति से संगत (समीचीन) ही है। यहाँ पर आत्म कैवल्य ज्ञान कराना अभिमत है, और यह सृष्टि का वर्णन उसका साधक है, इसलिये उपोद्घात का स्वरूप बन जाता है। इस ग्रन्थ में 'अंतर जोति' इत्यादिक सृष्टि प्रतिपादक पद्यों से अध्यारोपक तथा "बिनसै नाग गरुड़ गलि जाई।" इत्यादिक पद्यों से अपवाद का विधान बाहुल्येन किया गया है।

उपक्रम

कबीर साहब के मत में भी आत्मा, (चेतन-पुरुष) और अनात्मा (जड़, प्रकृति, माया) ये दो पदार्थ अनादि माने गये हैं। उनमें से चेतन आत्मा तो अनादि अनन्त और प्रकाश रूप है। जैसा कि श्रुति का वचन है, कि 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमाविद्युतोभान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' अर्थात् चैतन्य में सूर्य, चन्द्र, तारे और बिजली भी प्रकाश नहीं कर सकती तब अग्नि की तो कथा ही क्या है। प्रकाशमान उस चैतन्य के पीछे सर्व प्रकाशित होते हैं, उसी के प्रकाश से यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित होता है और प्रकृति माता अनादि सान्त और अप्रकाश रूप है, जैसा कि यह श्रुति का वचन है कि 'तमआसीत्तमसागूढ़मग्रे', इत्यादि ऋग्वेद मं० १०। इसी बात को मनुभगवान् ने भी कहा है कि ' आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः' ॥ अ०

१२ श्लो० ५। इस प्रकार चेतन और अचेतन के विवेक करने का फल स्मृति ने वर्णन किया है कि 'य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह। सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते। (गीता)–अर्थात् जो इस प्रकार से गुणों के सहित प्रकृति और पुरुष को जानता है वह सब प्रकार से रहता हुआ भी फिर उत्पन्न नहीं होता है, अर्थात् मुक्त हो जाता है। यहाँ पर यह भी जान लेना आवश्यक है, कि जीव और ईश्वर में वास्तविक भेद नहीं है क्योंकि एक ही चेतन उपाधि-भेद से जीव और ईश्वर रूप होकर भिन्न २ प्रतीत होता है, वास्तव में एक ही पदार्थ है। इस बात को श्रुतियों ने स्पष्ट कर दिया है। ' एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। सर्वाध्यक्षः सर्व भूताधिवास साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' तथा ' आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत् तथात्मैकोह्यनेकस्थो जलधारास्विवांशुमान्' तथा 'एक एवहि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।' स्मृति का भी वचन है कि ' इदं शरीरं कौन्तेय-क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्योवेत्ति तंप्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः, क्षेत्रज्ञंचापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम' भगवद्गीता अ० १३। १–२। और जो चेतन आत्मा में द्वैत की सिद्धि के लिये प्रमाण रूप से 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रय माविश्यविभर्त्यव्यय ईश्वरः, इत्यादिक भेद–प्रतिपादक–वचन उपस्थित किये जाते हैं वे वस्तुतः भेद के साधक नहीं हैं। यह वार्ता इसी स्मृति के कूट थ पद के व्याख्यान से स्पष्ट हो जाती है। जैसा कि भगवान् शंकराचार्य ने गीता भाष्य में वर्णन किया है। 'कौतौ पुरुषावित्याह स्वयमेव भगवान् क्षरः सर्वाणि भूतानि समस्तविकार जातमित्यर्थः। कूटस्थःकूटोराशी राशिरिवस्थितः। अथवा कूटो माया वञ्चना जिह्मं कुटिलं वेति पर्य्यायाः। अनेकमायादिप्रकारेणस्थितः कूटस्थः संसार बीजानन्त्यान्नक्षरतीत्यक्षर उच्यते। आभ्यां क्षरा क्षराभ्यां

विलक्षणः क्षराक्षरोपाधिद्वयदोषेणाःपृष्टोनित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः । उत्तम उत्कृष्टतमः पुरुषस्त्वन्योऽत्यन्तविलक्षण आभ्याम् । परमात्मेति परमश्चासावात्मा च देहाद्यविद्याकृतात्मभ्योऽन्नमयादिभ्यः पञ्चभ्य आत्मा च सर्वभूतानां प्रत्यक्चेतन इत्यतः परमात्मेत्युदाहृत उक्तो वेदान्तेषु स एव विशिष्यते' इत्यादि । इसी प्रकार 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं, वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ।' [मुण्डक और श्वेताश्वतर उपनिषद्] इत्यादि स्थलों में भी यही रहस्य समझना चाहिये । इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवात्मा से परमात्मा वस्तुतः भिन्न नहीं है अतः चेतन और माया दोही पदार्थ अनादि हैं । माया के विषय में यह भी जान लेना चाहिये कि उसकी सत्ता चेतन से पृथक् नहीं है, क्योंकि वह स्व (चेतन) आश्रिता है, अतः देवदत्ताश्रित देवदत्त की शक्ति की तरह माया आत्मा में भेद की साधक नहीं है । इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा केवल तथा निर्लेप है, अतएव आत्मकैवल्य ज्ञान से ही मुक्ति होती है, विपरीत इसके जो आत्मा में वस्तुतः भेद बुद्धि करते हैं वे अज्ञानता के कारण जन्म मरण रूप क्लेश को प्राप्त होते हैं, यह वार्ता भेद निषेधक श्रुति समुदाय से स्पष्ट है । 'यदाह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयेऽभयंप्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति । यदाह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' इसी प्रकार भेद-बुद्धि-पूर्वक तटस्थेश्वरोपासकों की निन्दा भी श्रुति ने की है यथा "अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न सवेद यथा पशुः" इत्यादि । इससे यह सिद्ध हुआ कि जगदुत्पत्ति के पूर्व एक आत्मा ही था जैसा कि श्रुति का वचन है कि 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन मिषत् ।' इसके पश्चात् शुद्ध सत्व प्रधान माया में चेतन के प्रतिबिम्ब से उक्त चेतन को ईश रूपतापत्ति हुई । और वह ईश्वर माया की सत्त्व शुद्धिता के कारण सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् तथा न्यायकारी और दयालु हुआ । अनन्तर चेतनाश्रित माया के गुणों में

क्षोभ उत्पन्न होने से हिरण्यगर्भ = समष्टिसूक्ष्मशरीराभिमानी मन (निरञ्जन) की उत्पत्ति हुई जैसा कि वर्णन किया है कि 'गुणक्षोभे जायमाने महान् प्रादुर्बभूवह । मनोमहाँश्च विज्ञेय एकं तद्वृत्तिभेदतः ' अनन्तर माया में प्रतिबिम्बित चेतन रूप ईश्वर ने इच्छा की कि मैं बहुत रूप से प्रकट होऊँ, जैसा कि श्रुति—वचन है कि 'सऐक्षत लोकान्नु सृजा इति ' तथा ' सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदँ सर्वमसृजत यदिद किञ्च' महदादि, की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि ' गुणक्षोभे जायमाने महान् प्रादुर्बभूवह । मनो महाँ-श्चविज्ञेयएकं तत्वृत्ति भेदतः । ' इस प्रकार ईश्वरेच्छा से होने वाली रचना में प्रथम त्रिगुण प्रधान ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजी की उत्पत्ति हुई । वस्तुतः मायोपाधिक ईश्वरही गुण-त्रय की उपाधि से त्रिदेव रूप होकर सर्जन पालन और संहार रूप कार्यों को किया करता है जैसी कि कैवल्य श्रुति है कि " स ब्रह्मा, स विष्णु स रुद्रः । ' तथा ' एकैव मूर्ति र्विभिदे त्रिधासौ । ' इत्यादिक वचन हैं । इस प्रकार सूक्ष्म भूत क्रम से त्रिदेव सृष्टि के अनन्तर स्थूल भूत सृष्टि पूर्वक भौतिक सृष्टि हुई । जैसा कि वर्णन किया है कि "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथ्वी, पृथिव्या औषधयः, औषधीभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, सवा एष पुरुषोऽन्नरस मयः ।"

शब्दार्थ

१—प्रपंचोत्पत्ति के पूर्व भी अंतरजोति = प्रत्यक्चेतन अन्तरात्मा विद्यमान था । चेतन आत्मा निर्पेक्षप्रकाशशील होने के कारण अन्तर्ज्योतिः, परमज्योतिः, और स्वयं ज्योतिः, आदिक अन्वर्थ नामों से ज्ञात होता है जैसाकि श्रुति और स्मृतियों ने वर्णन किया है कि 'परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् । यदतः परोदिवोज्योतिर्दीप्यते, तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः' । इसी बात को

गीता स्मृति ने भी कहा है कि 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।' श्रीमद्भागवत के एकादश-स्कन्धस्थ श्लोक में भी यही वार्ता कही गयी है कि 'एष स्वयं ज्योतिरजोऽप्रमेयो महानुभूतिः सकलानुभूतिः एकोऽद्वितीयो वचसां विरामे येनेषिता वागसवश्चरन्ति' ॥ यद्यपि ज्योतिः शब्द से जहाँ तहाँ मन आदिकों का भी अभिधान किया गया है (इस विषय को आगे स्पष्ट किया जायगा) तथापि वे स्वयं ज्योतिः अर्थात् निर्पेक्ष प्रकाश वाले नहीं है किन्तु प्रकाशकों के भी प्रकाशक आत्मा से प्रकाशित होकर प्रदीप की तरह दूसरों को प्रकाशित करते रहते हैं, यह वार्ता "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति" इत्यादि उपनिषद् वचनों से स्पष्ट है । इस प्रसंग में यह रहस्य प्रकट कर देना भी आवश्यक है कि अनात्मोपासक लोग भ्रम से उक्त ज्योतिः स्वरूप, मन (पारिभाषिक निरंजन) आदिकों की आत्म भाव से उपासना करते हैं । इसी अध्यास के कारण वे आत्म-साक्षात्कार से वंचित होकर संसृति-चक्र में पड़े हुए सदैव घूमा करते हैं ; क्योंकि मन साक्षात् यमराज है, इसी अभिप्राय से परतो ज्योतिः स्वरूप मन की उपासना का निषेध 'जोति सरूपी हाकिमा जिन अमल पसारा हो । करम की वंसी लाय के पकरयो जग सारा हो ॥ अमल मिटावो तासुका पठवौं भव हारा हो । कहँहिं कबीर निरभय करौं परखो टकसारा हो, (टकसार=स्वरूप, सत्यपद; चेतन) इत्यादिक वचनों से किया गया है । इससे यह सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त केवल शुद्ध चेतन पुरुष (आत्मा) ही सत्य पुरुष है, और मन आदिक बन्धन कारक असत्य पुरुष हैं, इस प्रकार विवेक (पारख) द्वारा सत्य पुरुष के स्वरूप को समझकर उसके साक्षात्कार के लिये निरन्तर और आदर पूर्वक उपासना (आत्मचिन्तन) करनी चाहिये । अब प्रकृत बात पर आता हूँ । वही स्वयं ज्योति शुद्ध-चेतन शुद्धसत्वप्रधान माया रूप उपाधि से ईशरूपता को प्राप्त होकर पुनः गुणत्रयोपाधि से ब्रह्मा, विष्णु और शिव नाम से प्रसिद्ध होता है अनन्तर वही ईश्वर स्वनिर्मित नाना

शरीरों में प्रवेश करता हुआ प्राणों के धारण करने के कारण जीव शब्द से व्यपदिष्ट होता है, अतः जीव और ईश में औपाधिक भेद के अतिरिक्त वस्तुतः भेद नहीं है, बल्कि यों करना चाहिये कि ईश्वर ही जीव रूप से स्थित होकर सम्पूर्ण व्यवहारों को सिद्ध करता है। जैसा कि श्रुतियों में वर्णित है 'अनेनजीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि, तथा 'योऽयंविज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः' अर्थात् जो यह विज्ञान रूप है, और प्राणों के मध्य हृदय के बीच में प्रकाशमान है वही परमात्मा है। तथा 'स ब्रह्मा, स विष्णुः, स रुद्र इति। यह अन्तर जोति पद का अर्थ हुआ, अब नारी पद का अर्थ किया जाता है। यद्यपि अन्तर जोति पद की व्याख्या के अनन्तर शब्दों के क्रम से क्रम प्राप्त शब्द पद की व्याख्या करनी चाहिये, "तथापि अग्निहोत्रं जुहोति, यवागुं पचति' इस स्थल में कहे हुए 'शब्द क्रमादर्थक्रमो बलीयान्' अर्थात् शब्दों के क्रम से अर्थों का क्रम बलवान् होता है। इस मैमांसिक अर्थक्रम न्याय के अनुसार यहाँ पर अर्थ-क्रम के अनुरोध से प्रथमतः नारी पद का अर्थ बताना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि शब्द नियमतः संयोगज, विभागज और शब्दज हुआ करते हैं, इस कारण 'दो बिनु होय न काजिका काजा। दो बिनु होय न अधर अवाजा॥' इस लौकिक आभाणक के अनुसार केवल असंहत चेतन से ॐ-कार रूप शब्द की उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि शब्दोत्पत्ति का यह क्रम है कि 'आकाशवायुप्रभवः शरीरात्समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः" अर्थात् जब बोलने की इच्छा होती है तब प्रयत्न विशेष से प्रेरित हुआ नाभिस्थ-वायु आकाश से संयुक्त होकर नाद रूप को धारण करता है, अनन्तर ऊपर की ओर जाता हुआ कण्ठादि स्थानों में विभक्त होकर ककारादि वर्ण भाव को जो प्राप्त होता है वह शब्द कहाता है। "नयति संसृतिमिति नारी" अर्थात् जो अज्ञानियों को संसार में भ्रमण करावे वह नारी है इस

निरुक्ति से नारी पद से यहाँ माया विवक्षित है। और सदैव चेतन पुरुष के आश्रित रहने के कारण भी माया नारीवत् नारी है। 'न स्त्री स्वातन्त्र्य महंति।' (मनु) यहाँ पर पूर्व कथित इस वार्ता का स्मरण रखना आवश्यक है कि 'चेतन' और माया दोनों अनादि हैं। माया की अनादिता का वर्णन चौहत्तरवीं रमैनी में इस प्रकार किया गया है कि 'तहिया गुपुत थून नहिं काया, ताके न सोग ताकि पै माया।' इत्यादि। अनन्तर माया प्रतिबिम्बित चेतन की ईश्वरापत्ति के कारण शब्द ब्रह्म का प्रादुर्भाव हुआ इसके पश्चात् ब्रह्मा ने इसी शब्द की सहकारिता से 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' इस कथन के अनुसार भूर्भुवादि निखिल लोकों की रचना की 'सभूरिति उक्त्वा भुवमसृजत्' तथा 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्चनिर्ममे।' यह शब्द-ब्रह्म संज्ञा ॐकार की भी है यह वार्ता 'आकाशवायु प्रभवः' इसके अवशिष्टांश 'स वै शब्दो ब्रह्मोच्यते ओमित्येतत्' अर्थात् वह शब्द ब्रह्म निश्चय से ॐ ऐसा कहा जाता है। और यहाँ सृष्टि प्रकरण में शब्द पद से ॐकार संज्ञक शब्द ब्रह्म ही प्रकृतोपयोगी होने से विवक्षित है। ॐकार संज्ञक एक महा अंड से विश्वोत्पत्तिका वर्णन कबीर साहब ने भी आगे इसी ग्रन्थ में किया है कि 'एक अंड ॐकार से सब जग भया पसार'। इस रमैनी के प्रथम चरण में 'एक' शब्द दिया गया है जिसका मध्यमणि न्याय से शब्द और नारी दोनों के साथ अन्वय है। पूर्वोक्त शब्द-ब्रह्म 'लोकान्नु सृजा' तथा 'बहुस्यां प्रजायेय' इस प्रकार की इच्छा से प्रेरित हुए महाभूत के निःश्वास से प्रादुर्भूत होता है। अब त्रिवेद सृष्टि का वर्णन किया जाता है। पूर्वोक्त मायोपाधिक ईश्वर ही सत्व, रज और तमोगुण रूप उपाधि से हरि, ब्रह्मा और त्रिपुरारी नाम से कहा जाता है। 'स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रश्च।'

२—उन तीनों देवताओं ने अनन्त ऐश्वर्य और अनेक आकृतियों (चिन्हों) को धारण किया। और यह भी किसी तरह अर्थ हो सकता है

कि उन्हीं से अनेक नारी और नर उत्पन्न हुए। ऐश्वर्यादिक भग शब्द से बोधित होते हैं। जैसे कि ' ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्य्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानविज्ञानयोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना, ' पूर्व वर्णित गुणोपाधिक तीनों देवताओं ने अपनी उत्पत्ति और प्रलय को नहीं जाना क्योंकि कार्य्य अपने कारण को पूर्णतः नहीं जान सकता है।

३—अनन्तर रजःप्रधान होने के कारण क्रियाशील ब्रह्मा ने ब्रह्माण्ड रूप एक विशाल—गृह का निर्माण किया, तथा प्रतिपादक तथा यागादि धर्मों का आश्रय भूत वेद-त्रयी रूप एक पवित्र सर्व-श्रेष्ठ और सुन्दर भवन का निर्माण भी किया। इस प्रकार खनि=स्थान, और वाणी की उत्पत्ति हुई। अनन्तर वह खनि और वाणी रूप बाखरी (भवन) चौदह ठौर से पाटी गयी। भाव यह है कि चौदह भुवन और चतुर्दश विद्याओं का विस्तार हुआ। चतुर्दश विद्याएं ये हैं "पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्ग मिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।

४—हरि, हर और ब्रह्मा ये तीनों नाम अधिकार त्रय—प्रयुक्त होने के कारण " हरति—असुगनिति हरिः " तथा हरति प्रलयेन विश्वमितिहरः" एवं "बृहत्वात् ब्रह्मा" इस प्रकार तीनों देवताओं के महत्व के सूचक है। अनन्तर तीनों देवताओं ने प्रातिस्विक रूपेण तीनों लोकों की रचना की—

५—अनन्तर व्यष्टिरूप से खंड ब्रह्मांडों की रचना की गयी और तदन्तर्गत जंगम और स्थावर-सृष्टि हुई। इस प्रकार सृष्टि के अनन्तर मनुष्य नाना प्रकार के कर्मों में लग गये। इसके पश्चात् जब स्वार्थी नास्तिकों ने देहात्म वादादिक नाना प्रकार के पाखंड फैला दिये तब हमारे प्रातः स्मरणीय परम दयालु महर्षियों ने छः आस्तिक दर्शनों का निर्माण किया। षड् दर्शन ये हैं " साङ्ख्य, योग, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा, न्याय और वैशेषिक।

६—इस प्रकार अनेक पाखंड—खंडन षड् दर्शनारम्भ के अनन्तर भी जन्म-जातिवाद और कर्मजाति वाद रूप जन्मना कर्मणा का बड़ा भारी बखेड़ा लगा ही रह गया, जिसके कारण अहंकार मूलक मिथ्या कलह में पड़कर अविवेकी लोग आत्म-तत्व से विमुख हो गये। और अपनी २ कल्पित अनन्त जातियों उपजातियों और धर्मों की मिथ्या श्रेष्ठता में पड़कर सब जातियों और धर्मों के सच्चे जन्मदाता श्री नर नारायण देव के, तथा मानव धर्म के भी घातक हो गये। इस प्रकार अज्ञान-प्रभञ्जन-विवर्धित-विद्वेषाग्नि से सारे संसार को जलते हुए देखकर उनको प्रशान्त करने की शुभेच्छा से परम कारुणिक श्री सद्गुरु कबीर साहब ने तत्वोपदेशामृत की वर्षा का आरम्भ इस प्रकार किया कि 'पेटे न काहू बेद पढ़ाया, सुनतिकराय तुरुक नहिं आया' अर्थात् इतर जातियों का निर्माण मनुष्यों ने कर्मानुसार किया है, अतः ईश्वरीय जाति एक है और वह मनुष्य जाति है। ब्राह्मणों का यह स्वाभिमान कहाँ तक सम्मान्य है कि हम सब 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्।' इस श्रुति के अनुसार ईश्वर के मुख से प्रकट हुए हैं, और ईश्वरीय वेदों को पढ़ा है इस लिये स्वभावतः उच्च वर्ण होने के कारण ब्राह्मणेतरों से श्रेष्ठ हैं। इसी प्रकार क्षत्रियादिक द्विजातिवर्ण भी अपने आप को जन्मना ऊँच और हरि के चरणों से उत्पन्न हुए भाइयों को जन्मना नीच मानते हैं। यही दशा मुसलमानों की भी है वे भी कहते हैं कि हम मुसलमानों [ईमानदारों] को खुदा ने पैदा किया है इस वजह से हम लोग गैर मुस्लिम काफिरों से हर तरह पाक क़ौम हैं। ऐ भाइयो हिन्दू और मुसलमानो! आप लोग अपनी २ जाति की बड़ाई में पड़कर इस बात को भूल गये हैं, कि हम सबों को एकही ईश्वर मालिक ने पैदा किया है इस कारण हम सबों के शरीर समान ही हैं न कोई सोने का है न कोई मिट्टी का, और हमारे आराम के लिये बिछाये हुए एक ही बिछौने [पृथ्वी] पर ईश्वर ने हम सबों को बैठाया है। और एकही से उत्पन्न होने के कारण हम सबों का

वस्तुतः एकही खून है, अतः हम लोग एकही लोक [घर] के रहने वाले सबके सब औरस भाई हैं । सुनिये ' जो तुम करते वरन विचारा, जनमत तीन डंड अनुसारा ॥ जनमत सूद्र मुये पुनि सूद्रा । क्रिनिम जनेउ घालि जग दुंद्रा ॥ जो तुम ब्राह्मन ब्राह्मनि के) जाये । अवर राह ते काहे न आये ॥ जो तुम तुरुक तुरुकनी जाये । पेटेहिं काहे न सुनति कराये ॥ कारी पियरी दूहहु गाई । ताकर दूध देहु बिलगाई । छाँड़ु कपट नर अधिक सयानी । कहहिं कबीर भजु सारंग पानी ॥ और यह भी सुनिये " भाई रे दुइ जगदीस कहाँ ते आया । कहु कौने बौराया ॥ अल्लह राम करीमा केसव, हरि हज़रत नाम धराया ॥ गहना एक कनक ते गहना, या में भाव न दूजा । कहन सुनन को दुइ करि थापे एक नमाज एक पूजा ॥ वही महादेव वही महम्मद ब्रह्मा आदम कहिये । को हिन्दू को तुरुक कहावे एक जमीं पर रहिये ॥ बेद कितेब पढ़ें वे कुतबा वे मोलना वे पाँड़े । बेगर २ नाव धराये एक मिटिया के भाँड़े ॥ कहहिं कबीर वे दोनौं भूले रामहिं किनहुँ न पाया । वै खँसी वै गाय कटावैं बादहिं जन्म गमाया ॥" ज़रा सोचिये तो सही कि—"माटी के घट साज बनाया नादे बिन्द समाना । घट बिनसे का नाम धरहु गे अहमक खोज भुलाना ॥ एकै तुचा, हाड़ मल मूत्रा एक रुधिर एक गूदा । एक बून्द से सिष्टि रची है को ब्राह्मन को सूद्रा ॥ रजगुन ब्रह्मा, तमगुन संकर सत्तगुना हरि सोई । कहहिं कबीर राम रमि रहिये हिंदू तुरुक न कोई "॥

७—यहाँ पर नारी शब्द से स्त्री और माया [प्रकृति] कनक और कामिनी दोनों विवक्षित हैं, उनमें से माया की प्रतीति के लिये किया हुआ नारी शब्द का प्रयोग भाक्त है, क्योंकि माया [प्रकृति] नारीवत् नारी है जैसा कि प्रकृति का लक्षण है कि " अचेतना परार्था च नित्या सतत विक्रिया त्रिगुणा कर्मिणां क्षेत्रं प्रकृते रूपमुच्यते ॥ व्याप्तिरूपेण सम्बन्धस्तस्याश्च पुरुषस्य च स ह्यनादिरनन्तश्च परमार्थेन निश्चितः ॥ " कनक और कामिनी में लिप्त रहने वाले मनुष्य सदैव अनेक दुष्कर्म किया

करते हैं, इस कारण कर्म फलों को भोगने के लिये अनेक प्रकार के शरीर रूप स्वाँगों को यम की आज्ञा से धारन २ कर विशाल संसार-अजिर में चिरकाल तक उनको नाचना पड़ता है। कभी बैठने नहीं पाते। दूसरा अर्थ यह है, कि माया के पुत्र उत्पत्ति से समान होते हुए भी अपने २ कर्मों के अनुसार अनेक वेशों वाले हो जाते हैं।

८—ऐ भाइयो हिन्दू और मुसलमानो! सृष्टि के पूर्व हम सब पितामह (आदम) के एकही खून और एकही प्राण वाले थे, जैसा कि मनु भगवान् का उपदेश है कि "द्विधा कृत्वात्मनोदेहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥" अर्थात् एक ही ईश्वर रूप ब्रह्मा ने अपने शरीर से स्त्री को पैदा किया है। आश्चर्य और खेद है कि इस बात को जानते और मानते हुए भी अपने को ऊँच और दूसरों को निष्कारण नीच ठहराते हुए विद्वेषाग्नि से जल रहे हैं।

९—और एक ही माया ने सारे संसार को पैदा किया है, तो भला बतलाइये कि आप लोग किस समझ से अपने को स्वभावतः ऊँच और दूसरों को जन्म ही से नीच ठहरा कर उनके साथ कुछ भी सहानुभूति नहीं रखते हैं। यह काम ईश्वर के पुत्रों को शोभा नहीं देता है।

१०—इस प्रकार मिथ्या अहंकार के कारण निजरूप को भूलकर अबोध बालक के समान जो अज्ञानी हो गया वह निश्चय जन्म रूप संसार के द्वार पर भीख माँगने के लिये चला आया। यहाँ पर भगवद्वचन उत्पत्ति का बोधक है 'उत्पत्तिञ्च विनाशञ्च भूतानामागतिंगतिं वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति' और षडैश्वर्य को भोगने वाले इन्द्रादिक अधिकारी पुरुष कहलाये, परन्तु इन सबों में से अविगत = निश्चल जैसा का तैसा आत्मतत्त्व ईश्वर की गति (रहस्य) को किसी ने नहीं जाना।

११,१२—अब मैं अनन्त महिमा वाले निजरूप आत्मा का वर्णन एक जीभ से कहाँ तक करूँ। यदि किसी के मुख में दश लाख जीभ हों

तो वह आकर ईश्वर की महिमा का वर्णन करे। भाव यह है कि मिथ्या अहंकारी संसारी लोग न्यायकारी होने के कारण कर्मफलों को भुगतने वाले ईश्वर से भी नहीं डरते हैं, मानों उन्होंने ईश्वर को भगा कर सारे संसार पर अपना अधिकार जमा लिया है। 'यदि किसी के मुख में दश लाख जीभ हों तो वह ईश्वर का वर्णन करे' यहाँ पर संभावना अलंकार कैसा फबता है, जिसका यह लक्षण है कि 'संभावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये, यदि शेषोभवेद्वक्ता कथिताः स्युर्गुणास्तव।' जौ यौं हो तौ यौं कहें सम्भावना विचार। वक्ता हो तो सेस जौ तौ लहतौ गुनपार (भाषा-भूषण)

१३-कबीर साहब पुकार २ कर मिथ्याभिमानियों को यह कह रहे हैं, यह संसार लय का भी व्यवहार रखता है। अर्थात् इसी प्रकार तुम्हारा दौर-दौरा और स्वाश्रितों पर अत्याचार सदैव न चल सकेगा क्योंकि यह संसार सदैव करवटें बदला करता है। इस कारण अपने को ऊपर मानने वाले नीचे और नीचे पड़े हुए ऊपर होते रहते हैं। इसने बड़े २ चक्रवर्ती अभिमानियों को धूल में मिला दिया है, ईश्वर के अतिरिक्त कोई स्थिर, होकर रहने वाला नहीं है 'सर्वे भावा विपरिणामिन ऋते चिति शक्तेः (सांख्यदर्शन)। दूसरा यह भी अर्थ है, ये मनमाने आडम्बर बीच में स्वार्थियों ने खड़े किये हैं। न आदि ही में थे, और न अन्त में ही रहेंगे। राम, रमैया 'रमन्ते योगिनो यस्मिन्निति रामः' अर्थात् सबों के हृदय-मन्दिर में निवास करने वाला चेतन देव, आत्मा, राम शब्द से बोधित होने वाला, राम है नाम जिसका अर्थात् पूर्वोक्त अनादि रमैया राम सर्व भूतनिवासी को साक्षात् रूप से (हाजिर नाजिर) जाने बिना अज्ञानी लोग इसी प्रकार लड़ते झगड़ते हुए ज्ञानरूपी नौका के उलट जाने से संसार-सागर में डूब जाते हैं यहाँ पर संसार पद से 'मञ्चाः क्रोशन्ति' की तरह लक्षणा से संसारी लोगों का बोध होता है। इस रमैनी के उपक्रम में चेतन-आत्मा का निरूपण और मध्य में मायिक-सृष्टि का वर्णन और

उपसंहार में प्रपञ्चोपसंहार-कथन-पूर्वक एकात्मतत्व (रमैया राम) की ही अवस्थिति का प्रदर्शन कराया गया है। इस से यह बात स्पष्ट ही मालूम होती है कि यह संसार न पहले था और न अन्त में ही रहेगा, केवल बीच में भूल रहा है। इसका यह बीच २ में रहना भी सत्यरूप से नहीं है। यह बात 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' (अर्थात् जो आदि और अन्त में नहीं है, वह वर्तमान में भी नहीं है) इस गौड़-पादीय-कारिकांश का यह भाव है कि, संसार की मध्य में (अर्थात् वर्तमान में) प्रतीति भी मिथ्या है, अतः एक आत्मा ही सत्य है और उसी के साक्षात्कार से मुक्ति-पद प्राप्त होता है। उक्त आत्मा के साक्षात्कार का अधिकारी वही हो सकता है जिसका हृदय विकारों से रहित हो। इस प्रकार अध्यारोप और अपवाद के द्वारा इस रमैनी में निष्प्रपञ्च का निरूपण किया गया है जिससे कि आत्म-कैवल्य-ज्ञान के द्वारा अमर-पद को प्राप्त करें।

इस रमैनी के प्रथम-चरण के अर्थ में यह भी एक प्रकार हो सकता है कि, सृष्टि के आदि में एक अन्तर (अन्तरात्मा प्रत्यक्चेतन और एक नारी) माया थी। 'एषोऽन्तः पुरुषः'। अनन्तर मायोपाधिक शबल-चेतन ईश्वर से ज्योतिः शब्द से बोधित होने वाला—अर्थात् समष्टि-सूक्ष्म शरीराभिमानी जिसका नाम उपनिषदों में मन भी है—वह उत्पन्न हुआ। मन भी ज्योतिःस्वरूप है, परन्तु परतो ज्योतिः है। स्वयं ज्योतिः स्वप्रकाश-चेतन नहीं है। मन की ज्योतिस्वरूपता का वर्णन यजुर्वेद में अ० ३४ मं० १, ३ में किया गया है यथा "यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति। दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मेमनः शिव-सङ्कल्प-मस्तु" ॥ १ ॥ ज्योतिषां ज्योतिः=विषय प्रकाशक इन्द्रियों का प्रेरक। तथा "यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरममृतम्प्रजासु यस्मान्न ऋतेकिञ्चनकर्म क्रियते तन्तमेमनः शिवसङ्कल्पमस्तु" ॥ ३ ॥

इसी मन की आत्म-बुद्धि से उपासना करने वालों का संसार सागर में डूब जाने का वर्णन इस ग्रन्थ में कई जगह विद्यमान है। इस प्रसंग में कुछ पारिभाषिक—अर्थ-रहस्य को स्पष्ट कर देना आवश्यक है जिससे कि "शब्दमात्रान्न मेतव्यम्" यह सूक्ति अन्वर्थ हो जाय। पदार्थ-प्रतिपादक सब ही ग्रन्थों में प्रायः कुछ शब्द पारिभाषिक होते हैं, जिनका कि प्रयोग ग्रन्थकार विशेष अर्थ में करते हैं जैसे व्याकरण में (घिसंज्ञा) घि शब्द नदी शब्द और वृद्धि शब्दादिक हैं। उक्त शब्द लौकिक-अर्थ के बोधक नहीं है, किन्तु पारिभाषिक "इ" और 'उ' आदि के ही बोधक हैं, यह वार्ता बिना ननु और नच के सर्वसम्मत है। इसी प्रकार इस ग्रन्थ में भी निरञ्जन शब्द का ग्रन्थ की परिभाषा से तथा निरुक्ति-बल से भी मनोऽभिमानी देवता—जिसको मन भी कहते हैं—अर्थ है। क्योंकि समष्टि सूक्ष्म शरीर में मन ही की प्रधानता है। निरञ्जन शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार है "अञ्जु व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु" एतदर्थक अञ्जु धातु से बाहुलकात् भाव में ल्युट्प्रत्यय करने से अञ्जन, व्यञ्जन और व्यञ्जनादिक शब्दों की सिद्धि होती है, जिनका अर्थ "व्यक्त होना" होता है। फिर निर् के साथ "निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या" इस वार्तिक से समास होता है। उक्त शब्द का विग्रह यह है "निर्गतो व्यञ्जनात्, व्यक्तेः = व्यक्तताया इति निरञ्जनः" अर्थात् जो व्यक्तता प्रकटता से रहित हो (गुप्त हो) अव्यक्त हो उसको निरञ्जन कहते हैं। उक्त अञ्जु धातु के व्यक्ति रूप अर्थ को लेने से निरञ्जन शब्द का यह अर्थ होता है। इसी प्रकार व्यक्ति और म्रक्षण अर्थ को लेने से 'अञ्जना' माया रूप अर्थ की प्रतीति होती है, जैसा कि ६ वीं रमैनी में प्रयोग है कि "जम बाँधै अँजनी के पूता"। इसी प्रकार कान्ति और गति अर्थ को लेकर "निरञ्जनः परमंसाम्यमुपैति" इत्यादि स्थलों में निरञ्जन शब्द के दूसरे २ अर्थ हो जाते हैं। यह शब्द-शास्त्र की कामधेनुता है। "इन्द्रादयोऽपि यस्यान्तं न ययुः शब्दवारिधेः प्रक्रियां तस्य कृत्स्नस्य क्षमो वक्तुं नरः कथम्।

मन ज्योति स्वरूप है यह वार्ता पहले हो चुकी है, और मन सबों को भटकाने वाला तथा यम रूप होकर अनेक कष्ट देने वाला है, यह भी सर्व सम्मत है।

भावार्थ—मिथ्या-प्रपंचरूप मरु-प्रदेश की ओर बहते हुए प्रेम-प्रवाह को मोड़ कर अखण्डानन्द-परिपूर्ण विश्वात्म सागर की ओर ले जाना चाहिये ॥ इति ॥ १ ॥

(२)

जीवरूप[1] एक अंतर बासा अंतर जोति कीन्ह परगासा।
इच्छा[2]–रूपि नारी अवतरी तासु नाम गाइत्री धरी।
तेहि[3] नारी के पुत तीनि भाऊ + ब्रह्मा विस्नु महेसुर नाँऊ।
फिर[4]* ब्रह्मा पूछल महतारी को तोर पुरुष केकरि तुम नारी।
तुम हम हम तुम अवरन कोई तुमहिं से पुरुष हमहिं तोरि जोई।

साखी—बाप[5] पूत † की एकै नारी, एकै माय बियाय।
ऐसा पूत सपूत न देखा, बापहिं चीन्है धाय।

उपक्रम

पूर्व रमैनी में समष्टि और व्यष्टि भाव से भूत और भौतिक सृष्टि का वर्णन किया गया है, और इस रमैनी में केवल व्यष्टिरूप से जीव-रूप-तापत्ति तथा माया के त्रिगुणात्मक फाँस में जीवात्माओं के फँस जाने का वर्णन किया गया है। अतः ईश-रूपतापत्ति-पूर्वक जीव रूपतापत्ति का बोध कराने वाली इन दोनों रमैनियों का पौर्वापर्य भी सुसंगत होता है। पूर्व रमैनी में यह वर्णन हो चुका है कि शुद्ध-सत्व-प्रधान माया में प्रतिबिम्बित होने से चेतन को ईशरूपता की प्राप्ति होती है, जैसा कि विद्यारण्य स्वामी जी ने पञ्चदशी में वर्णन किया है—"सत्वशुद्धयविशु-द्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते, मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः

अब पूर्वोक्त चेतन की जीव रूपतापत्ति का वर्णन किया जाता है। इस रमैनी में अलंकाररूप से माया की त्रिगुणात्मक फाँसी का वर्णन किया गया है। अतः इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिये शब्दार्थ करने के पूर्व कुछ कहना आवश्यक है। उक्त प्रकार से ईश्वर ने भूत-सृष्टि-पूर्वक भौतिक-शरीर का निर्माण करके व्यवहार-सिद्धि के लिये नाम और रूपों की व्याख्या करने के हेतु जीवरूप से उनमें प्रवेश किया जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णन किया है—"असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत। तदात्मानँ स्वयमकुरुत। तस्मात्सत्सुकृतमुच्यते इति" तथा "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्रविशत। अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।" शरीरों में प्रवेश करके प्राणों को धारण करने ही के कारण आत्मा की जीव ऐसी संज्ञा हुई "जीवोवै प्राणधारणात्" तथा "जीवोभूत्वा जीवमाविशत्" इत्यादि। अनन्तर अनेक कार्यों को करने के लिये जीव के हृदय में (स्फुरण) इच्छा का संचार हुआ। उक्त इच्छा विकृतिरूप होती हुई भी कार्य और कारण की अभिन्नता से प्रकृति के तुल्य त्रिगुणात्मिका तथा त्रिगुणात्मक—प्रपंच को स्वयं उत्पन्न करने वाली हुई। अनन्तर सूक्ष्मेच्छा से राजस, सात्विक और तामस रूप वाले अभिव्यक्त विचारों का प्रादुर्भाव हुआ। ये विचार मन और प्रकृति के सम्बन्ध से हुए हैं। अतः त्रिगुणात्मक होने के कारण शब्दान्तरित रज, सत्व और तमोगुण रूपही हैं, और इनका भी सम्भव प्रकृति ही से हुआ है जैसा कि गीता का वचन है—"सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति सम्भवाः।" इन तीनों गुणों के स्वरूप का वर्णन सांख्यकारिका में इस तरह किया है। "सत्व लघु प्रकाशकमिष्ट मुष्टम्भकं चलञ्चरजः। गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृतिः।" तथा इन गुणों के कार्यों का वर्णन गीता में इस प्रकार है—"सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव चं, प्रमादमोहौ तमसौ भवतोऽज्ञानमेव चः।" इन्हीं तीनों गुणों से तीनों लोकों की तथा त्रिगुणात्मक समस्त प्रपंच की

उत्पत्ति होती है, और इसी त्रिगुणात्मक फाँसी को साथ में लेकर माया सबको बाँधती है, जैसा कि गीता के १४वें अध्याय में वर्णन किया है—

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो! देहे देहिनमव्ययम्॥
तत्रसत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ!॥
रजोरागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय! कर्मसंगेन देहिनम्॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्॥
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत!॥

इन तीनों गुणों के हिंडोले में बैठे हुए प्राकृत जन कभी स्वर्ग कभी मर्त्य और कभी नीचे के लोकों में घूमा करते हैं। अनन्तर आत्मानात्मा का विवेक (पारख) हो जाने से गुणातीत होकर आत्मकैवल्य को प्राप्त हो जाते हैं। इस बात को भगवान् ने स्वयं वर्णन किया है—"नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।" "गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्। जन्ममृत्युजरा दुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।" प्रकृति के किये हुए नाना प्रकार के कर्मों को अहं बुद्धि से अपना किया हुआ मानना ही बन्धन का कारण है। और इसी गुणाभिमान रूप फाँसी से माया अविवेकियो को बाँधा करती है। "माया महाठगनी हम जानी। त्रिगुन फाँस लिये कर डोलै बोलै मधुरी बानी। अन्त में कहा है कि "कहैं कबीर सुनो भाइ साधो ये सब अकथ कहानी।" इससे यह सिद्ध हुआ, कि तीनो गुण बन्धनकारक हैं, अतः मुमुक्षु को उचित है कि इन से बचकर निस्त्रैगुण्य होने का प्रयत्न करे। इस ग्रन्थ में यह वार्ता आलंकारिक रूप से अनेक जगह पर कही गयी है। जैसे कि "रजोगुन ब्रह्मा तमोगुन संकर, सत्तगुना हरि होई। कहैं कबीर राम रमि रहिये हिंदू तुरुक न कोई"। इसी प्रकार "ब्रह्मा पूछै जननि से कर

जोरि सीस नवाय" इत्यादिक ब्रह्मा का माया से अपने पिता के विषय में प्रश्न करना और उत्तर पाकर ध्यान-द्वारा उसका साक्षात्कार करना इत्यादि वर्णन भी रूपकातिशयोक्ति-घटित है। और इसी तरह उक्त गुण-प्रधान नाना देवताओं की उपासना का निषेध करना भी इसी रहस्य से पूर्ण है, क्योंकि बंधनकारक गुणत्रय ही है। लोक विशेष निवासी और चतुर्मुखादि विग्रह-धारी देवता आकर अविवेकियों को नहीं बाँधते, अतः गुणत्रयाभिमान की निवृत्ति और आत्म-विवेक की प्राप्ति के द्वारा जिज्ञासु अनायास ही मुक्ति को प्राप्त कर लें, यही महात्माओं का सदभिप्राय है खेद है कि इस अभिप्राय को न जानने के कारण स्वयं त्रिगुण-फाँस में पड़े हुए भी देवापवाद करते हुए लोकापवाद के महापात्र बन जाते हैं।

व्याख्या

१—उक्त मायोपाधिक ईश्वर ने ही शरीरादिकों का निर्माण करके उनमें जीवरूप से प्रवेश किया, यथा हृदय-रूपी गुहा में ज्योति (चेतनता) का प्रकाश किया। "ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ज्ञानं ज्ञेयंज्ञान गम्यं हृदि सर्वस्यधिष्ठितम्। (गीता) तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्" तथा "यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्" इसी बात को स्मृति ने भी कहा है कि—"ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।"

२—अनन्तर नाना कार्यों को करने के लिये उक्त जीवात्मा के हृदय में प्रथम मायारूप सूक्ष्म इच्छा की उत्पत्ति हुई। विकृति रूपा यह सूक्ष्मेच्छा भी कार्य-कारण की अभिन्नता से त्रिगुणात्मिका तथा सात्विक, राजस और तामस रूप मन आदिक व्यक्ति भावों की जननी हुई। त्रिगुणात्मक भाव भी उक्त न्याय से त्रिगुण रूप ही हुए। उक्त कार्य्योत्पादिका इच्छा का नाम गायत्री रक्खा गया क्योंकि उक्तेच्छा गुण त्रय रूप से त्रिपदा है (अर्थात् त्रिगुणरूप से स्थित है) और गायत्री भी त्रिपदा है। इस त्रिपदत्वसाम्य से तथा कार्य-साधकत्वरूप साम्य से गौणी वृत्या उक्तेच्छा का

गायत्री नाम रखा गया। गायत्री की सप्तव्याहृतियों से सप्तभुवनों के निर्माण का वर्णन वेद में सविस्तर किया गया है। उक्तेच्छा गायत्रीवत् गायत्री है, मुख्यगायत्री मन्त्र नहीं, अतः यहाँ पर अनुचित आक्षेपों को अवसर नहीं है। गायत्री वा इद ँ सर्वं भूतं यदिदं किञ्च वाग्वै गायत्री वाग्वाइद ँ सर्वम्भूतं गायति च त्रायते च " छान्दोग्योपनिषद्।

३—अनन्तर उस प्रकृति-प्रतिनिधिभूत त्रिगुणात्मिका इच्छारूपनारी से राजस सात्विक और तामस रूप भावत्रयरूपी तीन पुत्रों की उत्पत्ति हुई। अनन्तर त्रिराशी-भूत वे भाव क्रमशः तत्तद्गुणों की प्रधानता के कारण "सिंहो माणवकः " की तरह गौण्या ब्रह्मा, विष्णु, और महेश्वर नाम से बोधित हुए। उक्त तीनों गुणों में से केवल रजोगुण में ही क्रिया है, अवशिष्ट दो में नहीं, यह वार्ता "चलञ्चरजः " इस कारिकांश से स्पष्ट है। तथा त्रिगुणात्मक भाव शब्दान्तरित गुणत्रय ही हैं, अतएव सुख दुःख और मोह स्वभाव वाले बन सकते हैं, यह वार्ता पूर्व स्पष्ट कर दी गयी है। अब रूपकातिशयोक्ति से तथा समासोक्ति से अविवेकियों का माया के फन्द में पड़ना बताया जाता है। " रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णाऽऽसंग समुद्भवम् " इस पूर्वोक्त कथन के अनुसार रजोगुण को अनुरागात्मक एवं स्वभावतः अज्ञानी, तथापि क्रियाशील होने के कारण राजस-मनो-भावापन्न-ब्रह्मा ने माया से पूँछा। आपका पति (अर्थात् मेरा पिता) कौन है ? भाव यह है कि जीवों के मन में ईश्वर की जिज्ञासा हुई।

४—अनन्तर माया मन को अपने प्रेम-फाँस में फँसाने की इच्छा करती हुई तथा ईश्वर प्राप्ति से जीवों को वञ्चित करती हुई, मन से बोली कि "तुम जिस प्रकार हमारे प्रणयी हो इसी प्रकार हम भी तुम्हारी प्रणयिनी हैं, अतः अपने इस अन्योन्य प्रेम के सम्बन्ध का आश्रय तृतीय व्यक्ति नहीं है, और तुम्हारा और हमारा एकही हृदय है केवल नाम मात्र दो हैं। " इस विषय पर महात्माओं ने भी विशेष प्रकाश डाला है

जैसा कि इस साखी में कहा गया है कि "मनमाया तो एक है माया मनहिं मिलाय। तीन लोक संसय पड़ा काहि कहौं समुझाय।"

५—यह बात पहले कही जा चुकी है कि जीव और ईश्वर की विभेदिका मायारूपी उपाधि है, अतः जीवापत्ति और ईशतापत्ति को औपाधिक होने पर भी जीव और ईश्वर का माया से सदैव सम्बन्ध रहता है, क्योंकि माया स्याश्रया और स्वविषया मानी गयी है। उपर्युक्त अंश में जीव और ईश की समता होते हुए भी जीव ईश्वर का पुत्र है, और ईश्वर उसका बीजप्रद पिता है। जैसा कि वर्णन किया है "ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातनः तथा सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्। तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः। (मनु)। इस प्रकार महा ठगनी माया के प्रतारक वचनों से सन्मार्ग से गिरे हुए अज्ञानी जीव रूप पुत्रों में ऐसा कोई सुपुत्र देखने में नहीं आया कि जो कल्मषहारी और सर्वात्म-विहारी मुक्ति-दाता त्राता पिता के चरण कमलों में भ्रमर बन कर अमृत-रस का पान करता हुआ स्वयं अमृत हो जाय "जैसे मन माया रमै वैसे राम रमाय, तारामंडल भेदिके पुनि अमरापुर जाय"। (साखी संग्रह)।

भावार्थ—बन्धनकारक नाना सकाम कर्मों के कर्त्ता अज्ञानियों को, माया बाँध लेती है, अतः चित्तशुद्धि के लिये निष्काम कर्मों को करना चाहिये। इति।

(३)

प्रथम अरंभ कवन को भयऊ दूसर प्रगट कीन्ह सो ठयऊ।
प्रगटे ब्रह्म बिस्नु सिव सक्ती प्रथमें भक्ति कीन्ह जिव उक्ती[1]।
प्रगटे पवन पानि ओ छाया बहु बिस्तारक प्रगटी माया।
प्रगटे अंड पिंड बरमंडा प्रिथिमी प्रगट कीन्ह नवखंडा।

प्रगटे सिध साधक संन्यासी ईसभ लागि रहैं अविनासी।
प्रगटे सुर नर मुनि सभ झारी[२] तिहि*के खोज परे सब हारी।

साखी–जीव सीवु प्रगटे सभै, वे ठाकुर सब दास।
कबीर अवर जाने नहीं, राम[३] नामकी आस।

टिप्पणी—[सूक्ष्म—सृष्टि—पूर्वक स्थूल—सृष्टि का विस्तार]

स्वोक्ति (गुरु वचन) यहाँ पर ब्रह्मशब्द ब्रह्मा का वाचक है, छन्द के अनुरोध से मात्रा का लाघव किया गया है। १—अनुमान से। २—सबके सब। ३—राम है नाम जिसका, अर्थात् सबो में रमा हुआ चेतन-पुरुष, अन्तरात्मा। भाव यह है कि सृष्टि के अनन्तर अपने २ अनुमान से कोई निर्गुण के उपासक बने और कोई सगुन के तथा कोई द्वैतवादी बने और कोई अद्वैतवादी। वस्तुतः ये दोनों रूप मन के हैं। 'निरगुन सरगुन मन की बाजी खरे सयाने भटके।' राम शुद्ध-चेतन इनसे भिन्न है। इसी तरह आगे भी 'राम नाम का सेवहु बोरा' इत्यादि बिधि मुख स्थलों में ऐसा ही अर्थ समझना चाहिये।

(४)

प्रथम[१] चरन गुरु कीन्ह बिचारा करता गावै सिरजनि हारा।
करमहिं[२] करि करि जग बौराया सगति-भगति लै बाँधिनि माया।
अदबुदरूप-जाति[३] की बानी उपजी प्रीति रमैनी ठानी।
गुनि[४] अनगुनी[५] अरथ नहिं आया बहुतक जने चीन्हि नहिं पाया॥
जो चीन्हे ताको निरमल अंगा अन चीन्हे नल[७] भये पतंगा।

साखी—चीन्हि चीन्हि का गावहू, बानी परी न चीन्ह।
आदि अंत उतपति प्रलय, आपूही[८] कहि दीन्ह।

टिप्पणी—[नाना वाणी और कर्मों का जाल]

पाठा० – *ताही खोजि परे सभ हारी।

१—प्रथमारम्भ में ब्रह्मा जी ने यह बिचार किया कि, इस संसार का कर्त्ता कौन है जैसा कि श्रुति ने कहा है कि 'कउ देवो युनक्ति' (तलवकारोपनिषद्) 'अक्षर घट में उपजै, व्याकुल संसय सूल। किन अंड निरमाइया, कहां अंड का मूल।' (आदि मंगल) २—अनन्तर उसकी प्राप्ति के लिये नाना सकाम कर्मों का विधान किया, जिनके करने से फलेच्छा के कारण माया के द्वारा अज्ञानी लोग बाँधे गये। ३—नाना प्रकार की। ४—स्तुति। ५—सगुणोपासक ७—मनुष्य। ८—आपुहि=वाणी ने ही। "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एव मेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" [छान्दोग्योपनिषद्] "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति।" इस प्रकार कर्मजन्म स्वर्गादि लोकों की विनाशिता का वर्णन वाणी ने स्वयं कर दिया है। आश्चर्य है कि तो भी रोचक-वाणियों की रोचकता का रहस्य समझ में नहीं आता है।

भावार्थ—रोचक और भयानक वाणी के त्याग, एवं यथार्थ वाणी के ग्रहण से कर्म बन्धनकारक नहीं होते हैं।

(५)

कहँलो[1] कहौं जुगन की बाता हरि हर ब्रह्मा ये मन भाई
बिबि अच्छर का कीन्ह बँधाना अच्छर पढ़ि गुनि राह चलाई
बेद कितेब कीन्ह बिसतारा चहुँयुग भगतन बाँधल बाटी[8]
भैं भैं[10] प्रिथमी दहुँ दिसि धावैं होय भिस्त जो चित न डोलावै
पूरब दिसा[11] हंस गति होई भूले ब्रह्म[2] न चीन्हे बाटा[3]।
बिबि[4] अच्छर ले जुगुति बनाई। अनहद-सब्द[5] जोति[6] परमाना[7]।
सनक सनंदन के मन भाई। फैल गयल मन अगम अपारा।
समुझि न परी मटरी फाटी[9]। अस्थिर होय न औषध पावै।
खसमहिं छाँड़ि के दोजक धावै।
है समीप संधि[12] बूझै कोई।

भगता[१३] भगतिक कीन्ह सिंगारा बूड़ि गयल सभ माँझल[१४] धारा।
साखी—बिन गुरु-ज्ञाने दुंदभो,[१५] खसम कही मिलि बात।
जुग जुग * कहवैया[१६] कहै, काहु न मानी बात।

टिप्पणी—[द्वन्द्व-फन्द]

१—कहाँ तक। २—ब्रह्म। ३—मुक्ति का मार्ग, ४—अनाहत शब्दोपासना तथा ज्योति-दर्शन एवं निर्गुण सगुन आदिक। ५—अनाहत—शब्द [विराट् शब्द] ६—ब्रह्म-ज्योति। (ब्रह्मांड में प्राणों के निरोध से होने वाला ज्योतिः प्रकाश)। ७—प्रामाणिक मानते हैं। ८—भक्ति मार्ग का प्रचार किया। ९—परन्तु फटी हुई माया रूपी गठरी को न जान सके। १०—भैं भैं=घूम घूम कर। ११—हंस=जीवात्मा-यदि पूरबदिसा=हृदय कमल में बिहार करने लगे अर्थात् अन्तराराम हो जाय तो गति [मुक्ति] हो जाय। "दिल महँ खोजु दिलहि महँ खोजो यहीं करीमा रामा" १२—मर्म, रहस्य। १३—भक्तोंने। १४—सब के सब मायारूपी नदी की मंझधार में डूब गये। १५—जन्ममरणादिक। १६—सदगुरु।

भावार्थ—बिना स्वरूप-परिचय के मुक्ति नहीं मिल सकती है।

(६)

बरनहुँ कवन रूप औ रेखा दूसर कवन आहि[1] जो देखा।
ओंकार आदि नहिं बेदा ताकर कहहु कवन कुल भेदा।
नहिं तारागन नहिं रवि चंदा नहिं कछु होत पिता के बिंदा[२]।
नहिं जल नहिं थल नहिं थिर पवना को धरे नाम हुकुम को बरना।
नहिं कछु होत दिवस अरु * राती ताकर कहहुँ कवन कुल जाती।
साखी—सुन्न[३] सहज मन सुमिरते, प्रगट भई एक जोति।
ताहि-पुरुष बलिहारि मैं, निरालंब जो होत।

पाठा०—* जुग जुग सो कहवैया।

*पाठा०—निजु। (निज रूप में)।

टिप्पणी—[आत्मा की असंगता का वर्णन]

१—सृष्टि के पूर्व आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कौन था। २—पिता का बीर्य्य। ३—ज्योतिः पुरुष के उपासक कहते हैं कि शून्य में मन और प्राणों के निरोध से होने वाली ज्योतिः 'परम तत्त्व' है। वस्तुतः यह प्रकाश भौतिक है अतः भुतवे के पुजले भुतवै होई, तथा 'भूतानियान्ति भूतेज्याः' के अनुसार उक्त ज्योति के उपासक अनात्मसेवी ही हैं। इसके अतिरिक्त जो निरालम्ब स्वतः प्रकाश पुरुष है, उसकी मैं बलिहारी लेता हूँ।

भावार्थ—असंग-ज्ञान से माया के संग का परित्याग होता है।

(७)

तहिया[1] होते पवन न पानी तहिया सिष्टि कवन उतपानी[2]।
तहिया होत कली नहिं फूला तहिया होत गरभ नहिं मूला[3]।
तहिया होत न विद्या बेदा तहिया होत सब्द नहिं खेदा।
तहिया होते पिंड[4] न बास[5] नहिं धर[6] धरनि[7] न पवन अकासू।
तहिया होत गुरू नहिं चेला गम्म[8] अगम्म[9] न पंथ दुहेला[10]।
साखी—अविगति की गति का कहौं, जाके गाँव न ठाँव।
गुनेहिं बिहूना[11] पेखना,[12] का कहि लीजै नाँव।

टिप्पणी—[पूर्व-वृतान्त]

१—सृष्टि के पहले। २—उत्पन्न की। ३—कारण, वीर्य। ४—शरीर। ५—बसना, रहना। ६—पाताल। ७—पृथ्वी। ८—सगुण ९—निर्गुण १०—दुर्लभ, कठिन। अविगति=जो उत्पन्न न हुआ हो। ११—रहित। १२—देखना, परिचय।

(८)

तत्वमसी[1] इनके[2] उपदेसा ई उपनिषद कहैं संदेसा।
ई निश्चै इन्हके बड़ भारी वाहिक बरन करैं अधिकारी[3]।

परम-तत्व का [४]निज परमाना सनकादिक नारद [५]सुख माना।
जागबलिक औ जनक सँवादा दातात्रेय वहै रस--स्वादा।
वहै राम बसिष्ठ मिलि गाई वहै क्रिस्न ऊधो समुझाई।
वहै बात जो जनक दिढ़ाई देह धरे वीदेह कहाई।
साखी—कुल—मरजादा × खोय के, जीवत मुवा न होय।
देखत जो नहिं देखिया, अदिष्ट कहावै सोय॥

टि०—[वेदान्त विचार]

१—वह तूँ है। २—अद्वैत—बादियों का ३—अधिकारियों, जिज्ञासुओं को। ४—स्वतः प्रमाण है। ५—सुख-देवजी। शुकदेव।

(६)

बाँधे अष्ट[1] कष्ट नव सूता[2] जम बाँधे अंजनी[3] के पूता[4]।
जम के बाहन बाँधिनि जनी[5] बाँधे सिष्ट कहाँलौं गनी[6]।
बाँधे (ब) देव तैंतीस करोरी[7] सँवरत लोह बंद[8] गौ तोरी।
राजा[9] सँवरै तुरिया[10] चढ़ी पंथी[11] सँवरै नाम ले बढ़ी।
अरथ[12] विहूना सँवरे नारी परजा[13] सँवरै पुहुमी झारी।

साखी—बंदि[14] मनाय*फल पावहीं, बन्दि दिया सो देय।
कहँ कबीर ते ऊबरे, निसु दिन नामहिं लेय।

टि०—[माया के बन्धनों का कथन]

कामना सहित किये हुए अष्टांग योग और नवधा भक्ति बंधन कारक हैं।

१—पंच क्लेश और तीन गुण, ये आठ-कष्ट बन्धन-कारक हैं। २—कामना सहित नवधा भक्ति। ३ माया। ४—जीवों को। ५ माया अपराविद्या और अविद्या रूप से सबों को बाँधती है। ६ कहाँ तक गिना

× पाठा०—कुल अभिमाना।

*पाठा—बंदि मनावै ते फल पावै।

जाय। ७—स्मरण, आत्मचिंतन से। ८—लोहे की बेड़ी के समान माया के दृढ़ बन्धन टूट जाते हैं। ६—ज्ञानी। १०—तुरीया अवस्था। ११ जिज्ञासु। १२—धन को चाहने वाला। १३—पीड़ित, दुखिया लोग। १५—उक्त प्रकार से—बन्धन में पड़े हुए मनुष्य भी नाम स्मरण के बल से मुक्ति फल पाते हैं।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी, ज्ञानी च भरतर्षभ॥ गी० अ० ७।

हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकार के पुण्यवान् जन मुझको भजते हैं आर्त=पीडित, जिज्ञासु=आत्मज्ञान की इच्छा वाला। अर्थार्थी=धन चाहने वाला और ज्ञानी।

भावार्थ—कामना और अहंकार ही बन्धन कारक है।

(१०)

राही[1] लै पिपराही[2] बही करगी[3] आवत काहुन कही
आई करगी भौ[4] अजगूता[5] जनम जनम जम पहिरे बूता[6]
बुता[7] पहिरि जम कीन्ह समाना तीननि लोक में कीन्ह पयाना।
बाँधे ब्रह्मा विस्नु महेसू सुर नर मुनि औ बाँधि गनेसू।
बँधै पवन पावक औ नीरू[8] चाँद सुरज बंधै दोउ बीरू।
सांच मंत्र[9] बांधे सभ भारी अम्रित[10] वस्तु न जानै नारी[11]।

साखी—अम्रित वस्तु जानै नहीं, मगन भये सब लोय।
कहहि कबिर कामो नही, जीवहिं मरन[12] न होय।

टिप्पणी—[बन्धन और उससे छूटने का उपाय]

१—रास्ता चलने वाले, कर्म तथा उपासना करने वाले। २—पीपल के पत्ते की तरह चंचल चित्त वाले वञ्चक गुरु और मन माया कामना। ३—बन्धन, पास। ४—हुआ। ५—अचरज। ६—पराक्रम, दंड, बालात्कार। यम यातना का शरीर। ७—शरीर, पराक्रम धारण करके। ८ निरू=जल।

(११)

आँधरि[1]-गुष्टि सिष्टि भई बौरी तीनि लोक महँ लागि ठगौरी।
ब्रह्मा ठगो नाग सँहारी देवतन सहित ठगो त्रिपुरारी।
राज-[2]ठगौरी विस्नुहि परी चौदह-भुवन केर चौधरी[3]।
आदि अंत जाकि[4] जलकन❀जानि ताकर डर तुम काहेक मानी।
वै उतंग[5] तुम जाति पतंगा जम-घर कियउ जीव को संगा।
नीम-कीट जस नीम पियारा विषको अम्रित कहत गँवारा।
विषके संग कवन गुन होई किंचित-लाभ मूल[7] गौखोई।
विष अम्रित गौ एकहि सानी जिन जाना तिन विष करिमानी।
कहा भये नर सूध बे सूझा[8] विनु परिचय जग मूढ़ न बूझा।
मति के हीन कवन गुन कहई लालच लागे आसा रहई।

साखी—मूवा है मरि जाहुगे, मुये[9] कि बाजी ढोल।
सपन-सनेही[10] जग भया, रहि सहिदानी[11] बोल।

टि०—[चेतावनी]

१—अन्धों कीसी बात चीत (अनिश्चित वार्ता) २—ठगाई। ३—त्रिलोकीराज्य रूप। ४—मुखिया। जिस मन की उत्पत्ति और विनाश जल कण के समान है। ६—ऊँची (अग्निज्वाला)। ७—पूंजी (ज्ञान) ८—बुद्धि हीन होने से। ९ मरने का ढोल बज रहा है। १०—स्वप्न के समान। ११—केवल वाणी रूप स्मारक रह जाता है। नाग=शेष

भावार्थ—भोगों की वासना बन्धनकारक है।

(१२)

माटि[1] के कोट पषान का ताला सोई बन सोई रख वाला।
सो बन देखत जीव डेराना ब्राह्मन वैस्नव एकहि[2] जाना।

❀ पाठा०—जनक न जानी। काहुन जानी। (जनक=ब्रह्माजी)

जौरे किसान किसानी करई उपजै खेत बीज नहिं परई।
छाँड़ि देहु नर भेलिक[४]-झेला बूड़े दोउ गुरु औ चेला।
तीसर बूड़े पारथ[५] भाई जिन बिन[६] डाहो दाह लगाई।
भूँमि भूँकि कूकुर[७] मरि गयऊ काज न एक सियार से भयऊ।
साखी—मूस[९] बिलाई[१०] एक सँग, कहु कैसे रहि जाय।
संतो अचरज देखहू, हस्ती [११]सिंघहि[१२] खाय।

टि०—[भ्रमजाल—कथन]

१—मिट्टी के किले में पत्थर का ताला लगा हुआ है। शरीरस्थ-मन में भ्रम दृढ़ हो गया है। २— वही भ्रम ३—एकही दशा है। ४—नाना प्रपंच ५—यह शब्द पारधी का रूपान्तर है, और जगह भी (पारथ ओटा लेई, उलिटा बान पारधी लागे के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पारथ = पारधी (बहेलिया) झूठे नेता। ६—संसार में अशांति फैला दी। ७—अज्ञानी-वक्ता ८—कायर लोग। यहाँ पर "सिंहो माणवकः" की तरह गौणीलक्षणा जानना चाहिये। ९—अज्ञानी जीव। १०—माया। ११—मन। १२—जीवात्मा को।

भावार्थ—भ्रम भूत से बचो। "यह भ्रम-भूत सकल जग खाया। जिन २ पूजा तिन डहकाया" (बीजक)।

(१३)

नहिं परतीति जो यह संसारा दरब[१] कि चोट कठिन कै मारा।
सो[२] तो सेसै[३] जाइ लुकाई[४] काहू के परतीति न आई।
चले लोग सम मूल गँवाई जम की बाढ़ि काटि नहिं जाई।
आजु[६] काज जिव काल्हि अकाज चले सु लादि डिगंतर-राजा।
सहज[७] विचारे मूल गँवाई लाभ ते हानि होयरे भाई।
ओछी-मति चन्दा गौ अथई त्रिकुटी संगम सामी[८] बसई।
तबहीं विस्नु कहा समुझाई मिथुन[९] आठ तुम जीतहु जाई।

तब सनकादिक तत्त विचारा जौं धन पावहिं रंक[१०] अपारा।
भौ[११] मरजाद बहुत सुख लागा यहि लेखै सब संसय भागा।
देखत उतपति लागु न बारा एक मरै एक करै विचारा।
मुये गये की काहु न कही झूठी आस लागि जग रही।
साखी—जरत जरत से बाँचहू, काहेन करहु गोहारि[१२]।
बिष बिषया के खायहू, राति दिवस मिलि झारि।

टि०—[मिथ्या आशा]

१—धन की इच्छा। २—वह धन। ३—अन्त में। ४—छिप जाता है। ५—आक्रमण। ६—'आज' नरतन अपने हाथ में है और 'कल' (जन्मान्तर) काल के। ७—सोचते सोचते पूँजी खोदी, विचारे ने मुफ्त में पूँजी खोदी। ८—ज्योति-पुरुष। ९—आठ प्रकार के मैथुन ये हैं।

'दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्तनं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च, क्रियानिर्वृत्तिरेवच॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्य्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः'॥

अर्थात्—'सरवन सुमिरन कीरतन, चितन बात इकंत।
दृढ़ सङ्कल्प प्रयत्न-तन प्रापति अष्ट कहंत'॥

१०—दरिद्र। ११—संसार में मर्यादा, प्रतिष्ठा हुई। १२—पुकार प्रार्थना। १३—विषय-भोग रूप त्रिष, जहर। १४—पूरी तरह। त्रिकुटी भृकुटी से आगे का स्थान है।

(१४)

बड़ सो पापी आहि गुमानी पाखंड-रूप छले नर जानी।
बावन-रूप छलेउ बलि राजा ब्राह्मन कीन्ह कवन को काजा।
ब्राह्मन ही सब कीन्ही चोरी ब्राह्मन ही को लागल खोरी[१]।
ब्राह्मन कीन्हो ग्रंथ पुराना + कैसहु कै मोहि मानुष जाना।

+इस स्थल पर "वेद पुराना" ऐसा पाठ किया गया है।

एक से ब्रह्मौ पंथ[१] चलाया एक से हंस गोपालहिं[४] गाया।
एक से सिंभू पंथ[१] चलाया एक से भूत-प्रेत मन लाया।
एक से पूजा जैनि बिचारा एक से निहुरि[३] निमाज गुजारा।
कोइ काहू का हटा न माना भूंठा खसम कबीरन[७] जाना।
तन मन भजिरहु मोरे भक्ता सत्त-कबीर सत्त है वक्ता।
आपुहि देवा आपुहि पाती आपुहि कुल आपुहि है जाती।
सर्व-भूत संसार-निवासी आपुहि खसम आपु सुख-बासी।
कहइत मोहि भयल जुग चारी काके आगे कहौं पुकारी।

साखी—साँचहिं कोइ न मानई, झूठा के संग जाय।
झूठहि झूठा मिलि रहा, अहलक[८] खेहा[९] खाय।

टि०—[अभिमान और अनेकता]

१—बुराई। २—किसी प्रकार। ३—कर्म-काण्ड। ४—उपासना-काण्ड। ५—योग-मार्ग। ६—झुक कर। ७—अज्ञानियों ने। ८—मूर्ख। ९—धूलि, राख।

(१५)

उनइ[१] बदरिया[२] परिगौ[३] संझा अगुआ[४] भूले बन-खंड मंझा[५]।
पिय[६] अंते[७] धनि[८] रहई[९] चौपरि[१०] कामरि[११] माथे गहई।
साखी—फुलवा[१२] भार न ले सकै, कहैं सखिन[१३] सों रोय।
जौं जौं भीजै कामरी, तौं तौं भारी[१४] होय।

टि०—[अज्ञान अन्धकार और कर्मों का भार]

१—झुकि आई। २—अज्ञान-घटा। भजन—"जामें चंदा दरसे नांहि माया रँग बादली"। ३—होगई। ४—आगे चलने वाले। ब्रह्मादिक। ५—बीच में। ६—प्रिय, पति। ७—और जगह (स्वरूप में) ८—प्रिया, जीवात्मा। ९—अविद्या में। १०—चार तह की हुई। ११—

कमली (अविद्या) १२—जीवात्मा। १३—इन्द्रियों से। १४—अविद्या के साथ २ दुःख भी बढ़ता जाता है।

भावार्थ—बिना ज्ञान के सुख नहीं मिल सकता।

(१६)

चलत चलत अति चरन पिराना[1] हारि परै तहँ अति-रिसियाना*।
गन गंधप मुनि अंत न पाया हरि अलौप जग धंधे लाया।
गहनी[2] बंधन बान[3] न सूझा थाकि परै तब किछुवो न बूझा।
भूलि परे जिय अधिक डेराई रजनी अंध-कूप होइ आई।
माया मोह उहाँ भरिपूरी दादुर दामिनि (पवनहुँ) पूरी।
बरसै तपै[4] अखंडित-धारा रैनि भयावनि किछु न अधारा+

साखी—सभै लौग जहँड़ाइया,[5] अंधा सभै भुलान।
कहा कोइ ना मानहीं, एकै[6] माहिं समान।

टि०—(अविद्या-रात्रि)

१—दुख गये। २—गुप्त होकर। ३—कड़ा, कठिन। ४—स्वभाव, (रागादिक) अपना दुष्ट स्वभाव ही माया-रचित बन्धन है, अज्ञानियों को ऐसा नहीं सूझा। ५—चित्त को संताप होता है। ६—ठगा गये। ७—माया में।

भावार्थ—ज्ञान-भानु के बिना-अज्ञान-अन्धकार नहीं हटता।

(१७)

जस[1] जिव आपु मिलै अस[2] कोई बहुत धर्म !! सुखह्रिदया होई।
जासो बात राम[3] की कही प्रीति न काहू सों निरबही[4]।
एकै[5]-भाव सकल-जग देखी बाहर[6] परै सो होय बिबेकी।

---

* पाठ०—अति रे सुजाना। +लिखित पुस्तकों में 'अहारा' ऐसा पाठ है।

विषय मोह के फंद छुड़ाई जहाँ जाय तहँ कालरू कसाई[9]।
अहै[6] कसाई छूरी हाथा कैसहु आवै काटौं माथा।
मानुष बड़ा बड़ा होय आया एकै पंडित[6] सभै बढ़ाया।
पढ़ना[10] पढ़हु धरहु जनि[11] गोई[12] नहिं तो निश्चय जाहु बिगोई।

साखी—सुमिरन करहू राम[13] का, छाँड़हु दुख की आस।
तर ऊपर धरि चापिहैं, कोल्हू कोटि[14] पचास।

टि०—(गुरूपदेश)

१—जैसे अधिकारी तुम हो। २—ऐसा। ३—स्वरूप-परिचय। ४—निबाही गई। ५—एक ही दशा, हालत। ६—संसार से मन को हटावे। ७—बधिक—(भ्रम में डालने वाले वञ्चक) ८—है। ९—ब्रह्म। १०—पढ़ने के योग्य (आत्मविद्या) ११—मत। १२—छिपाकर। १३—आत्म-चिन्तन। १४—नहीं तो माया के अनेक कोल्हुओं में पेरे जाओगे, अर्थात् नाना योनियों में भटकते रहोगे। बिगोई-नष्ट होना। दुःख की आशा = भोगों की आशा।

(१८)

अदबुद[1]-पंथ[2] बरनि नहिं जाई भूले राम[3] भूलि दुनियाई।
जो चेतहु तो चेतहु रे भाई नहिं तो जीवहिं जम ले जाई।
सब्द न मानै कथई ज्ञाना ताते जम दीयो है थाना[4]।
संसै सावज[5] बसै सरीरा तिन[7] खायो अनबेधल[7] हीरा।

साखी—संसय सावज[6] देह में, खेलै संग जुआरि[6]।
ऐसा घायल बापुरा[10], जीवहिं मारै झारि॥

टि०—[कठिन-मार्ग]

१—अद्भुत, विचित्र। २—निर्विशेषात्मक-मार्ग। ३—सादि-राम (अवतार) बिधि-मुख-स्थलों में राम-शब्द से रमैया-राम, शुद्धचेतन ही

पाठान्तर—*काट।

बोधित होता है, अवतार राम नहीं, यह वार्ता "दशरथ—सुत तिहुँ लोक बखाना रामनाम का मरम है आना" इस वचन से स्पष्ट है। ४—यम का दखल हो गया। ५—जंगली पशु, शिकार। ६—उसने। ७—बिना छेदा हुआ, अखंड। ८—जीवात्मा। ९—जूवा (दाव, पेज) १०—घायल ऐसा है कि बेचारे सब अज्ञानियों को मारे डालता है।

भावार्थ—संशयों की पूर्ण निवृत्ति के बिना आत्म साक्षात्कार नहीं होने पाता है।

(१९)

अनहद[1]-अनुभव की करि[2] आसा तेखौ यह विपरीति[3] तमासा।
इहै तमासा देखहु (रे) भाई जहँवा सुन्न[4] तहाँ चलि जाई।
सुन्नहि[5] बाँछा सुन्नहि गयऊ हाथा छोड़ि बे हाथा भयऊ।
संसय[6]-सावज सब संसारा काल अहेरी[7] साँझ सकारा।

साखी—सुमिरन करहू रामका, काल गहे हैं केस।
ना जानौं कब मारिहै, का घर का परदेश॥

टि०—[अनाहत—शब्द के उपासकों की दशा]

१—अनाहत-शब्द का साक्षात्कार। २—कर रहा है। ३—उल्टा तमाशा- (स्वतः चेतन अचेतन की आशा करता है) ४—शून्य-स्थान। ५—शून्य समाधि में लीन होकर विवश हो गया। स्वावलम्बन छोड़ कर निरालम्ब हो गया। ६—संशय-रूप-शिकार सारे संसार को मार रहा है। ७—पारधी, शिकारी। संशय ही काल है 'संसय काल सकल-घट छाया। जिन्ह २ पूजा तिन्ह डॅहकाया।' (बीजक)

भावार्थ—आत्माकार-वृत्ति से परम-पद की प्राप्ति होती है।

(१०)

अब कहु राम-नाम अबिनासी हरि तजि[1] जियरा[2] कतहुँन जासी[3]।
उहाँ जाहु तहाँ होहु पतंगा अबजनि[4] जरहु समुझि विषसंगा[5]।

राम-नाम लौलाय[1] सु लीन्हा भ्रिंगी की समुझि मन दीन्हा।
भव अति-गरुवा दुखकरिभारी करुजिय[2] जतन जु देखु बिचारी।
मनकि बात है लहरि[3] बिकारा तुहि नहिं सूझै वार न पारा।
साखी—इच्छा[4] के भव सागरै, बोहित[5] राम अधार।
कहैं कबिर हरि सरण गहु[6], गो-बछ-खुर-बिस्तार[7] ॥

टि०—[नाम उपासकों का कथन]

१—छोड़ कर। २—हे जीव। ३—मत जा। ४—मत। ५—विषयों का संग। ६—प्रेम, लगन। ७—जी में, हृदय में। ८ विषय-विकार। ९—वासना से उत्पन्न हुए संसार सागर में। १०—जहाज। ११—पकड़ो। १२—संसार का पसारा गाय के बछड़े के खुर के समान हो जायगा।

(२१)

बहुत दुःख है दुख[1] की खानी तब बचिहो जब रामहिं जानी।
रामहिं जानि जुक्ति[2] जो चलई जुक्तिहि ते फंदा नहिं परई।
जुक्तिहि[3] जुक्ति चला संसारा निश्चय कहा न मानु हमारा।
कनक[4] कामिनी[5] घोर[6] पटोरा[7] संपति बहुत रहै दिन थोरा[8]।
थोरिहि संपति गौ बौराई धरम-राज्य की खबरि न पाई।
देखि त्रास[9] मुख गौ कुँभिलाई अम्रित धोखे गौ[10] विष खाई।
साखी—मैं[11] सिरजौं[12] मैं मारहू, मैं जारौं मैं खाँव।
जल थल मैं ही रमि रह्यों, मोर निरंजन नाँव ॥

टि०—[चेतावनी]

गुरुवचन १—दुख की खानी=संसार में। २—गुरुमति। ३—अपनी २ बुद्धि से। ४—धन। ५—स्त्री। ६—घोड़ा। ७—रेशमी कपड़े। ८—थोड़े दिन रह गये हैं। ९—भय से। १०—विष रूप विषयों को

को मूल समझ कर खा गया। ११—यम कहता है मैं निरञ्जन। १२—पैदा करता हूँ। १३—मेरा।

(२२)

अलख-निरंजन लखइ न कोई जेहि[1] बँधे बँधा सब लोई।
जिहि झूठे बँधा सो अयाना[2] झूठा बचन साँच करि माना।
धन्धा[3] बन्धा किन्ह बेवहारा करम बिबरजित बसै निनारा।
षट-आश्रम षट-दरसन कीन्हा षट रस वस्तु* खोट सब चीन्हा।
चारि-विरिछ[4] छव-साख[5] बखानै विद्या अगिनित गनै न जानै।
औरो[6] आगम करै विचारा ते नहि सूझै बार न पारा।
जप तीरथ व्रत कीजै पूजा दान पुन्न कीजै बहु दूजा।

साखी—मंदिलतो है नेह का, मति कोइ पैठे धाय।
जो कोइ पैठे धाय के, बिन सिर सेती जाय।

टि०—[कर्म—बन्धन।]

१—जिसके बनाये हुए कर्म बन्धनों से सब लोग बँधे हुए हैं। २—अज्ञानी। ३—जिसने व्यवहार किया वह धन्धे से बँध गया। ४—चार वेद। ५—छः शास्त्र। ६—पुराणादि। ७—कर्म—बन्धन का। ८—प्रेम के मन्दिर में बिना समझे मत घुसो, क्योंकि जो बिना समझे पैठता है वह मारा जाता है।

भावार्थ—विवेक का धारण करना आवश्यक है।

(२३)

अलप सुख दुख आदिउ अंता मन भुलान मैगर[1] मैमंता[2]।
सुख[3] बिसराय मुकति कहँ पावै परि हरि साँच भूठ[4] निज धावै।
अनल[5] जोति डाहै एक संगा नकन[6] नेह जस जरै पतंगा।

* पाठा०—षट रस बात खटे वस्तुचीन्हा।

करु बिचार जेहि सब दुख जाई परिहरि झूठा[७] केर सगाई।
लालच लागे जनम सिराई[८] जरा मरन नियरायल[९] आई।

साखी—भ्रम करि बांधल ई जग, यहि विधि आवै जाय।
मानुष-जन्महिं पाय नर, काहे को जहँड़ाय[१०]।

टि०—[उपदेश।]

१—हाथी। २—मस्त। ३—आनन्दरूप आत्मा को। ४—प्रपंच। ५—अग्नि की ज्वाला। (त्रितापाग्नि) ६—देखने के प्रेम से (सौन्दर्योपासना से) ७—संसार। ८—बीत रहा है। ९—निकट १०—ठगाता है। जरा=बुढ़ापा।

(२४)

चंद चकौर सि[१] बात जनाई मानुष बुधि दीन्हीं पलटाई[२]।
चारि[३] अवस्था सपनो कहई झूठो फूरो जानत रहई।
मिथ्या-बात न जानै कोई यहि बिधि सिगरे[४] गयल[५] बिगोई[६]।
आगे[७] दै दै सभनि गमाया मानुष बुधि सपनेहुँ नहिं पाया।
चौंतिस-अच्छर (से) निकलै जोई पाप पुन्न जानैगा सोई।

साखी—सोइ कहते सोइ होऊगे, निकरि न बाहर आउ।
हो हजूर[८] ठाढ़ो कहौं, धोखे न जन्म गमाउ॥

टि०—[संसारी गुरुओं की करनी।]

१—जैसी। २—पलटदी। ३—बाल, कुमार, युवा और वृद्ध इन चार अवस्थाओं को स्वप्न के समान (अनित्य) कहते हैं, और स्वयं असत्य संसार को सत्य समझते रहते हैं। ४—सब के सब। ५—गये। ६—नष्ट हो गये। ७—(इस प्रकार) बढ़ा चढ़ा कर। ८—जैसा कहोगे और सोचोगे वैसे ही बन जाओगे, इस कारण इनके जाल से बाहर क्यों नहीं निकल आते। ! ९—सद्गुरु कहते हैं कि मेरे सामने चले आयो।

भावार्थ—झूठे गुरु की पच्छ को, तजन न कीजै बार।
द्वारा न पावै सब्द का, भटकै बारं बार॥

(२५)

चौंतिस अच्छर(का)इहै बिसेखा[1] सहसौ[2] नाम यही में देखा।
भूलि भटकि[3] नर फिरि घट[4] आया हो अजान सो सभनि गमाया।
खोजहिं ब्रह्मा बिस्नु सिव शक्ती अमित[5]-लोग खोजहिं बहुभक्ती।
खोजहिं गन गँधूप मुनि देवा अमित-लोग खोजहिं बहु भेवा[6]।
साखी—जती सती सब खोजहीं, मनहिं न मानैं हारि।
बड़ जीव बाँचिहैं, कहहिं कबीर पुकारि॥

टि०—[शब्द—जाल]

१—बड़ाई। २—हजारों (अनेक)। ३—अनेक योनियों में भ्रमण करके। ४—नरतन। ५—अनेक। ६—बड़े प्रयत्न से।

भावार्थ—निजपद वाणी का विषय नहीं है।

(२६)

आपुहि करता भये कुलाला बहुविधि बासन[1] गढ़ै कुँभारा
विधि[2] ने सबइ कीन्ह एक ठाऊँ जतन अनेक के बने कनाऊँ[3]।
जठर-अगिनिमहँ दिय परजाली[4] तामहँ आपु भये प्रतिपाली।
बहुत जतन करि बाहर आया तब सिव[5] सकती नाम धराया।
घरका सुत जो होय अयाना[7] ताके संग न जाहिं सयाना।
सांची बात कही मैं अपनी भया दिवाना[9] और कि सपना[8]।
गुपत प्रगट है एकै मूद्रा[6]+ काको कहिये ब्राह्मन सूद्रा।
झूठ गरब भूलो मति कोई हिन्दू तुरुक झूठ कुल[10] दोई।
साखी—जिन यह चित्र[11] बनाइया, साँचा सुत्तरधार।
कहँहि कविरते जन भले, ले[12] चित्रवत निहार॥

+पाठा० दूधा।

टि०—[रचना-रहस्य]

१—बरतन । २—ब्रह्मा ने । ३—बरतन । ४—जलाये, पकाये । ५—पुरुष स्त्री । ६—अज्ञानी ७ पागल । ८—औरों के सपने से (मिथ्या बातों से) ९—आकार, चिन्ह । १०—घराना, (जाति) ११—संसार । १२—सूत्रधार = सूत पकड़ने वाला कारीगर । १३—तस्वीर बनाने वाला ।

भावार्थ—एक कर्त्ता पिता से सबों की रचना हुई है, अतः कुलाभिमान छोड़कर परस्पर भ्रातृ-भाव रखना चाहिये ।

(२७)

ब्रह्मा को दीन्हो ब्रहमंडा सात दीप पुहुमी[1] नव खंडा ।
सत्त सत्त कहि बिस्नु दिढ़ाई[2] तीनि लोक महँ राखिनिजाई ।
लिंगरूप तब संकर कीन्हा धरती कीलि रसातल दीन्हा ।
तब[3] अष्टंगी रचल कुमारी तीनि लोक मोहा सब झारी ।
नाम दुतीय पारवति भयऊ तप करते संकर कहँ दियऊ ।
एकै[4] पुरुष एक है नारी ताते रचनि खानि भौ चारी[5] ।
सरमन[6] बरमन[7] देव[8] रु दासा[9] रजसत तमगुन धरति अकासा ।

साखी—एक-अंड वोअँकार ते, सब जग भयो पसार ।
हैं नारी सब रामकी, अविचल[10]—पुरुष भतार[11] ।

टि०—[अधिकार—विभाग]

१—पृथिवी । २—विष्णु ने सत्य-बात कह कर विश्वास दिला दिया, अतः उनको तीनों लोकों की रक्षा का अधिकार मिला । ३—सुन्दर आठअंग वाली कन्या, आद्या (प्रकृति) प्रकृति के आठ अंग ये हैं—

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च । अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा" । (गीता) भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश मन, बुद्धि और अहंकार । यद्यपि अनादि है तथापि पृथिवी आदिक अंगों की रचना से उसकी रचना कही गई है । ४—ब्रह्म और माया । ५—चार खानियां

ये हैं, अंडज, पिंडज, उखमज और स्थावर। ६—शर्म्मा, ब्राह्मण। ७—वर्म्मा, क्षत्रिय। ८—वैश्य। ९—शूद्र। १०—स्थिर, अविनासी। ११—पति।

(२८)

अस-जुलहा[1] का मरमन न जाना जिन्ह जगआनिपसारिन्हिताना।
महि[2] अकास[3] दोउ गाड़[4] खँदाया चाँद[5] सुरज दोउ[6] नरी[7] बनाया।
सहस[8] तारले पूरनि पूरी[9] अजहूँ बिनब कठिन है दूरी।
कहहिं कबीर करम से जोरी सूत[10]-कुसूत बिनै भल[11] कोरी[12]।

टि०—[मन का ताना बाना]

अस=ऐसा। अनि=आकर। पसारिनि=फैलाया। १—मन या जीव। २—अधोभाग, पिंड। ३—ऊर्ध्व ब्रह्माण्ड। ४—गढ़हा (करघा चलाने के लिये)। ५—ईड़ा। ६—पिंगला। ७—नरा। ८—हजार कुम्भक। ९—ताना तनाया। १०—शुभ कर्म, तथा अशुभ कर्म, एवं विद्या और अविद्या। ११—अच्छी तरह—१२ जुलाहा। (जीव या मन)।

(२९)

बज्रहु ते त्रिन खिन[1] में होई त्रिन ते बज्र करै पुनि सोई।
निभरू[2]-नीरू जानि परिहरिया करमक-बाँधल लालच करिया।
करम धरम[3] मति बुधि परिहरिया झूठी नाम सांचलै धरिया।
रज[4], गति त्रिविध कीन्ह परगासा करम धरम बुधि केर बिनासा।
उदय[5] रबी तारा भा छीना चर[6]-बीहर दोनौं में लीना[7]।
विष[8] के खाये विष नहिं जावै गारुड़[9] सो जो मरत जियावै।
साखी—अलख[10] जो लागी पलक मों, पलकहि में डसि जाय।
विषहर[11] मंत्र [12] न मानही, गारुड[13] काह कराय॥

टि०—[मन की दशा]

१—थोड़ी देर में। २—मन के संकल्प-विकल्प झरने की तरह सदैव चलते रहते हैं। ३—विवेक बुद्धि। ४—रजोगुण ने तीनों लोकों में

ऊर्ध्वादि गति कराई, भ्रमण कराया। ५—ज्ञानोदय होने से कर्म क्षीण हो जाते हैं। ६—चर, अचर। ७—छिपा हुआ (व्यापक)। ८—विषय-भोगरूप विष के खाने से वासनारूप विष नहीं जाता। ९—सर्पों के विष को झाड़ने वाला वैद्य (गुरु) १०—निरंजन (मन)। ११—वासना रूप विष को धारण करने वाला मन। यह शब्द संस्कृत विषधर का प्राकृत रूपान्तर है। १२—सद्गुरु के उपदेश को। १३—गुरु क्या करे।

(३०)

औ भूले षट दरसन भाई पाखंड भेष रहा लपटाई।
जीव[1] सीव का आहि नसौना चारिउ वेद चतुरगुन मौना।
जैनि धरम का मरम न जानै पाती तोरि देव-घर आनै।
दवना मरुवा चँपा फूला मानहु जीव-कोटि समतूला[2]।
औ पृथिवी के रोम[3] उचारैं[4] देखत जनम आपनो हारै।
मन्मथ-विंदु[5] करै असरारा[6] अलपै[7] विंदु खसै नहिं द्वारा।
ताकर हाल होय अध कूचा[8]+ छव-दरसन में जैनि विगूचा।
साखि—ज्ञान[10] अमर पद बाहिरे, नियरे ते है दूर।
जो जानै तिहि निकट है, रहा सकल घट पूरि॥

टि० [जैनादिमत-समीक्षा]

१—जीव और ईश्वर को विनाशी बताते हैं, अतः जीव के कल्याण के नाशक हैं। २—बराबर। ३—वृक्षादिक और शरीर के रोम। ४—उखाड़ते हैं। ५—वीर्य। ६—दुष्टता अन्याय और जिद। असरारा यह शब्द दुष्ट के वाचक फारसी शरीर शब्द के बहुवचन का रूपान्तर है। जैनियों के यती लोग अमरोली और बज्रौली क्रिया के द्वारा विधि-विशेष से वीर्य का आकर्षण किया करते हैं। ७—अलपै=थोड़ा भी। ८—

*पाठा०—बंध।

+पाठा०—अदबूदा।

अपूर्ण, उभय—भ्रष्ट। अदबूदा=विचित्र। ६—बन्धन में फँसे हुए, भूले, हुए। १०—जो अमर पद=निज रूप के ज्ञान से बहिरे=रहित हैं, आत्मा सदैव निकट होते हुए भी उनके लिये दूर ही है। और जो आत्म-ज्ञानी हैं उनके लिये सदैव निकट है क्योंकि "रहा सकल—घट पूरि" सर्वत्र विद्यमान है। अमरपद=अमर लोक, निजात्मा। श्रुति ने भी वर्णन किया है कि 'तस्यायमात्माऽयं लोकः" ज्ञानी के लिये यही आत्मा लोक है। "एतमेवलोकमभीप्सन्तः प्रव्राजिनः प्रव्रजन्ति" इसी आत्मलोक की प्राप्ति के लिये सन्यास धारण करते हैं। "अमर लोक फललावै चाव, कहँहिं कबीर बूझै सो पाव [बीजक]। चारिउ बन्ध=चारों प्रकार के नास्तिक बन्धक में पड़े हुए हैं, इस कारण विवेकी गुनी उनका अनुमोदन नहीं करते हैं।

(३१)

सुम्रिति[1] आहि गुनन को चीन्हा पाप पुन्न को मारग कीन्हा।
सुम्रिति बेद पढ़ैं असरारा[2] पाखँड रूप करैं हंकारा।
पढ़ैं बेद औ करैं बड़ाई संसय-गाँठि अजहुँ[3] नहिं जाई।
पढ़ि के सास्त्र जीव-बध[4] करई मूँड़ि काटि अगमन[5] के धरई।
साखी—कहँहि कबिर पाखंड़ ते, बहुतक-जीव सताय।
अनुभव-भाव[6] न दरसई, जियत[7] न आपु लखाय*॥

टि०—[शास्त्र-व्यवसायी पंडितों की दशा]

१—धर्मशास्त्र ने गुणों का निर्णय किया है। २—दुष्ट-प्रकृति दुरा-ग्रही। ३—अभी तक। ४—मंत्र पढ़ कर बलिदान करते हैं। ५—मूर्ति के आगे। ६—आत्म-भाव। ७—जीते जी आत्म-परिचय नहीं किया।

भावार्थ—जिन्होंने आत्म परिचय नहीं किया उनका वेदादि-पाठ व्यर्थ है।

---

* पाठा०—रखाव।

(३२)

अंधसो[1] दरपन वेद-पुराना दरबी[2] कहा महा-रस[3] जाना
जस खर[4] चन्दन लादै भारा परिमल-बास न जाने गँवारा।
कहँहि कबिर खोजै असमाना[5] सो[6] न मिला जिहि जायगुमाना।

टि०—[ज्ञान की आवश्यकता]

१—अज्ञानियों के लिये वेद और पुराण अन्धे के हाथ में दिये हुए दर्पण के समान है। २—करछुल, चमचा। ३—बड़ा-स्वाद। ४—गदहा। ५—चन्दन की सुगन्धि। ६—(स्वर्गादि लोकों में) सातवाँ आसमान, गगन मंडल। ७—आत्म-ज्ञान।

(३३)

बेद कि पुत्री है स्मिति भाई सो जेवरि[1] कर लेतहि आई।
आपुहि बरि[2] आपुन गर बंधा भूँठा मोह काल को फंदा।
बंधा[3] बँधवत छोरि न जाई विषय रूप भूली दुनियाई।
हमरे लखत सकल-जग लूटा दास[4]-कबीर राम कहि छूटा।
साखी—रामहि राम पुकारते, जिभ्या परिगो रौस[5]।
सूधा[6]-जल पीवै नहीं, खोदि पियन को हौंस॥

टि०—[स्मृति-विचार]

१—सकाम-कर्म-रूप रस्सी। २—स्वार्थ-सिद्धि के लिये वञ्चकों ने अपने अनुकूल नूतन स्मृति वचनों का निर्माण किया है। ३—सहज ही कर्मों के बन्धन में पड़ गये, परन्तु छूटना कठिन हो गया। ४—बिना राम के जाने हुए केवल राम-नाम को जपने वाले दास कबीर = कबीर नामोपासक भक्त लोग, क्या राम नाम के कहने से बन्धनों से छूट जायँगे ?। ५—घट्ठा, ठेला। ६—'निकाला हुआ पानी, साक्षात् आत्मा का परिचय तो करते नहीं वरन् लोकान्तरों में जाकर उसको पाने की इच्छा रखते हैं।

भावार्थ—भजन—सन्तो ! पानी में मीन पियासी। देखि देखि आवै हाँसी हो सन्तो !। आतम ज्ञान बिना नर भटकै, क्या मथुरा क्या काशी हो सन्तो। है नियरे तेहि दूर बतावै, दूर की आस निरासी हो सन्तो॥ मिरगा के तन है कस्तूरी, सूँघत फिरै बन-घासी हो सन्तौ। कहहिं कबीर सुनो भाई साधो, घटहि मिलै अविनासी हो सन्तो।

(३४)

पढ़ि पढ़ि पंडित करु चतुराई निज-मुकती मोहि कहहु बुझाई।
कहँ बसै पुरुष[1] कवन सो गाँऊ पंडित मोहि सुनावहु नाँऊ।
चारि-बेद ब्रह्मै निज ठाना मुकतिक मरम उनहुँ नहिं जाना।
दान-पुन्न उन बहुत बखाना अपने मरन की खबरि न जाना।
एक नाम है अगम गंभीरा तहँवा अस्थिर* दास कबीरा।
साखी—चिऊँटी ना जहँ[2] चढ़िसकै, राई ना ठहराय।
आवा-गवन की गम नहीं, तहँ सकलौ जग जाय॥

टि०—[प्रश्न]

१—चेतन-पुरुष (ईश्वर)। २—मनकी कल्पना में।

भवार्थ—नियरे न खोजै बतावै दूरि। चहुँ दिसि बागुरि रहलि पूरि। (बीजक)

(३५)

पंडित भूले पढ़ि गुनि बेदा आपु अपन-पौ[1] जानु न भेदा।
संभा[2] तरपन और षट करमा ई बहु—रूप करहिं अस धरमा।
गाइत्रो[3] जुग चारि पढ़ाई पूछहु जाय मुकति किन पाई।
अवसर[4] के छिये लेत हौ सींचा तुमते कहहु कवन है नीचा।
ई[5] गुन गरब करौ अधिकाई अधिके गरब न होय भलाई।
जासु[6] नाम है गरब-प्रहारी सो कस गरबहिं सकै सहारी[7]।

पाठा०—* अस्थल।

साखी—कुल-मरजादा[८] खोयके, खोजिनि पद निरबान।
अंकुर बीज नसाय के, भये बिदेही थान॥

टि०—[मिथ्याचार]

१—अपना, निज रूप का। २—परिचय, पहिचान। ३—सन्ध्या-वन्दन। ब्राह्मणों के षट् कर्म—वेदों का पढ़ना और पढ़ाना, यज्ञ करना और कराना, तथा दान देना और लेना। ४—बिना सत्व-शुद्धि के केवल गायत्री मन्त्र के जाप से मुक्ति नहीं हो सकती है। ५—पशु-हिंसादिक क्रूर-कर्म कराने वाले ब्राह्मणों से यह प्रश्न है। छिये=छूने से। सींचा=(शुद्ध होने के लिये) जलके छींटे। ६—इन हिंसादिक कर्मों को कराते हुए भी आप लोग जाति का अभिमान करते हैं। ७—ईश्वर का। ८—सह सकेगा। ९—जिन्होंने मिथ्या अभिमान को छोड़ कर मुक्ति-पद को प्राप्त किया है, वे वासनाओं से रहित होकर आत्मलीन हो गये हैं।

भावार्थ—कर्मों ही से मनुष्य ऊँच और नीच होते हैं जाति से नहीं।

(३६)

ज्ञानी चतुर विचच्छन-लोई[१] एक-सयान[२] सयान न होई।
दुसर-सयान[३] को मरम न जाना उतपति परलय रयनि बिहाना।
बानिज एक सभनिमिलि ठाना नेम धरम संजम भगबाना।
हरि अस ठाकुर ते जिन जाई बालन❀[४] भिस्त गाव दुलहाई।
साखी—ते नर कहवाँ चलि गये; जिन दीन्हा गुरु घोंटि[५]।
राम नाम निजु जानिके, छाँड़हु बस्तू खोंटि।

टि०—[वाणी की अविषयता]

१—सूक्ष्म—बुद्धि वाले। २—अद्वैत-वादी। ३—अद्वैत—ब्रह्म के विधान से प्रतियोगिविधया द्वैत का भी स्मरण होता रहता है। ३—द्वैत-वादियों ने सारतत्व को नहीं जाना इस कारण वे रात दिन (सदैव)

❀ पाठा०—बालम भिस्त गाव दुलहाई।

उत्पत्ति और प्रलय के चक्र में पड़े रहते हैं। ४ स्वर्गादि लोकों में ईश्वर का निवास मानने वाले तटस्थ—ईश्वर—वादी, बाल—बुद्धि वाले हैं, वे लोग सदैव स्वर्ग के गीत गाया करते हैं। इसी प्रकार मुसलमान, सातवें आसमान पर रहने वाले खुदा के गीत गाया करते हैं। और प्रत्यक्ष ईश्वर चेतन—आत्मा को सताया करते हैं। दुलहाई = विवाह के गीत। ५—बच्चों को दी जाने वाली बाल घूंटी अर्थात् जिनको वञ्चक गुरुओं ने मन्त्र दीक्षा दी थी।

(३७)

एक[1]—सयान सयान न होई दुसर[2]—सयान न जानै कोई।
तिसर[3]—सयान सयानहिं खाई चौथ[4]—सयान तहाँ लै जाई।
पँचये[5]—सयान जो जानहु कोई छठये[6] मा सभ गयल बिगोई।
सतयँ[7] सयान जो जानहु भाई लोक बेद में देहु दिखाई।

साखी—बीजक बित्त बतावई, जो वित गुप्ता होय।
(ऐसी) सब्द[8] बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥

टि०—[वादि-मत-समीक्षा]

१—अद्वैत-वादी। क्योंकि सापेक्षतया अद्वैत-सिद्धि से द्वैत की सिद्धि हो जाती है। २—माया वादी, अज्ञानान्धकार में पड़े रहते हैं। ३—जीव वादियों को अविद्या खा लेती है। ४—तटस्थ-ईश्वर वादी, भिन्न ईश्वर का लोकान्तरों में निवास मानने वाले, मृत्यु के पश्चात् नाना लोकों में भ्रमण करते रहते हैं। ५—इन्द्रियात्मवादी, इन्द्रियाराम स्वयं नष्ट हो जाते हैं। ६—मन-आत्मवादी, मन को चेतनात्मा समझने वाले मन की धारा में बह जाते है। ७—देहात्मवादी लोक और वेद उभय मार्ग से भ्रष्ट होते हैं। ८—गाड़े हुये धन का साङ्केतिक लेख। ९—सद्गुरु का उपदेश (बीजक ग्रन्थात्मक) जीव के स्वरूप का परिचय करता है। दूसरे पक्ष में शब्द = आवाज, वचन, जीवात्मा का पता देता है, परन्तु इस बात

को कोई विरले ही समझते हैं। भाव यह है कि बिना चेतन के बचन (शब्द) नहीं हो सकता है। रेखता—"इस बोलते का खोज करो जिसका इलाही नूर है। जिन्ह प्रान पिंड सँवारिया सोतो हाल हजूर है। गजवाजि द्वारे झूलते सो तो राज जहूर है। कहैं कबीर पुकारि के साहब घट घट पूर है।" 'मो को कहाँ ढूंढ़े बन्दे मैं तो तेरे पास में।' अन्त में कहा है कि 'कहैं कबीर सुनो भाई साधो हरसाँसों की साँस में'।

भावार्थ—आसमान का आसरा छोड़ दे बालका, उलटि देखु घट आपना जी। बिन देखे जो नाम जपतु हैं सो तो रैनि का सपना जी।' यहाँ पर शब्द-पद श्लिष्ट है इस लिये श्लेप-पुष्ट दृष्टान्तालंकार है।

(३८)

यहि विधि कहउँ कहा नहिं माना मारग[1] माहिं पसारिनि ताना[2]।
राति दिवस मिलि जोरिन्हि तागा[3] ओटत[4] कातत भरम न भागा।
भरमै[5] सभ जगश्च रहा समाई भरम छाँड़ि कतहूँ नाह जाई।
परय न पूरि[6] दिनहुँ दिन छीना[7] जहाँ जाय तहाँ अंग बिहूना[8]।
जो मत आदि अँत चलि आया सो मत सभ उन प्रगट सुनाया।
साखी—वह संदेस फुरमानिकै[9] लीन्हे उ सीस चढ़ाय।
सतो है संतोप सुख, रहहु तो ह्रिदय जुड़ाय[10] ॥

टि०—[भ्रम-बन्धन]

१—रास्ता (संसार)। २—ताना बाना अनेक सकाम कर्म रूप सूत का ताना। ३—कर्म रूप सूत। ४—कपास को ओटते हुए और सूत को कातते हुए। अर्थात् अनेक विधि-विधान करते हुए। ५—भ्रम बन्धन में। ६—पूर्णता (स्वरूपप्राप्ति) नहीं होती। ७—ज्ञान क्षीण होता जाता है। ८—मन और मन का अधिकार, तथा स्वरूप की हानि। ९—सत्य। १०—शीतल हो जाय।

---

*सभ घट रहल समाई।

भावार्थ—निजपद की प्राप्ति के बिना परमानन्द नहीं मिल सकता।

(३६)

जिन कलमा कलि माहिं पढ़ाया कुदरत[1]-खोज तिनहुँ नहिं पाया।
करिमत[2] करम करै करतूता बेद कितेब भये सब रीता।
करमते सो जु गरभ अवतरिया करमत सो जो नामहिं धरिया।
करमते सुन्नति और जनेऊ हिन्दू तुरुक न जानै भेऊ।
साखी—पानी[3] पवन संजोय के, रचिया यह उतपात[4]।
सुन्नहिं[5] सुरति समानियाँ, कासो[6] कहिये जात॥

टि०—[यवन-मत-और कर्म-बन्धन]

१—प्रकृति, माया। २—स्व स्व मतानुसार कर्म करते हैं। ३—वीर्य। ४—शरीरादिक। ५—असार—कर्म-जाल में। ६—किस किस को समझाया जाय।

भावार्थ—कर्म अप्रधान अतएव परतन्त्र हुआ करते हैं, और कर्ता प्रधान एवं स्वतन्त्र हुआ करता है, अतः कर्ता (चेतनात्मा) की महिमा को समझ कर बन्धन कारक कर्मों से दूर रहना चाहिये।

(४०)

आदम[1] आदि सुधी नहिं पाई मामा हवा[2] कहाँ ते आई।
तब नहिं होते तुरुक रु हिन्दू माय के रुधिर[3] पिता के बिन्दू[4]।
तब नहि होते गाय कसाई तब बिसमिल्लह[5]-किन फरमाई।
तब नहि होते कुल औ जाती दोजक[6] भिस्त[7] कवन उतपाती[8]।
मन—मसले[9] की खबरि न जाना मति भुलान दुइ दीन[10] बखाना।
साखो—संजोगे का गुन[11] रवै, बिनु *जोगे गुन जाय।
जिभ्यास्वाद के कारने, कीन्हे बहुत उपाय॥

*पाठा०—बिजोगे का।

टि०—[आदि-कथा]

१—मुसलमानों का अदि-पुरुष, सबों से प्रथम उत्पन्न होने वाला पुरुष। २—हव्वा, आदम की स्त्री। ३—रज। ४—वीर्य। ५—बिस्मिल्लाह अर्रहमान अर्रहीम'। ६—नर्क। ७—स्वर्ग। ८—उत्पन्न किये। ९—मन की कल्पना। १०—धर्म (हिन्दूधर्म और मुस्लिमधर्म) ११—बढ़ना संयम से सद्गुणों की वृद्धि होती है, और इन्द्रिय-परायणता से गुणों का ह्रास होता है।

भावार्थ—धर्म ध्वजी लोग, (स्वार्थी लोग) अपने पाखण्डों को निज धर्म बतला कर स्वार्थ सिद्ध करते रहते हैं।

(४१)

अंबुकि[1] रासि समुद्र[2] कि खाई रवि ससि कोटी तैंतिस भाई।
भँवर जाल में आसन माँड़ा चाहत सुख[3] दुख संग न छाँड़ा।
दुख का मरम न काहू पाया बहुत भाँति के जग भरमाया ॥
आपुहि बाउर आपु सयाना हृदय[4] बसै तेहि राम न जाना।
साखी—तेई[5] हरि तेइ ठाकुरा, तेइ हरि के दास।
ना[6] जम भया न जामिनी, भामिनि चली निरास ॥

टि०—[आज्ञानान्धकार]

१—देहादि संघात। २—संसार-सागर। ३—अहंकारादिक। ४—निज-रूप का परिचय नहीं है। ५—अज्ञानी लोग इस बात को नहीं जानते हैं कि वस्तुतः तेई = यही आत्मा हरि हैं। ६—इस प्रकार ज्ञान के हो जाने से यम ने जीवात्मा की जमानत नहीं ली। और भामिनि = माया भी निराश होकर चली गयी। जामिन = जमानत लेने वाला। भामिनी = स्त्री।

---

*पाठा०—बौराया।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्ति से अज्ञानादिक की निवृत्ति और आत्म-लाभ होता है।

(४२)

जब हम[1] रहल रहल नहिं कोई हमरे मांह रहल सभ कोई।
कहहू राम कवन तोरि सेवा सो समुझाय कहहू मोहि देवा।
फुर फुर[2] कहउँ मारु सभ कोई झूँठहि झूँठा संगति होई।
आंधर कहइ सभै हम देखा तहँ दिठियार[3] बैठि मुख पेखा।
यहि विधि कहउँ मानु जो कोई जस[4] मुख तस जो हिदया होई।
कहहिं कबीर हंस मुसकाई[5] हमरे कहले छुटिहहो भाई।

टि०—[आदि-रहस्य]

१—सृष्टि से पूर्व आत्मा एकाकी था। २—सत्य सत्य। ३—देखने वाला। ४—जैसी कहै वैसी करै। ५—बन्धे हुए हे जिज्ञासुओ।

भावार्थ—आत्म-कैवल्य-ज्ञान से मुक्ति होती है।

(४३)

जिन्ह जिव कीन्ह आपु[1] बिसवासा नरक गये तेहि नरकहिं बासा।
आवत जात न लागहि बारा काल अहेरी सॉझ सकारा।
चौदह-बिद्या[2] पढ़ि समुझावै अपने मरन कि खबरि न पावै।
जाने[3] जिव को परा अंदेसा[4] झूंठहि, आय कहा संदेसा।
संगति छांड़ि करै असरारा[5] उबहै[6] मोट[7] नरक कर भारा।

साखी—गुरु द्रोही औ मनमुखी, नारी पुरुष बिचार।
ते चौरासी भरमिहैं, जौ लौ ससि दिनकार ॥

टि०—[स्वेच्छाचारिता]

१—मन के अधीन हुए। २—"पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्म्मस्य च चतुर्दश"। पुराण, न्याय,

मीमांसा धर्मशास्त्र षडंग सहित चार वेद ये चौदह विद्याएँ हैं। ३—चतुर। ४—शोक ५—दुष्टता। ६—ढरकाता है। ७—चमड़े की मोट। ८—सूर्य्य।

भावार्थ—गुरु के बिना संशय नहीं मिटते।

(४४)

कबहुँ न भयउ संग अरु साथा ऐसो जनम गमायउ आछा।
बहुरि न पैहो ऐसो थाना[1] साधु संग तुम नहिं पहिचाना।
अब तोर होय नरक महँ बासा निसु दिन बसेउ लबारै[2] पासा।
साखी—जात सभनि कहँ देखिया, कहहिं कबीर पुकार।
चितवा[3] होय तो चेतिले, दिवस परतु है धार[4]।

टि०—[उद्बोधन (चेतावनी)]

१—स्थान, जगह, नरतन। २—झूँठा, मन। ३—चेतना। ४—धाड़ा, लूट, डाका, देखते २ संसार लूटा जा रहा है।

भावार्थ—सत्संग से सन्मार्ग मिलता है।

(४५)

हिरनाकुस[1] रावन गौ कंसा क्रिस्न गये सुर नर मुनि बंसा।
ब्रह्मा गयल मरम नहिं जाना बड़ सभ गयल जे रहल सयाना।
समुझि परी नहिं राम-कहानी निरबक[2] दूध कि सरबक[3] पानी।
रहिगौ पंथ[4] थकित भौ पवना[5] करि उजाड़[6] दसदिस भौ गवना।
मीन-जाल[7] भो ई संसारा लोहकि[8] नाव पषान[9] को भारा।
खेवै[10] सभै मरम नहिं जानी तहियो कहै रहै उतरानी।
साखी—मछरी-मुख[11] जस केंचुआ, मुसवन महँ गिरदान।
सरपन माहिं गहेजुआ, जात सभनि की जान॥

टि०—[संसार की अनित्यता और अज्ञानता]

१—हिरण्याक्ष । २—केवल, खालिस । ३—सब । ४—कर्त्तव्य । ५—श्वास । ६—दशों दिशाओं को शून्य करके जीव चला गया । ७—मछलियों के फँसाने का जाल (बन्धन कारक) । ८—अविद्या, अज्ञान । ९—कर्मों का बोझ । १०—स्वार्थी लोग अज्ञानियों से कहते हैं कि "हम तुमको संसार सागर से पार कर देंगे, क्योंकि नौका खेने की कला हमहीं जानते हैं" वस्तुतः अविद्या रूप नौका यात्रियों को लिए हुए डूबी जा रही है । तिसपर भी उक्त खेवैया कह रहे हैं कि "देखिये यह नौका कैसी तैरती हुई चली जा रही है" यह कैसा आश्चर्य है । ११—कैंचुआ = लंबे लंबे बरसाती कीड़े । गिरदान = गिरगट । गहेचुआ = छुछुन्दर । जान = जीव । अर्थ—उक्त वञ्चक गुरुओं की वाणी-जाल में फँसकर अज्ञानी लोग इस प्रकार मारे जाते हैं जिस तरह बसी (काँटे) में लगाये हुए केंचुये को खाने से, मछली मारी जाती है और रंगीले गिरगट को सुन्दर—फल समझ कर पकड़ने वाला चूहा अन्धा बन कर मर जाता है । तथा छुछुन्दर को पकड़ने वाला सर्प कोढ़ी बनकर प्राण दे देता है । दूसरा अर्थ यह है, गिरदान = चूहे मारने का एक यंत्र । और गहेजुवा = झाऊ मूसा । (जिसके शरीर पर काँटे होते हैं । वह बहुत कर मारवाड़ के जंगलों में पाया जाता है ।) भाव यह है कि मुक्ति चाहने वालों को सद्गुरु की शरण में जाना चाहिये ।

(४६)

बिनसै नाग[1] गरुड़ गति जाई बिनसै कपटी औ सत भाई ।
बिनसै पाप पुन्न जिन कीन्हा बिनसै गुन गिरगुन जिन चीन्हा ।
बिनसै अगिनि पवन अरु पानी बिनसै सिद्धि कहाँ लौं गनी ।
बिसु-लोक बिनसै छिन मांही हौं[2] देखा * परलय की छाँही ।

*पाठा०—यह देखो ।

साखी—मच्छरूप माया भई, जवरहिं[२] खेल अहेर।
हरिहर ब्रह्म[३] न ऊबरे, सुरनर मुनि केहि[४] केर॥

टि०—[प्रलय का दृश्य]

१—शेष। २—आत्मा, साक्षी रूप केवल चेतन ही अवशिष्ट रहता है। इसंग रहकर। ४—ब्रह्मा। ५—किस गिनती में हैं।

(४७)

जरासिंध सिसु-पाल संघारा सहस अरजुनै छल सों मारा।
बड़[१] छली रावन सो[२] गौ बीती लंका रहल कंचन की भीती।
जिरजोधन अभिमानहिं गयऊ पंडव केर मरम नहिं पयऊ।
माया[३]-डिंभ गयल सब राजा उत्तिम[४] मधिम बाजन बाजा।
छव[५] चकवै बित धरनि समाना एकहु जीव प्रतीति न आना।
कहँलौं कहउं अचेतहि गयऊ चेत[६] अचेत झगर एक भयऊ।
साखी—ई माया[७] जग मोहनी, मोहिन सब जग झार।
हरिचंद सत के कारने, घर-घर सोग बिकाय॥

टि०—[माया की प्रबलता और संसार की अनित्यता]

१—बड़ा छली। २—वह। ३—माया के पुत्र। ४—सुशासन और कुशासन के द्वारा सुयश और कुयश को फैलाने वाले। ५—छः चक्रवर्ती राजाओं की विभूति धरातल में समा गई।

चक्रवर्ती—वेनु, बलि, कंस, दुर्योधन, पृथु, और त्रिविक्रम। ६ ज्ञानी और अज्ञानियों का कथनोपकथन, वाद विवाद होता रहता है। ७ माया ने सबों को संकट में डाला। राजा सत्य-हरिश्चन्द्र भी सत्य की रक्षा के लिये सपरिवार अपने आपको बेचने के निमित शोक से व्याकुल होकर काशीपुरी की गली-गली और घरों-घरों में भटके थे।

(४८)

भाखिक[१]-पुरहिं कबीर बसेरी मद्दति[२] सुनी सेखतकि[३] केरी।

ऊजो सुनी जवनपुर[४] थाना भूंसी सुनि पीरन के नामा।
एकइस पीर लिखे तेहि ठाना खतमा[५] पढ़ैं पैगंबर नामा।
सुनत बोल मोहि रहा न जाई देखि मुकरबा[६] रहा भुलाई।
नबी[७] हबीबी[८] के जो कामा जहँलौं अमल[९] सो सबइ हरामा[१०]।

साखी—सेख अकाद (सेख) सकर्दि तुम, मानहु बचन हमार।
आदि अंत औ जुग जुग, देखहु दिष्टि पसार।

टि०—[यवन मत-विचार उपदेश और प्रचार]

१—जबलपुर लाइन में इस नाम का एक शहर है। कबीर साहेब ने कुछ दिनों तक वहाँ निवास किया था, यह बात पनिका जाति के लोगों में अब भी प्रसिद्ध है। सुना जाता है कि उक्त जाति के प्राचीन ग्रन्थ' मानि-कखंड' में कबीर साहब का ऐतिहासिक-वृत्तान्त पूरी तरह लिखा हुआ है। २—(मदहत) प्रशंसा। ३—सुप्रसिद्ध फकीर। ४—जौनपुर और भूसी में पीर लोग बहुत रहा करते थे। ५—(खुत्बा) पैगम्बरों के नाम का खुत्बा=प्रार्थना विशेष। ६—(मकबरा) कब्र, समाधि। ७—ईश्वर के दूत (मुसलमानों के अवतार)। ८—हबीब=दोस्त (मित्र) हजरत मुहम्मद साहब। ९—खुदा के मिलने के साधन (उपाय) कुरबानी वगैरह। १०—अपवित्र (पाप)। ११—इस नाम के दो मुसलमान नेता थे।

भावार्थ—सातवें आसमान पर रहने वाले भूंठे खुदा से मिलने के लिये (हाजिरनाजिर) सच्चे खुदा जीवात्मा (चेतन देव) को सताना 'दीन' (धर्म) नहीं कहा जा सकता। 'जीते जी मुरदा कर डाला तासे कहत हलाल हुवा, ऐरे मूरख नादाना तैने हरदम साहब ना जाना। (बीजक)।

(४६)

दरकी[१] बात कहौ दरबेसा[२] बादसाह[३] है कवने भेषा।

कहाँ कूंच[४] कहँ करै मुकामा[५] मैं तोहि पूछौं मूसलमाना।
लाल जरद[६] की नाना[७] बाना कवन सुरति[८] को करहु सलामा।
काजी काज करहु तुम कैसा घर घर जबह[९] करावहु भैंसा।
बकरी मुरगी किन फरमाया किसके हुकुम तुम छुरी चलाया।
दरद न जानहु पीर[१०] कहावहु बैंता[११] पढ़ि पढ़ि जग भरमावहु।
कहैं कबिर एक सयद[१२] कहावैं आप सरीखा जग कबुलावैं।

साखी—दिन[१३] भर रोजा रहत हौ, रात हनत हो गाय।
यहै खून वह बंदगी, क्यों कर खुशी खुदाय।

टि०—[मुसलमानों से प्रश्न]

१—पता। २—फकीर। ३—खुदा। ४—यात्रा। ५—पड़ाव, स्थान। ६—पीला। ७—विचित्र, बहुरूप। ८—सूरत। काजी=न्याय कर्ता। 'काजी सो जो काज बनावै नहिं अकाज से राजी। जो अकाज की बात चलावै सो काजी नहिं पाजी। [कबीर की साखी] ९—काटना, हलाल। १०—'कबीर सोई पीर है, जो जाने परपीर जो पर-पीर न जानई, सो काफिर बे पीर।' ११—शेर, शब्द, साखी। १२—शय्यद जाति के मुसलमान विशेषतया औरों को बलात्कार से मुसलमान बना लेते थे। १३—केवल सूर्योदय से सूर्यास्त तक भूँखे रह जाना कोई भारी इबादत नहीं है, तिस पर भी निरपराध खुदा की दी हुई सब से बड़ी नियामत "गाय" को मटिया मेट कर देना कितना बड़ा अपराध है, भला बतलाइये खुदा मियाँ खुश होवें तो कैसे होवें। भजन 'अहरन की चोरी करै अरु करै सुई का दानरे, ऊपर चढ़ि के मूरख देखै कब आवै विमान रे। गोविंदा न गायो तैंने कहा कमायो बावरे।'

भावार्थ—सबों पर रहम करने से खुदा खुश रहता है।

(५०)

कहइत मोहि भयल[1] जुग चारी समुझत नाहिं मोह* सुत-नारी।
बंस आगि लगि बंसहि जरिया भरम भूलि नर धंधे[2] परिया।
हस्तिनि-फंदे हस्ती रहई भिरगी के फंदे मिरगा परई।
लोहे[3] लोह जस काटि सयाना तिय के तत्त तिया पहिचाना।
साखी—नारि रचंते पुरुष हैं, पुरुष रचंते नार।
पुरुषहि पुरुषा जो रचै ते बिरले संसार॥

टि०—[मोह-महिमा]

१—'गर्भ एव वामदेवः प्रतिपेदे, अहं मनुरभवं सूर्यश्च' अर्थात् मैं मनु और सूर्य हुआ था इत्यादिक वामदेव के कथन की तरह कबीर साहब का भी यह कथन आत्मदृष्टि से है, देहदृष्टि से नहीं, 'आत्म दृष्ट्या तूपदेशो वामदेवत्'। (वेदान्त—दर्शन)। २—कर्म-बन्धन। ३—सयाने लोग लोहे से लोहे को काटते हैं। ४—रचै=प्रेम करना। आत्माराम (आत्मा में रमण करने वाले) विरले हैं।

भावार्थ—मोहान्धकार में पड़े हुए लोग परमार्थ-पथ से बिचलित हो जाते हैं।

(५१)

जाकर नाम अकहुआ[1] (रे) भाई ताकर कहा रमैनी[2] गाई।
कहेके तात्पर्ज[3] है ऐसा जस पंथी बोहित चढ़ि बैसा।
है किछु रहनि[4] गहनि की बाता बैठा रहै चला पुनि जाता।
रहै बरन नहिं स्वाँग[5] सुभाऊ मन अस्थिर नहिं बोलै काऊ।
साखी—तन[6] रहते मन जात है, मन रहते तन जाय।
तन मन एकै ह्वै रहै, हंस—कबीर कहाय॥

---

* पाठा०—मोर सुतनारी।

टि०—[अकथ-कथा और ज्ञानियों के लक्षण]

१—कहने में नहीं आने वाला। २—कथा, वर्णन। ३—सार सिद्धान्त (तत्व) पर आरूढ़ होना ऐसा है। ४—यह दृढ़ धारणा की महिमा है। ५—ज्ञानियों को देहाध्यास नहीं होता है। ६—अज्ञानियों का चित्त सदैव क्षिप्तादि भूमिका वाला रहा करता है, इस कारण उनका शरीर कहीं और मन कहीं रहता है, और कभी मन कहीं और शरीर कहीं रहता है; परन्तु ज्ञानियों की दशा ऐसी नहीं होती उनकी चित्तवृत्ति तो आत्म मुख रहा करती है। ऐसी धारणावालों को ही 'हंस—कबीर' और ज्ञानी कहते हैं।

भावार्थ—'जस बाहर तस भीतर जाना। बाहर भीतर एक समाना'॥

(५२)

जेहि[1] कारन सिव अजहुँ बियोगी अंग भभूति लाय भौ जोगी।
सेस सहस-मुख पार न पावै सो अब खसम[2] सही समुझावै।
ऐसी[3] विधि जो मोकहँ धावै छठये[4] माँह दरस[5] सो पावै।
कवनेहुँ भाव दिखाई देऊँ सब सुभाव गुपतहि रहि लेऊँ।

साखी—कहँहिं कबीर पुकारिके, सभका उहैं विचार।
कहा हमर मानै नहीं, किमि छुटै भ्रम-जाल॥

टि०—[आत्म-सन्देश]

१—जिस आत्म साक्षात्कार के लिये। २—इष्ट आत्म-देव। ३—पूर्वोक्त धारणा से, धावै-धधावै। ४—शुद्धान्तः कारण रूप मुकुर में, 'दिल में खोज दिलहि में खोजो, यहीं करीमा रामा।'हृदय बसे तेहि राम न जाना' (बीजक) ५—चित्प्रतिबिम्ब। ६—सहज भाव। ७—संशय कर्मादिक निवृत्त हो जाते हैं। 'भिद्यते हृदय-ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया.। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे, इति श्रुति। ८—दशा मन की अधीनता।

भावार्थ—अन्तर्मुख वृत्ति आत्म-साक्षात्कार में उपयोगिनी होती है।

(५३)

महादेव-मुनि अंत न पाया उमा-सहित उन जनम गँवाया।
उनते सिध साधक नहिं कोई मन निश्चल*कहु कैसे होई।
जब-लग तन में आहै सोई[1] तब-लग चेति न देखै कोई।
तब चितिहो जब तजिहो प्राना भया अंत तब मन पछिताना।
इतना[2] सुनत निकट चलि आई[3] मन-बिकार नहिं छूटे भाई।
साखी—तीनि-लोक में आय के, छूटि न काहुकि आस।
इक—अँधरे[4] जग खाइया, सभ का भया निपात॥

टि०—[मन की प्रबलता]

१—प्राण। २—वेद, शास्त्र, पुराणादिक। ३—मृत्यु। ४—मन निरञ्जन। 'एकल निरञ्जन सकल सरीरा तामें भ्रमि भ्रमि रहल कबीरा।' (बीजक)

भावार्थ—संक्षुब्ध मनो-महोदधि में चिच्चान्द्राँशु प्रतिफलित नहीं होते। 'जब दरसन करना चाहिये, तब दरपन माँजत रहिये। दरपन में लागी काई, तब दरस कहाँ ते पाई'।

(५४)

मरि गये ब्रह्मा कासिके बासी सीव सहीत मुये अबिनासी[1]।
मथुरा(के) मरिगये किसन गुवारा[2] मरि मरि गये दसौं अवतारा।
मरि मरि गये भगति जिन ठानी सरगुन माँजिन निरगुन आनी।
साखी—नाथ मछंदर ना छुटे, गोरख दत्ता व्यास।
कहहिं कबीर पुकारि के, परे काल की फाँस॥

टि०—[शरीरों की अनित्यता और काल की प्रबलता]

१—अमर कहाने वाले, देवादिक। २—गोपाल। ३—विशेष २ गुणों के अभिमानी होने के कारण गुणों का स्वकारण में (साम्यावस्थापत्तिरूप)

* पाठा० अस्थिर।

लय होना ही देवतादिकों का मरण है। अमर संज्ञा तो चिरजीवी होने से है।

भावार्थ—झूठी-अमरता की इच्छा को छोड़कर सच्ची—अमरता (मुक्ति) के पाने के लिये पूर्ण—प्रयत्न करना चाहिये।

(५५)

गये राम अरु गए लछमना संगे न गइ सीता अस धना[1]।
जात कौरवन लागु न बारा गये भोज जिन साजल धारा[2]।
गये पंडौ कुंता सो रानी गे सहदेव जिन बुधिमति ठानी।
सरब सोन की लंक उठाई[3] चलत बार किछु संग न लाई।
कुरिया जासु अंतरिछ[4] छाई सो हरिचंद देख (ल) नहिं जाई।
मूरष-मानुष बहुत सँजोवै[5] अपने मरै अवरिलगि रोवै।
इ न जानै अपनउँ मरि जैबे बिढ़ै[6] 'टका दस*अवर ले खैबे।

साखी—अपनी अपनी करि गए, लागिन काहु की साथ।
अपनी करि गये रावन, अपनी दसरथ[7] नाथ।

टि० = [संसार की अनित्यता]

१—पतिव्रता स्त्री। 'धन' और 'धनिया' ये शब्द संस्कृत (शब्द) धन्या के रूपान्तर हैं। २—भोज की राजधानी धारा-नगरी। पंडौ = पंडु राजा अथवा पांडव भी ३—बनवाई। ४—महल, मकान। ५—आकाश। ६—संचय करता है। ७—सूद, मूर्ख-मनुष्य सोचता है कि सूद से दश-टके मिलें तो खूब काम चले। बिढ़ै यह शब्द सं० वृद्धि या वृद्धैय का रूपान्तर है। ८—दशरथ जी या रामचन्द्र। अवरिलगि = दूसरों के लिये।

भावार्थ—संसार को असार समझ कर सार की खोज में लग जाना चाहिये।

---

* पाठा०—टकादस विरन्ह।

(५६)

दिन दिन[1] जरइ जरल के पांऊ गाड़े जाय न उमगे[2] काऊ।
कंधन[3] देइ मसखरी[4] करई कहुधौंकबनि भाँति निसतरई।
अकरम[5] करइ करम को धावैं पढ़ि गुनिबेद जगत समुझावैं।
छूंछे[6] परे अकारथ जाई कहहिं कबिर चित चेतहु भाई।

टि०—[वञ्चक—गुरुओं की वञ्चकता]

१—त्रितापाग्नि से सन्तप्त अज्ञानी, उक्त गुरुओं के बचनानल में पड़कर दिनों दिन अधिकाधिक जलते रहते हैं। २—उभरना, निकलना। जिन जिन को उन्होंने अज्ञानतारूप गढ़े में गाड़ा है, उसमें से कोई नहीं उभरा। ३—सत्योपदेशरूप सहारा। ४—प्रतारणा, ठठोली, ठट्ठा। ५—औरों को तो निष्काम रहने का उपदेश देते है, परन्तु स्वयं उठाये हुए प्रपंच के गट्ठरों को भार से कराहते रहते हैं। ६—ऐसे गुरुओं के उपदेशों को मानने वाले ज्ञान से छूँछे=खाली ही रह जाते हैं। और उन्हों का नरतन व्यर्थ चला जाता है।

भावार्थ—"कनफुक्के गुरु हट्ट के, हवेद के गुरु और। बेहद के गुरु जब मिलैं, लगै ठिकाने ठौर। (साखी—संग्रह)

(५७)

क्रितिया[1] सूत्र लोक इक अहई लाख पचास कि आयू कहई।
विद्या[2] बेद पढ़ैं पुनि सोई बचन कहत परतच्छै होई।
पहुँचि[3] बात विद्या की पेटा बाहुके भरम-भया संकेता।
साखी—खग[4] खोजन को तुम परे, पीछे अगम अपार।
बिनु परिचय कस जानिहो, (कबीर) झूठा है हंकार॥

टि०—[स्वर्ग-लोक और साकेत-पुरी का बिचार]

१—स्वर्ग-लोक क्रितियासूत=कच्चे सूत के समान बिनश्वर है और

वह अपने ही कर्मों से पैदा होता है। तिस पर भी उसकी महिमा कर्म-वादियों ने बहुत कुछ गाई है। उनका कथन है कि स्वर्ग-वासियों की आयु सहस्रों दिव्य-वर्षों की होती है। २—कर्म कांडी सदैव कर्मोपयोगी तथा स्वर्गादि-प्रतिपादक "स्वर्गकामो यजेत।" इत्यादि विधि-वाक्यों का ही परिशीलन करते रहते हैं। और स्वर्ग सुख का वर्णन इस प्रकार करते हैं मानों उन्होंने उसको प्रत्यक्ष ही कर लिया है। ३—इस तरह बढ़ा चढ़ा कर कहने का परिणाम यह होता है कि सुनने वाले के हृदय में वक्ता के वचन स्थिर हो जाते हैं और श्रोता को कठिन भ्रम-जाल में डाल देते हैं। सँकेता=निविड़, तंग। ४—खग=पक्षी (मन) ऐ भाइयो! आप लोग कल्पना रूप आकाश में उड़ते हुए मन रूपी पक्षी के पीछे व्यर्थ ही दौड़ रहे हैं, क्योंकि साधन और परिचय के बिना उसका पकड़ना असम्भव है।

(५८)

तैं सुत ! मानु हमारी[1] सेवा तो कहँ राज[2] देउँ हो देवा[3]।
अगम[4] दुगम[5] गढ़[6] देउँ छुड़ाई अवरो बात सुनहु किछु आई।
उतपति परलै देउँ दिखाई करहु राज[7] सुख[8] बिलसहु जाई।
एको बार[9] न होइहै बाँको बहुरि न जन्म होइ है ताको।
जाय पाप*सुख होइहै घाना निश्चय बचन कबीर के माना।
साखी—साधु-संत[10] तेइ जना, मानल बचन हमार।
आदि अंत उतपति प्रलै, देखहु × दिष्टि पसार॥

टि०—[सद्गुरूपदेश]

१—आत्म-प्रीति। कबीर साहब का यह उपदेश आत्म-भाव से है। २—आत्म-राज्य, स्वाराज। ३—हे जिज्ञासु जीव! "जीवो नारायणो देवो देहो देवालयः स्मृतः।" ४—अजेय, (असाध्य-कर्म)। ५—दुर्गम,

* पाठा०— देहौं सुखधाना × देखा।

दुर्जेय (दुःसाध्य-कर्म)। ६—किला (कर्म-बन्धन)। ७—स्वराज्य। ८—निजानन्द, परमानन्द। ९—रोम, केश। (आत्मरति और आत्म-तृप्त हो जाने से) १०—इस आत्मोपदेश को मानने वाले ही 'सन्त' कहलाते हैं। "सन्तमेनं विदुर्बुधाः" (श्वेताश्वतरोपनिषद्) आत्मसाक्षात्कार करने वाले महात्माओं का नाम ही सन्त है। यहाँ पर "सुत" सूचना शब्द से शिष्य सम्बोधित किया गया है, क्योंकि "वंशो द्विधा विद्यया जन्मना च।" वंश दो प्रकार के होते हैं एक विद्या से और दूसरा जन्म से।

(५९)

चढ़त[1] चढ़ावत भँडहर[2] फोरी मन[3] नहिं जानै के करि चोरी।
चोर एक मूसै संसारा बिरला जन कोइ बूझनिहारा।
सरग पताल भूमि लै बारी[4] ऐकै-राम सकल रखवारी।
साखी—पाहन[5] होय होय सब गये, बिनु भितियन के चित्र*।
जासे कियउ मिताइया, सो धन भया न हित्त×।

टि०—[हठयोगियों की दशा]

१—प्राणों को चढ़ते चढ़ाते। २—भाँडा, बासन (खोपड़ी) या शरीरादिक। ३—हठ योगी काल को वंचित करने के लिये प्राणों को ब्रह्मांड में निरुद्ध करके समाधिस्थ होकर मृतवत् और जडवत् हो जाते हैं, यह उनका अभिनिवेश-क्लेश (मृत्यु-भय) सदैव बना रहता है। इस कारण वे मुक्त नहीं हो सकते। वस्तुतः इन वंचनाओं का करने वाला चोर मन ही है, परन्तु उस चोर की चोरी का रहस्य हठ योगी नहीं जान सकते। ४—बाड़ी, बगीचा। ५—इस प्रकार अनात्मोपासक सबही हठ-योगी शून्य में समाधि लगाने से स्वयं शून्य (पाहनवत्) हो हो कर जल ज्वाल में डूब जाते हैं। क्योंकि उन्हीं के कार्य मनः कल्पित चित्रों

* पाठा०—चित्त। × भा अनहित।

की तरह प्रतिभासित होते हैं। इसके अतिरिक्त जिस ऐश्वर्य की वे इच्छा करते हैं, वह स्वयं अहितकर है।

(६०)

छाँड़हु पति[1] छाँड़हु लबराई[2] मन अभिमान टूटि तब जाई।
जन[4] चोरी * जो भिच्छा खाई सो बिरवा पलुहावन जाई।
पुनि[5] संपति औ पति को धावै सो बिरवा संसार ले आवै।
साखी—झूठ[3] झूठ करि डारहू, मिथ्या यह संसार।
तिहि कारन मैं कहत हौं, जाते होय उबार॥

टि०—[उपदेश]

१—पतित्व, मालिकपन, श्रेष्ठता का दुरन्त-अहंकार। २—झूठापन, वर्ण और आश्रमादिकों की मिथ्याबुद्धि क्योंकि आत्मा का कोई वर्ण और आश्रम नहीं है। ३—ये अहंकार की निवृत्ति के साधन हैं। ४—जो लोग चोरी करके खाते हैं और जो अज्ञानी अकर्मण्य (निकम्मे) बन कर भिक्षा ही से जीवन यात्रा करते हैं, वे लोग सम्बर्द्धित-निज-दुर्गुण वारि-धारा से संसार वृक्ष को बढ़ाते (पालते) हैं। ५—और जो धन तथा ऐश्वर्य का अहंकार रखते हैं, उनका वह अहंकार रूपीवृक्ष, अपने कटु-फलों (जन्म और मरण) को खिलाने के लिये अहंकारियों को भयङ्कर संसार-अटवी में घसीट कर ले आता है। ६—इस मिथ्या-संसार को तुमने अपनी कामनाओं से सत्य बना रखा है। यदि मुक्त होना चाहते हो तो झूठे संसार को झूठा समझ कर छोड़ दो। 'मुक्तिमिच्छसि चेत्तात ! विषयान् विषवत्त्यज। क्षमार्जवदयाशीलं सत्यं पीयूषवद्भज (श्रष्टा

पाठा०—* प्राचीन पाठ यही है, किसी पुस्तक में 'जिन ले' ऐसा भी है, उसका अर्थ भी 'सो' के अनुरोध से 'जिसने' ऐसा ही होगा। यत्तदो नित्यसम्बन्धः 'जो' और 'सो' की जोड़ी कबही नहीं विछुड़तीं क्योंकि दोनों सापेक्ष हैं।

क गीता) हे शिष्य ! तू यदि मुक्ति चाहता है तो विषयों को विष की तरह दूर ही से छोड़ दे और क्षमा, सरलता दया, शील और सत्य इन सद्गुणों का अमृत की तरह सेवन कर ।

भावार्थ—मिथ्या अहंकाराग्नि की दिगुदिगन्त-व्यापिनी-प्रचण्ड-ज्वालाओं से संसारशलभ समूह जलता चला जा रहा है ।

(६१)

धरम-कथा जो कहतै रहई लाबरि[1] नित उठि प्रातै कहई ।
लबरि बिहानै लाबरि संझा इक-लाबरि[2] बसे हृदया मंझा ।
रामहुँ[3] केर मरम नहिं जाना लेमति[4] ठानिनि वेद.पुराना ।
वेदहुँ केर कहल नहिं करइ जरतई रहै सुस्त[5] नहिं परई ।
साखी—गुनातीत[6] के गावते आपुहि गये गँवाय ।
माटी तन माटी मिल्यो, पवनहिं पवन समाय ॥

टि०—[धर्म कथा के व्यवसायियों की दशा]

१—झूठ, पाषण्ड-प्रचार । २—मिथ्या-अहंकार । ३—सर्व-भूत-हृदय निवासी राम का परिचय नहीं हुआ, यदि हुआ होता तो अनुचित-घृणा और विषम दृष्टि न रहती । ४—वेद और पुराणों का भी मनमाना अर्थ कर डाला है । ५—बुझती नहीं । ६—ईश्वर की निर्गुणता और निर्विकारता के मौखिक गीत गातेगाते स्वयं संयमहीन होने के कारण संसार-सागर में खो गये (डूब गये) । ७—शरीर की पञ्चत्व प्राप्ति का वर्णन ।

भावार्थ—'जैसी कहै करै पुनि तैसी, राग-द्वेष निरुवारै ।
तामें घटै, बढ़ै रतियो नहिं, यहि विधि आपु सँभारै ॥ (बीजक)

(६२)

जो[1] तू करता बरन बिचारा जनमत तीनि-डंड अनुसारा ।
जनमत[2] सूद्र मुये पुनि सूद्रा क्रितिम-जनेउ[3] घालि जगध्रुंद्रा[4] ।
जो तुम ब्राह्मन ब्राह्मनि जाये अवर राहते[5] काहे न आये ।

जो तुम तुरुक तुरुकनी जाये पेटहि काहे न सुनति[1] करावे।
कारी पियरी दूहहु गाई ताकर दूध देहु बिलगाई[2]।
छाँड़ कपट नर अधिक-सयानी[3] कहँहिं कबिर भजु सारँग-पानी[4]।

टि०—[एक-जाति-वाद तथा मनुष्य-जाति-निरूपण]

१—सबों के जन्म कर्म-दंड को भोगने के लिये हुए हैं, और सब ही संसार रूप को कारागार में पड़े हुए हैं, तिस पर भी किसी का यह समझना कि हम सर्वोत्कृष्ट और परम पवित्र हैं, कहाँ तक संगत है। दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि यदि आप लोग अपने आपको निर्दोष, परम पवित्र एवं सर्वोत्कृष्ट मानते हैं, तो बतलाइये कि जन्मते ही त्रितापादिक तीन दंड आप लोगों के पीछे क्यों लग गये। २—"जन्मना जायते शूद्रः" इस स्मृति-वचन के अनुसार। ३—स्वकृत। ४—द्वन्द्व, अहंकार। ५—उत्तम-अंग से। ६—मुसलमानी। ७—अलग २ कर दीजिये। ८—अधिक-चतुराई। ९—सारँग=धनुष हाथ में रखने वाले 'राम' अर्थात् अहं-कारियों के अहंकार को विदलन करने वाले। महा-अहंकारियों के अजेय शरंगपाणि राम का स्मरण कराना कैसा साभिप्राय है, और इस विशेषण के साभिप्राय होने ही के कारण यहाँ पर "परिकर" अलंकार कैसा चमक रहा है। "है परिकर आसय लिये जहाँ बिशेषन होय" (भूषण) "चक्र पाणि-हरि को निरखि असुर जात भजि दूर। रस बरसत घन-स्याम तुम ताप हरत मुद पूरि"। (अलकार मंजूषा)।

भावार्थ—ऊँच और नीच भाव का कारण धर्म और अधर्म का आचरण ही है, जन्म (जाति विशेष में जन्म लेना) नहीं।

(७३)

नाना-रूप[1] बरन एक कीन्हा चारि[2]-बरन उहि काहु न चीन्हा।
नष्ट[3] गये करता नहिं चीन्हा नष्ट[4] गये अवरहिँ मन दीन्हा।
नष्ट[5] गये जिन बेद-बखाना बेद पढे पै भेद न जाना।
बिमलख[6] करै नयन नहिं सूझा भो अयान तब किछु न बूझा।

साखी—नाना नाच नचाय के, नाचै नट के भेख।
घट घट अविनासी अहै, सुनहु तकी[9] तुम सेख॥

टि०—[वर्ण-विचार]

१—नाना रूप वाले और नाना वर्णों के अहंकार को रखने वाले सबही मनुष्यों को एक ही ईश्वर ने बनाया है, ईश्वर की बनायी हुई चीज को तुच्छ समझ कर उनसे घृणा करना ईश्वर का भारी तिरस्कार करना है। २—जिस ईश्वर ने यह सब कुछ किया उसको चार वर्णों में से किसी ने नहीं पहिचाना। भाव यह है कि एक पिता से उत्पन्न हुए चार पुत्रों की एक ही जाति होना मानवधर्मानुसंगत है। हाँ अपने अपने गुणों और कर्मों के अनुसार ऊँचे और नीचे आसनों पर बैठ सकते हैं। ३—जिन्होंने सबों को एक ईश्वर की सन्तान समझकर आपस में भ्रातृ-भाव को स्थापित नहीं किया वे पारस्परिक द्वेषाग्नि से नष्ट हो गये। ४—और जिन्होंने एक राम सर्वसाक्षी "साहब" को छोड़ कर अनेक पाषण्डों में मन को उरझाया वे भी बे मौत मारे गये। ५—और जिन बाममार्गी आदिकों ने अयथार्थ रूप से वेदों का व्याख्यान किया वे भी नर्कगामी बनकर नष्ट हो गये। ६—और हलाल-प्रिय उल्मा लोग खुदा के नूर को गाय वगैरह में भी मानते हुए तथा सामने अपने देखते हुए भी विमलख करैं=अनदेखी कर देते हैं। वस्तुतः जिह्वा के स्वाद से सब के सब अन्धे हो गये हैं। ७—तकी नाम वाले ऐ सेख जी! आप सुनिए, हर-दिल खुदा मियाँ के तख्त हैं, इसलिए उन्हीं को जबह कर के खुदाई तख्त का तोड़ना सख्त गुनाह है। आपको तो हर-दिल-अजीज होना चाहिए। यदि किसी पुस्तक में बिनु लख, ऐसा पाठ हो तो बहुत ही अच्छा हो।

(६४)

काया[1]-कंचन जतन कराया बहुत भाँति कै मन पलटाया।
जो सौ[2]-बार कहौं समुझाई तैयो धरो छोरि नहिं जाई।

जनके[१] कहे जन रहि जाई नवौ निधी सीधी तिन्ह पाई।
सदा[४] धरम जिहि हृदया बसई राम कसौटी कसतहि रहई।
जो[५] रे कसावै अन्तै जाई सो बाउर आपुहि बौराई।
साखी—काल फाँसि ताते[६] परी, करहु आपना सोच।
संत सिधावैं संत पहँ, मिलि रह पोचै पोच[७]*।

टि०—[आत्म-रति और अनात्म—संसर्ग]

१—सद्गुरु कहते हैं कि मैंने जिज्ञासुओं के हृदयस्थ निर्मल-आत्म रूप कंचन की रक्षा के लिए उन्हीं से विवेकादिक अनेक प्रयत्न करवाये। २—मैं सबों को बार बार कहता हूँ परन्तु अपने हृदय में धरी हुई असत्कामनाओं को वे नहीं छोड़ते। ३—सिद्धियों की तुच्छ वासना बनी रहती है। ये सिद्धियाँ तो अनात्मयोगियों के कथनानुसार सूर्यादि मंडल में संयम करने से भी भुवन-विज्ञानरूप से प्राप्त हो जाती हैं। वस्तुतः सिद्धियाँ तो परमार्थ पथ में खाइयाँ हैं, अतएव तत्व-दर्शी इन्हीं से बच कर चलते हैं। रत्नों की खोज में निकले हुए सच्चे पारखी को क्या कौड़ियों का ढेर ललचा कर रोक सकता है? कदापि नहीं। सुनिये, "रिद्धि और सिद्धि (सुन्दर विलास) जाके हाथ जोरि आगे खड़ी, सुन्दर कहत वाके सबही गुलाम हैं"। ४—जो आत्मरति रखने वाला मुमुक्षु है वह सच्चा स्वर्ण है, क्योंकि वह राम कसौटी पर बराबर टिका रहता है, अतएव अपनी निर्मलता को सुरक्षित रखता है। ५—और जो मायोपासक इन्द्रियपरायण है, वह नकली सोने की तरह अविवेकियों में बड़ाई पा लेने से फूला रहता है, परन्तु तत्वपद—रूप कसौटी पर कदापि नहीं टिक सकता है। ६—स्वरूप—विस्मृति से। ७—निकम्मे, असाधु।

"कबीर कसौटी राम की, खोटा टिकै न कोय।
राम कसौटी सो टिकै, जो मरजीवा होय॥"

पाठा०—*धूतहि धूत।

मावार्थ—"बगा ढँढोरै माँछली, हंसा मोती खाँय।"

(६५)

अपने[1] गुन को अवगुन कहहू (इ) है अभाग जो तुम न बिचारहू।
तू[2] जियरा बहुतै दुख पावा जल बिनु मीन कवन[3]-सचुपावा।
चात्रिक जलहल[4] आसै पासा स्वांगधरै भव—सागर आसा।
चात्रिक[5] जलहल भरेजु पासा मेघ न बरिसै चलै उदासा।
रामै-नाम[6] अहै निजु सारू औरो झूठ सकल-संसारू।
हरि उतंग तुम जाति पतंगा जम-घर कियहु जीवको संगा।
किंचित[7] है सपने निधि पाई हिय न माय कहँ धरौं छिपाई।
हिय[8] न समाय छोरि नहि पारा[9] झूठ लोभ तैं कछु न बिचारा।
सुम्रिति[10] कीन्ह आपु नहिं माना तरु-तर छल छागर होय जाना।
जिव दुरमति डोलै संसारा ते नहिं सूझै बार न पारा।
साखी—अन्ध भये सब डोलही, कोइ न करै बिचार।
कहा हमर मानैं नहीं, किमि छूटै भ्रम-जाल॥

टि०—[उपदेश]

१—यह रमैनी लोक विशेष-निवासी विजातीय ईश्वर के उपासकों को लक्ष्य करके कही गयी है। तटस्थ-ईश्वर के उपासक भाइयो! आप लोग अपने निर्मल स्वरूप को भूल कर उसको दूषित ठहरा रहे हैं। विवेक हीन होना ही आप सबों की अभागता है। २—स्वरूपानन्द-सागर में विहरने वाले हे जीव मात्स्य! तू उससे बाहर निकल कर और अनेक देवोपासना-रूप सन्तप्त-सैकत-भूमि में पड़कर 'बहुतै दुख पावा'। ३—कौनसा सुख उठाया? ४—जलाशय। जिस प्रकार पपीहा गंगादिक जलाशयों के पास रहता हुआ भी उन्हीं के सुलभ और ध्रुव-जल को छोड़ कर स्वाति में बरसने वाले अध्रुव जल की आशा रखता है, अतएव भारी संकट उठाता है। इसी प्रकार हृदय निवासी—राम (प्रत्यक् चेतन—

को छोड़ कर नाना कामनाओं से भूत, प्रेत, देवी और देवों की उपासना करने वाले भी आशा-बन्धन से बँध कर और अनेक योनियों के अनेक शरीर रूपी स्वांगों को पहन पहन कर बन्दर की तरह सदैव नाचा करते हैं। ५—और जिस तरह पपैहा के पास जलाशय भरा रहता है, परन्तु स्वाति के न बरसने से वह उदास होकर उड़ा करता है, इसी प्रकार अनात्मोपासक भी अत्यन्त निकटस्थ निजानन्दामृतसागर की ओर पीठ देकर देवनादिकों से मिलने वाले ओस कण रूप इच्छित फलों के न मिलने से अत्यन्त उदास होकर मारे मारे फिरते हैं। ६—राम ही है नाम जिसका अर्थात् चेतनदेव, क्योंकि वह सामान्यतः सर्वभूत संचारी है और विशेषतः मानस विहारी है। ७—संसार के ऐश्वर्य का अभिमान करना व्यर्थ है, क्योंकि वह स्वप्न की विभूति है जो कि कल्पनातीत होने के कारण हृदय-मन्दिर में भी नहीं अट सकती है, और बाहर तो कदापि सुरक्षित नहीं रह सकती है। ८—यह एक बड़ी भारी उलझन है कि। ९—छोड़ी भी नहीं जा सकती है। १०—मन्वादि-स्मृतियों ने पूरी तरह धर्म और अधर्मों को बतलाया है, परन्तु स्वार्थियों ने नहीं माना, इस कारण ऐसा धोखा खा गये, जैसे जंगली-रास्ते से जाता हुआ कसाई कुछ दूर खड़े हुए विशाल-वृक्ष की छाया में लगे हुए पौधे को किसी का खोया हुआ बकरा समझ कर उसको लेने के लिये लपकता हुआ धोका खा जाता है। सूचना—यहाँ 'हरिकिभगति जाने बिना बूड़िमुवा संसार' ऐसा भी पाठ है। अर्थ—सर्वात्मप्रीति और जीव दया रूप हरि की भक्ति जाने बिना 'बूड़िमुवा संसार'. 'जीवदया अरु आत्मपूजा इनसम देव अवर नहिं दूजा।' जितनी आतमा बोलतीं उतने सालिग राम।'

भावार्थ—'नियरे न खोजै बतावै दूरि, चहुँ दिसि बागुरि रहलि पूरि'।

(६६)

सोई हितु बँधू मोहि भावै जात कुमारग मारग लावै।

सो[1] सयान मारग रहि जाई करै खोज कबहूँ न भुलाई।
सो[2] झूठ जो सुत कै तजई गुरु[3] की दया राम को भजई।
किंचित[4] है यह* जगत भुलाना धन सुत देखि भया अभिमाना।
साखी—दियन[5] खताना किया पयाना, मंदिर भया उजार।
मरी गये[6] ते मरी गये (हो), बाँजे बाँचनि हार।

टि०—[सच्चे और झूठे गुरुओं की पहचान, तथा शिष्य और कुशिष्यों के लक्षण]

१—जो सत्य मार्ग पर आरूढ़ है, वह सच्चा जिज्ञासु है। २—वह गुरु, झूठा है शिष्य को सत्पथगामी नहीं बनाता है। ३—सद्गुरु की दया से। ४—तुच्छ। ५—स्नेही जीव-आत्मा के निकलते ही प्राण-प्रदीप बुझ गया अतएव काया-मन्दिर भयंकर हो गया। शून्य होने से इस कारण शरीर रूपी मन्दिर सूना हो गया। सूचना—यह 'हरिपद' छन्द है। इसके पहले और तीसरे चरणों में १६ और दूसरे तथा चौथे चरणों में ११ मात्रायें होती हैं। और अन्त में गुरु लघु नियम से रहते हैं। लक्षण—"विषम परिहद कीजिय सोरह, सम शिव दै सानन्द" (छन्दः प्रभाकर)। ६—अभ्यास फांस में फँसे हुए अज्ञानी लोग मर गये। और निज-पद पर आरूढ़ हुए ज्ञानी जन मुक्त होकर बच गये। भजन—"हम न मरैं मरिहै संसारा; हमको मिला जियावनहारा। अबना मरौं मोर मन माना, सोइ मुवा जिन राम न जाना। साकत मरैं संत जन जीवें, भरि भरि राम-रसायन पीवें। हरि मरिहैं तो हमहूँ मरि हैं हरि न मरै हम काहे को मरिहैं। कहँहिं कबिर मन मनहिं मिलावा, अमर भये, सुख-सागर पावा"।

भावार्थ—सतगुरु ऐसा कीजिये, जौं दिवले की लोय।
आय पड़ोसिन ले चलीं दिवला (से) दिवला जोय।

पाठा०—* एक तेज।

(६७)

देह[1] हिलाये भगति न होई स्वांग धरे नर बहु-बिधि जोई।
धींगी धींगी भले न माना जो[2] काहू मोहि हृदया जाना।
मुख किछु आन हृदय किछु आना सपनेहु काहु मोहि नहिं जाना।
ते दुख पै हैं ई संसारा जो चेतहु तो होय उबारा।
जो गुरु किंचित निंदा करई सूकर स्वान जन्म सो धरई।
साखी—लख[3]-चौरासी जीव-जोनि मँह, भटकि भटकि दुख पाय।
कहँहिं कबिर जो रामहिं जानै, सो मोहि नीके भाय।

टि०—[आत्म-रत और अनात्म-रतों के लक्षण, तथा आत्मसन्देश]

१—जो लोग अनेक प्रकार के वेष बना बना कर केवल बहिर्मुख क्रियाओं में ही लगे रहते हैं और कभी अन्तरंग वृत्ति करने का कष्ट नहीं उठाते हैं, वे आत्मरति तथा आत्म पूजा रूप सच्ची भक्ति को नहीं पा सकते हैं। २—जिसने मुझ राम को सबों के हृदय मन्दिरों में निवास करने वाला जान लिया है, वह लड़भिड़ कर किसी के दिल को तोड़ना या उखाड़ना अच्छा नहीं समझता। ३—यह भी 'हरि-पद, छन्द है।

भावार्थ—"जस बाहर तस भीतर जाना, बाहर भीतर एक समाना।'

(६८)

तिहि[1] बियोगते भयउ अनाथा परेउ कुँज-बन पावन पंथा।
बेदौ नकल[2] कहै जो जानै जो समुझै[3] सो भलो न मानै।
नटवट[4] बंद खेल जो जानै तिहि-गुनको ठाकुर भल मानै।
उहै जु खेलै जो सभ-घट माहीं दूसर के किछु लेखा नाहीं।
भलो[5] पोच अवसर आवै कैसहु के जन पूरा पावै।
साखी—जेकर[6] सर लागे हिये, सो (इ) जानेगा पीर।
लागै तो भागै नहीं, सुख-सिंधु देखि कबीर।

टि०—[प्रपंच—परायणता तथा आत्म (स्वरूप) विस्मृति का फल]

१—यह जीव आत्म विमुखता के कारण अनाथ (दरिद्र) बन कर विषय फलों को खाने के लिये भयंकर भवाटवी में घुस गया। अनन्तर वहाँ जाकर अनेक मायिक लताभवनों में तथा रोचक वाणी-रूप वृक्षों के झुंडों में ऐसा भटक गया कि अपने घर का रास्ता ही नहीं पा सका। २—जिन महात्माओं ने आत्म तत्व का साक्षात्कार कर लिया है उनका कथन है कि वेद भी "उस तत्व" का गौण रूप से विधान करते हैं। भाव यह है कि 'अतद्व्यावृत्यायं चकित मभिधतं श्रुतिरपि' इस कथन के अनुसार श्रुति भी डरती हुई "नेति नेति" रूप निषेध मुख से उस तत्व को कह रही है। ३—उस तत्व के विषय में स्थूल-बुद्धि वालों की जैसी समझ है उस समझ की ज्ञानी लोग प्रशंसा नहीं करते हैं। ४—जो नट की 'वरदकला' की तरह अन्तर्वृत्ति रूप कला का पूरा अभ्यासी है, वह आत्म योगी धन्य है, क्योंकि उक्तकला ठाकुर, "साहब" के बड़ी मनोरञ्जक है। भाव यह है कि अन्तर्मुखी वृत्ति वालों पर साहब प्रसन्न होते हैं, प्रपञ्चियों पर नहीं। ५—मन को वश में रखने वाला बड़े बड़े संकटों से बाल बाल बच जाता है। ६—कबीर गुरु कहते हैं कि जिस जिज्ञासु के हृदय में सद्गुरु के उपदेश रूपी बाण पूरी तरह पैठ जाते हैं, वह फिर भाग कर प्रपंच में नहीं जा सकता है, क्योंकि उसको संसार सचमुच दुःख-दायी मालूम होने लगता है, अतएव वह दुःख सन्तप्त जन सुख सागर में बुड़कियाँ लगाने के लिये अधीर हो जाता है।

साखी—सतगुरु मारा तान के सब्द सुरंगी—बान।
मेरा मारा फिर जियै, (तौ) हाथ न महौं कमान।

भावार्थ—मृग-तृष्णा से प्यास नहीं जाती है।

(६९)

ऐसा जोग न देखा भाई भूला फिरै लिये गफिलाई[१]।
महादेव[२] को पंथ चलावै ऐसो बड़ो महंत कहावै।
हाट बाजरे लावैं तारी[३] कच्चे सिद्धन माया प्यारी।
कब दत्ते[४] मावासी[५] तोरी कब सुखदेव तोपची[६] जोरी।
नारद कब बंदूक चलाया व्यास-देव कब बंब[७] बजाया।
करहिं लराई मति के मंदा ई अतीत की तरकस[८] बंदा।
भये बिरक्त लोभ मन ठाना सोना पहिरि लजावैं बाना[९]।
घोरा घोरी कीन्ह बटोरा[१०] गाँव पाय जस चलैं करोरा[११]।

साखी—(तिय) सुन्दरि ना सोहई, सनकादिक के साथ।
कबहुँक दाग लगावई, कारी हाँड़ी हाथ।

टि०—[शैवादि वेष धारियों की दशा]

१—असावधानी। २—शैव-मत। ३—समाधि चढ़ाते हैं। ४—दत्तात्रेय जी ने। ५—शत्रुओं पर आक्रमण किया था। ६—तोप लगायी थी। ७—लड़ाई का नक्कारा, जुझाऊ-ढोल। ८—फौजी—सिपाही (लड़ाकू) [मालूम होता है कि पहले कुम्भचढ़ाओं पर वेष-धारियों के द्वारा भारी खून खराबी हुआ करती थी] ९—विरक्तता के वेष को और झण्डे को। १०—जुटाव, इकट्ठा। ११—कोट-पतियों की तरह बहुमूल्य सवारियों पर चढ़कर चला करते हैं।

भावार्थ—सिहों केरी खोलरी, मैंढ़ा पैठा धाय।
बानीते पहिचानिये, सब्दहिं देत लखाय। [बीजक]

(७०)

बोलन कासे बोलिय (रे) भाई बोलत हीं सब तत्त[१] नसाई।
बोलत बोलत बढ़इ बिकारा सो[२] बोलिय जो पड़े[३] बिचारा।
मिलैं जु संत बचन दुइ कहिये मिलहि असंत मौन होय रहिये।

पंडित से बोलिये हितकारी मूरुख से रहिये झखमारी[४]।
कहँहिं कबीर अरध[५] घट डोलै पूरा होय बिचार ले बोलै।

टि०—[उपदेश-विचार] (बचन-विचार)

१—वृत्ति, गुण, स्वभाव। २—ऐसी बात। ३—विचार में आ सके। ४—मूर्ख के आगे मन मार कर रह जाना चाहिये। ५—जैसे आधा-भरा हुआ घड़ा छलकता रहता है और बोलता रहता है, इसी तरह थोड़ी-बुद्धि वाले बात बात पर बिगड़ते रहते हैं।

(७१)

सोग[१] बधावा सम करि माना ताकि बात इन्द्रहु नहिं जाना।
जटा[२] तोरि पहिरावैं सेली जोग[३] जुगति कै गरब दुहेली।
आसन[४] उड़ये कवन बड़ाई जैसे कौवा चील्ह मिंड़राई।
जैसी[५] भीति तैसि है नारी राज पाट सभ गनाह उजारी।
जैस नरक तस चंदन जाना जस बाउर तस रहै सयाना।
लपसी लवँग गनै एक सारा खाँड़ छाँड़ि मुख फांकै छारा।
साखी—इहै-बिचार[६] बिचार ते, गये बुद्धि बल चेत।
दुइ मिलि एकै हो रहा, (मैं) काहि लगाऊँ हेत।

टि०—[शैव हठ-योगियों की तथा वाचक-ब्रह्म-ज्ञानियों की दशा]

१—स्थिर-बुद्धि वाले मननशील-आत्मयोगियों को जो अमित आनन्द प्राप्त होता है, उसका अनुभव तो इन्द्र भी नहीं कर सकता है। वे महात्मा हर्ष और शोक के उपस्थित होने पर अविचल चित्त बने रहते हैं। जैसा भगवद्गीता का वचन है कि "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते"। तथा सच्चे ज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं की यह स्थिति होती है कि वे "न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियं। स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः"। २—पहले नाथ योगी लोग, जटाधारी वैष्णवों को किसी प्रकार परास्त कर उनकी जटाएँ

कटवा देते थे, पश्चात् जटा के बालों से बनी हुई सेली (मालाविशेष) उनको पहिना कर शिष्य बना लेते थे; यह बात "सबके मुद्रा डालता जो नहिं होत कबीर" इत्यादि भजनों से स्पष्ट है। ३—और पवनासनादिक हठयोग की सिद्धियों का भारी अहंकार रखते हैं। ४—आकाश में उड़ जाना कौन महत्व का काम है, यह शक्ति-सिद्धि तो कौवे और चील्हों में स्वाभाविक ही रहती है। ५—वाचकज्ञानी [वन्ध्यज्ञानी] और सच्चे ज्ञानियों के तारतम्य को जानने के लिये ज्ञान की सात-भूमिकाएँ जान लेनी चाहिये। "ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनु मानसा। सत्वापत्तिश्चतुर्थीस्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका पदार्था-भावनी षष्ठी, सप्तमी तुर्य्यगास्मृता"। शुभेच्छा, सुविचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी और तुरीया ये भूमिकाएँ हैं। इनमें से पंचम भूमिका में आरूढ़ ज्ञानियों को तन के अभिमान का अभाव हो जाता है। और छठी भूमिका वालों को बुद्धयादिक पदार्थों का अभाव हो जाता है। और सप्तम (तुरीया) भूमिकारूढ़ ज्ञानियों के तो भावाभाव 'मैं' और 'तू' इत्यादिक कुछ भी नहीं बन सकते। और अन्तिम भूमि-कारूढ़ ज्ञानियों का शरीर भी (पूर्णतया देहाध्यास की निवृत्ति के कारण) थोड़े ही काल तक रहता है। इस रमैनी में "लपसी लवँग गनै एक सारा" यहाँ तक ज्ञानी महात्माओं की ज्ञान भूमिकाओं का भली भाँति वर्णन है। वाचक ज्ञानियों को तो इन भूमिकाओं के स्वप्न में भी दर्शन नहीं हो सकते, चाहे जन्म भर "अहं ब्रह्माम्मि।" और "शिवोऽहं" की मिथ्या हाँक लगाया करें। वे लोग तो आत्म विमुख और प्रपञ्चपरायण होने के कारण इस उक्ति को चरितार्थ कर रहे हैं कि "खाँड़ छाँड़ि मुख फांकै छारा।" ६—निरन्तर विषयों के चिन्तन से इन ज्ञानाभिमानियों की बुद्धि, बल और चित्त की निर्मलता सदा के लिये चली गयी। असली मजनू और नकली मजनू को पहचान लेना थोड़ी बुद्धि वालों के लिये कठिन है, क्योंकि वे लोग बाहरी वेष, बानादिकों से तो ज्ञानी (साधु) ही मालूम

पड़ते हैं; इसी कारण भोले भाले श्रद्धालु भाई उनके द्वारा बार बार वञ्चित होकर सोचते रहते हैं कि हम किसका आदर और किसका निरादर करें।

भावार्थ—हँस बगु देखा एक रंग, चरै हरियरे ताल।
हंस छीर ते जानिये, बग उघरै ततकाल। (बीजक)

(७२)

नारि[1] एक संसारहि आई माय न वाके बापहि जाई।
गोड़[2] न मूड़ न प्राण-अधारा तामहँ भभरि रहा संसारा।
दिना[3] सातलौं वाकी सही बुध अधबुध (ज्ञानी और अज्ञानी) अचरज का कही।
वाको[4] बंदत हैं सभ कोई बुध अधबुध अचरज बड़ होई।
साखी—मूस[4] बिलाई एक सँग, कहु कैसे रहि जाय।
अचरज संतो देखहू, हस्ती सिंघहिं खाय।

❀ टीका ❀

[माया की प्रबलता]

१—एक अनोखी नारी (माया) संसार में आयी है। उसके न माता है न पिता। (अर्थात् माया अनादि है) २—और न गोड़ (पैर) है न मूँड़ है। न उसके प्राणों का आधार जीव ही है। उसीने सारे संसार को भुला दिया है। ३—जब तक मनुष्य पंच-विषय, मन और अहंकार इन सातों के चक्र में रहते हैं, तब तक उनको माया की लीला सच्ची मालूम पड़ती है। दूसरा अर्थ यह भी है कि चंचला माया की यह चमक थोड़े ही काल तक ठहरती है। बुध=पण्डित (निर्गुण उपासक) और अधबुध=आधे पण्डित (सगुण उपासक) दोनों अचरज में पड़कर माया को सत्य ही कहते हैं। ४—पण्डित और आधे पण्डित सब मिलकर

माया ही की वन्दना करते हैं यह एक बड़ा भारी अचरज है। "निर्गुण रगुन मनकी बाजी खरे संयाने भटके"। "मन माया तो एक है" ५—मूस (जीव) और बिलाई (माया) ये दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं। कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! आप लोग एक अचरज देखिये। हस्ती (मन) सिंह (जिव) को खा रहा है।

भावार्थ—माया ने सारे संसार को अपने अधीन कर लिया है।

(७३)

चली[1] जात देखी एक नारी तर गागरि ऊपर पनिहारी।
चली[2] जात वह बाटही बाटा सोवनिहार के ऊपरे खाटा।
जाड़न[3] मरै सपेदो-सौरी खसम न चिन्है घरणि भइ बौरी।
सांझ[4] सकार ज्योति लै बारे खसम छाँड़ि सँवरै लगवारे।
वाही[5] के रस निसुदिन राची पिय सों बात कहै नहिं साँची।
सोवत[6] छाँड़ चली पिय अपना ईदुख अबधौं कहब कैसना*।

साखी—अपनी[7] जाँघ ऊघारिके, अपनो कही न जाय।
की चित जाने आपना, की मेरो जन गाय।

* टीका *

[आत्म-विमुख-वृत्ति]

सुरति-योगियों का कथनः—

१—ध्यान के समय एक नारी (सुरति) को ऊपर की ओर जाते हुए देखा। अनन्तर ध्यान-पूर्वक देखने से मालूम हुआ कि गगरी (शरीर) तो नीचे धरी हुई है, और पनिहारी [सुरति] उसके ऊपर [ब्रह्माण्ड में] बैठी हुई है। भाव यह है कि गगन मंडल में एक उलटा कुआँ है, योगियों

पाठान्तर *—केहिसना।

की चित्त वृत्ति रूप पनिहारी उसमें से अमृत-रस भरने के लिये ऊपर की ओर जाया करती है। "कर नैनों दीदार महल में प्यारा है। गगन मंडल में ऊर्ध मुख कूंवा, संत सोई जो भरि भरि पीवा, निगुरा मरै पियास हिये अँधियारा है"।

२—वह [सुरति] क्रम से बीच के सब स्थानों को पार करती हुई रास्ते रास्ते चली जा रही है। इस प्रकार उत्तरोत्तर स्थानों को पार करती हुई अष्टम सुरति कमल के आगे चली गयी जहाँ कि मन की गति नहीं है। अतएव उक्त-स्थान पर पहुँची हुई सूक्ष्म वृत्ति रूप खटिया, सोने वाले मन के ऊपर बैठ गई। भाव यह है कि मन की गति सहस्रार [सहस्र-दल-कमल] तक ही है, इस रहस्य को लेकर "सोवनिहार के ऊपर खाटा" यह कहा गया है। दूसरा यह भी अर्थ है कि सोने वाले अज्ञानी जीव को मन की वृत्ति रूप खटिया, ऊपर से दबाये रहती है। [परन्तु यह अर्थ सिद्धान्त पक्ष में है]।

३—अब सद्गुरु कहते हैं कि, उक्त-योगियों की अनात्म-वृत्ति विच्छिन्न हो गई है, क्योंकि वह "सफेद सौर" ज्ञान-प्रधान नर-तन रूपी रजाई के मिलने पर भी अज्ञानता के कारण उसके उपयोग से वञ्चित रहकर जड़ता-जाड़ से मर रही है। और विच्छिन्नता के कारण ही पास में खड़े हुए अपने पतिदेव (स्वरूप) को भी नहीं पहचानती है। यह विच्छिन्नता की पराकाष्ठा है। "पास खड़ा तेरे नजर न आवे महबूब पियारा बे" "मानुष-जनमहिं पाय नर! काहेको जहँड़ाय" (बीजक) "जड़ता जाड़ बिषम उरलागा"। (रामायण)

४—चित्त वृत्ति की विच्छिन्न लीला—

सायं सन्ध्या और बड़े सबेरे दीपक जलाकर बैठ जाती है, और निज पति (चेतन देव) को भूल कर उपपति (मन) की गुप्त लीलाओं का स्मरण किया करती है। (दीपक, सत्कथा) भाव यह कि प्रति दिन दोनों समय

सत्कथाओं के श्रवण से भी बिना सत्त्व-शुद्धि के वृत्ति स्थिर नहीं हो सकती है। ५—सदैव वृत्ति (कुलटा) बहिर्मुख रहती है, कभी अन्तर्मुख नहीं होती। ६—सदैव जगते हुए पति मालिक (चेतन-देव) को अपनी अज्ञानता (पागल-पन) के कारण सोता हुआ समझ कर छोड़ गयी। और मन के साथ विहार करने लगी। भला यह दुःख-कारक कथा कौन किससे कहे। ७—अपने हृदय-मन्दिर का यह गोपनीय-रहस्य पूरी तरह प्रकट नहीं किया जा सकता है। या तो इसको अच्छी तरह अपना ही चित्त समझ सकता है, अथवा अपने समान जो भुक्त भोगी (भक्तजन, मेरी पुरुष) हो वह जान सकता है "घायल की गति घायल जाने की जाने वैद विचारा"।

(७४)

तिहया[1] गुपुत थूल नहिं काया ताके[2] न सोग ताकि पै माया।
कँवल-पत्र[3] तरँग एक भाहीं संगहि रहै लिप्त पै नाहीं।
आस[4]—ओस अंडन महँ रहई अगनित अंड न कोई कहई।
निराधार[5] अधार ले जानी राम—नाम[6] ले उचरी बानी।
धरम[7] कहै सभ पानी अहई जाती के मन पानी अहई।
ढोर[8] पतंग सरै घरियारा तिहि-पानी सभ करैं अचारा।
फंद[9] छोरि जो बाहर होई बहुरि पंथ नहिं जोहै सोई।
साखी—भरम क बाँध लई जग, कोइन करै बिचार।
हरिक[10] भगति जाने बिना, बूड़ि मुवा संसार॥

टीका

[रचना-रहस्य और आचार-विचार]

१—सृष्टि (रचना के पूर्व स्थूल-प्रपञ्च गुप्त था, अतः स्थूल-शरीर भी नहीं था। २—उस समय जीवात्मा शोक से मुक्त था, परन्तु माया

अवश्य लगी हुई थी, क्योंकि माया भी अनादि है। ३— माया के संग रहता हुआ भी आत्मा कमल पत्रवत् निर्लेप था और सम्प्रति भी माया के संग रहता हुआ तरंगों में पड़े हुए कमल-पत्र की तरह वस्तुतः निर्लिप्त ही रहता है। ४—अनन्तर कर्मों के भोगोन्मुख होने के कारण जब सृष्टि (रचना) हुई तब जीवों ने शरीर पाकर अनेक सकाम-कर्म किये, जिसकी फल प्राप्ति की आशारूप ओस कण को चाटते हुए कभी जीव अनन्तानन्त-ब्रह्माण्डों में जा जा कर रहने लगे। इस विषय में श्रीमद्गोस्वामी जी ने कैसा अच्छा वर्णन किया है कि 'ऐसी मूढ़ता या मनकी। परि हरि राम-भजन सुर-सरिता, आस करत ओस कनकी। ऐसी मूढ़ता' (विनय-पत्रिका)। ५—विवेकियों ने असंहत आत्मा का अनुमान संघात से किया है 'संघातपरार्थ त्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्। पुरुषोऽस्ति भोक्तृ-भावात् कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च' (साङ्ख्य कारिका १७) अर्थात् आराम की सामग्री, भोक्ता के लिये हुआ करती है, अपने लिए सामग्री के नहीं, इत्यादिक युक्तियों से आत्मा की सिद्धि होती है। इसी प्रकार 'निराधाराणां गुरुत्ववतां सूर्यादीनां धृतिः प्रयत्नविशेषप्रयोज्या, धृतित्वात्, वियति विहङ्ग-धृतिवत्, तथा 'परकीयं शरीरंसात्म शरीरत्वादस्मच्छरीरवत्' (प्रशस्त-पादभाष्य) इत्यादि अनुमानों से दूसरों के शरीरों में भी आत्मा की सिद्धि हो जाती है, और अपने शरीर में तो आत्मा साक्षात् उपलब्ध ही है ६—और वेदादिकों का आविर्भाव भी राम, रमैया है नाम जिसका अर्थात् चेतन पुरुष ही से हुआ है 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसित मेतद्यग्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चेति' क्योंकि शब्दी (चेतन) के बिना शब्द (वर्णा-त्मक- शब्द) नहीं हो सकता है। वर्णात्मकशब्दोपत्ति का क्रम यह है "आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस् तूरसि चरन् मंद्रं जनयति स्वरम्। प्रातः-सवनयोगन्तं छन्दो गायत्रमाश्रितम्' (पाणिनीय शिक्षा) तथा आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते मनः। देहस्थं वह्नि माहन्ति स प्रेरयति मारु-

तम्। ब्रह्मग्रन्थिस्थितः सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन्। नाभिहृत्कण्ठमूर्धास्ये-ष्वाविर्भावयतेध्वनिम् " (संगीत-रत्नाकर स्वराध्याय)। इस ग्रन्थ में भी वाणी की उत्पत्ति का विषय निम्नलिखित पद्य में बाजे के रूपक द्वारा खूबही स्पष्ट किया गया है। यथा—"जंत्री जंत्र अनूपम बाजै (वाके) अष्ट—गगन मुख गाजै। तूही बाजै तूही गाजैं तूही लिये कर डोलै, एकसब्द माँ राग छतीसौं अनहद-वानी बोलै। अन्त में कहा है कि "कहहिं कबिर जन भये विवेकी जिन जंत्री सौं मन लाया"। (बीजक-शब्द) "राम नाम लै उचरीवानी" इस स्थलपर रामनाम के उपासक परम श्रद्धालुओं का यह कथन है कि राम के नाम से ॐकारादिक सब वाणियों का प्राकट्य हुआ है। इसी प्रकार ॐकारोपासक भी अपने उपास्य की महिमा का वर्णन करते हैं। वस्तुगत्या विचारा जाय तो इन सबों का कथन औपासनिक है, वस्तुस्थित्या नहीं क्योंकि "अतस्मित-द्बुद्धिरुपासना।" यह तो उपासना का लक्षण ही है। अर्थात् जो वस्तु वस्तुतः वैसी न हो तिसपर भी उसको वैसा मानना। जैसे गण्डक-शिला (शालिग्राम) में विष्णु बुद्धि करना यही उपासना है और शब्दों की उत्पत्ति का तो यह नियम है कि वे स्व-सजातीय उत्तरोत्तर शब्दों को ही उत्पन्न करते हैं, और क्षणिक होते हैं। अतः वर्णात्मक शब्द शब्दी (चेतन) से होता है या शब्द (जड) से ? इसका विवेक करना विवे-कियों पर ही निर्भर है। ७—धर्म्मशास्त्र का कथन है कि पार्थिव-रचना के पूर्व सर्वत्र जल ही जल था। और उसी जल में नारायण ने शयन किया था। इसी कारण उसका नारायण नाम हुआ है। "सोऽभिध्याय-शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अतएव ससर्जादौ तासु बीजमवा-सृजत्॥ आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः "॥ मनु० अ० १।८—१,। "जाती के मन पानी अहई" वही जल यह है कि जो सम्प्रति शरीर रूपसे परिणत होकर स्थित है। और इस शरीररूपी जलमें भी इस समय जीव-नारायण "जीवो

नारायणो देवः" विद्यमान है। इस प्रकार जल का और नारायण का साक्षात-सम्बन्ध है, तो बतलाइये कि नरनारायण के सम्बन्ध से कूपतडागादिक जलाशय (निर्वाण) निष्कारण अपवित्र कैसे हो सकते हैं। नरनारायण के छू देने से उसकी कल्पित जाति को मन में लाकर आपलोग जलाशयों को निष्कारण ही अपवित्र मान बैठते हैं। ८—जिस जल की पवित्रता का अहङ्कार आप लोग करते हैं उसकी स्थिति सुनिये। 'ढोर पतंग सरै घरियारा' इत्यादि। अब बतलाइये क्या मनुष्य पशुओं से भी बुरे हैं। सुनिये जात्या कोई मनुष्य अछूत नहीं है, हाँ, मलिनता रखने के कारण वह दूर किया जा सकता है, अतः मनुष्य-विशेष को स्वाभाविक अछूत मानना अन्याय है। ९—जिसको इस पाषण्ड-फन्द का ज्ञान हो गया है वह इस अनुचित छूवा छूत के बन्धन को तोड़कर निकल जाता है, और फिर वह उस पाषण्ड-मार्ग को कभी देखता भी नहीं हैं। १०—इस संसार में भ्रम-जाल में पड़े हुए मनुष्यों में से कोई सत्य का निर्णय नहीं करता है। अतएव सर्व पापों को हरण करने वाले हरि (आत्म देव) की जो सच्ची भक्ति। सामान्यतया सर्वात्मप्रीति, विश्वात्म प्रीति तथा विशेषतया नर-नारायण प्रीति है, उसको जाने बिना मिथ्या अहङ्कारी सारे संसारी अपार संसार-पारावार में डूब कर मर जाते है।

भावार्थ—छूतहि जेवन छूतहि अचवन छूतहि जगत उपाया।
कहँहिं कबिर ते छूत बिवरजित जाके संगन माया॥ (बीजक)।

(७५)

तिहि[1]-साहब के लागहु साथा दुइ[2]-दुख मेटि के होहु सनाथा।
दसरथ-कुल अवतरि[3] नहिं आया नहिं लँका के राव[4] सताया।
नहिं देवकि के गरभहिं आया नहीं जसोदा गोद खेलाया।
प्रिथमी रमन[4] दमन[5]*नहिं करिया पैठि पताल नहीं बलि छलिया।

*पाठा० रवन, दबन, धवन।

नहिं बलिराज से मांडल रारी नहि हिरनाकुस बधल पछारी।
होय बराह धरनि नहिं धरिया छत्री मारि निछत्रि न करिया।
नहि गोबरधन कर नहि धरिया नहिं ग्वालन संग बनबनफिरिया।
गंडक-सालिगराम[6] न सीला[10] + मच्छकच्छ होयनहि जला÷हीला[11]।
द्वारावती[12] शरीर न छाँड़ा लै जगनाथ[13] पिंड[14] नहिं गाड़ा।

साखी—कहँहिं कबीर पुकारिके, वा पथ मति भूल।
जिहि राखे अनुमान कै, थूल नहीं अस्थूल॥

टि०—(अवतार-वाद)

१—निर्लिप्त, शुद्ध-चेतन। २—जन्म-मरणादिक-द्वन्द्व। ३—अवतार। ४—राजा (रावण)। ५—विहार। ६—शत्रुओं का नाश। ७—घुस कर, (वामन रूप से) ८—युद्ध। ९—गँडक नदी के शालिग्राम। १०—पत्थर। ११—प्रवेश किया। १२—द्वारिका। १३—जगन्नाथ पुरी में (बुद्धरूप होकर)। १४—शरीर को नहीं गाड़ा। १५—माया के मार्ग में। तुम अपनी कल्पना से उस रमैया राम का स्थूल या सूक्ष्म जैसा आकार समझ रहे हो, वह वैसा नहीं है, क्योंकि ये सब आकार माया के हैं। और वह तो सब प्रकार के आकारों से रहित है, न कहीं आता है न कहीं जाता है न मरता है न मारता है।

भावार्थ—दस अवतार ईसरीमाया, करता कै जिन पूजा।
कहँहिं कबीर सुनो हो संतौ, उपजै खपै सो दूजा॥ (बीजक)

(७६)

माया मोह कठिन संसारा इहै बिचार न काहु बिचारा।
माया मोह कठिन है फंदा होय बिबेकी सो जन बंदा।
राम[1] नाम लै बेरा[2] धारा सो तो है संसारहिं पारा।

+ कूला ÷ डोला।

साखी—राम नाम अति दुरलभ,[३] अवरे[४] ते नहिँ काम।
आदि अंत और जुग जुग, रामहिँ ते संग्राम॥

टि०—[माया फाँस और उसका विनाश]

१—राम है नाम जिसका "रमैया" चेतन-देव-रूपी। २—जहाज पर चढ़ो अर्थात् आत्मोपासक बनो। ३—आत्म-लाभ-दुष्कर है। ४—प्रपञ्च से। मुमुक्षुओं को यह शुभेच्छा रहती है कि हमारी आत्म-तत्परता सदैव बनी रहै।

भावार्थ—माया को पीठ देकर आत्मोन्मुख हुए बिना माया का भय नहीं मिट सकता है।

(७७)

एकै[१]-काल सकल-संसारा एक नाम[२] है जगत पियारा।
तिया[३] पुरुष किछु कथो न जाई सरब[४]-रूप जग रहा समाई।
रूप[५] निरूप जाय नहिं बोली हलुका गरुवा जाय न तोली।
भूख[६] न त्रिषा धूप नहिं छाहीं दुख सुख रहित रहै तिहि माही।

साखी—अपरं[७] पारै रूप मगु, रूप निरूप न भाय।*
बहुत-ध्यान+कै खोजिया, नहिं तेहि संख्या आय।

टि०—[काल पुरुष और जीव का स्वरूप]

१—निरंजन, मन। २—जीव आत्मा। ३—जीव न स्त्री है न पुरुष ही है। ४—नाना कर्म जन्य शरीरों को धारण कर जगत में समाया हुआ है। ५—वह आत्मा वाणी का अविषय है, इस कारण उसको न रूप वाला कह सकते हैं और न रूप रहित ही। इसी प्रकार वह तोलने में भी नहीं आ सकता, अतः उसको न हलका कह सकते हैं न भारी ही। ६ और वह चेतन भूख प्यास और सुख दुःखादिक विकारों से रहित जो

*पाठा—अपरं पारै परम-गुरु, ज्ञान रूप बहु आहि। +जतन।

अपना स्वरूप है, उसी में सदैव स्थित रहता है। ७—जीव का स्वरूप अपरम्पार है न वह साकार है न निराकार है। ज्ञानियों ने दीर्घ काल और निरन्तर बड़े भारी चिन्तन से उसको पाया है। तत्व वेत्ताओं का अनुभव है कि न वह एक है न दो है। "एक कहूँतो है नहीं, दोय कहूँ तो गार। है जैसा तैसा रहै, कहँहिं कबीर विचार"। (बीजक)

भावार्थ—चेतन है अवश्य, परन्तु अतत्वदर्शी जैसा समझते हैं वैसा नहीं है।

(७८)

मानुष-जन्म चुके (हु) अपराधी[1] यहि-तन केर बहुत हैं साझी[2]।
तात[3] जननि कह पूत[4] हमारा स्वारथ लागि कीन्ह प्रतिपाला।
कोमिनि[5] कहै मोर पिउ[6] आहै बाधिनि रूप गिरासा चाहै।
सुतहु कलंत[7] रहैं लव लाये जम की नाँइ रहैं मुख बाये।
काग गीध दुइ मरन बिचारैं सिकर[10] स्वान दुइ पंथ निहारैं
अगिनि कहै मैं ई-तन जारौं पानि कहै मैं जरत उबारौं*।
धरती कहै मोहि मिलि जाई पवन कहै सँग लेउँ उड़ाई।
जा घर को घर कहै गँवारा सो बेरी[11] है गरे तुम्हारा।
सो तन तुम आपन कै जानी विषय (स्व) रूप भूले अज्ञानी।

साखी—इतने तन के साझिया, जन्मो भरि दुख पाय।
चेतत नाहीं बावरे, मोर मोर[12] गोहराय।

टि०—[नर तन के साझी और ग्राहक]

१—पापी २—हिस्सेदार। ३—पिता और माता। ४—पुत्र। ५—रखनी, रक्खी हुई स्त्री। ६—पति (उपपति) ७—विवाहिता स्त्री।

*पाठा०—सो न कहै जो जरत उबारौं। सो न करो जो जरत उबारौं।

८—प्रेम लगाये हुए। ९—मुख खोले हुए। १०—सियार (या सूअर आदिक) ११—बेड़ी, गले की जंजीर (जंजीर)। पुकारता है।

भावार्थ—अनित्य—शरीर के लिये अन्यायाचरण करना महा अनर्थ है।

(७६)

बाहत+ बढ़ी घटावत छोटी परिखत परिखावत खोटी।
केतिक कहौं कहाँ लौं कही अवरो कहौं परै जो सही[1] ॥
कहल बिना मोहि रहल न जाई बेरहिं* लै लै कुकूर खाई।

साखी—खाते खाते जुग गया, बहुरि न खेते आय।
कहँहिं कबीर पुकारि कै, जीव अचेतै जाय।

टि०—[माया और वाणी की दशा]

१—यदि सत्य समझी जाय। २—विरही=राम वियोगी जिज्ञासुओं को वंचक लोग अपने जाल में डाल लेते हैं। और यह भी अर्थ है कि कूकुर=विषयी—जन, विषय—रूप नीरस बेरों को ले ले कर खाया करते हैं।

भावार्थ—माया जाल और वाणी जाल से बचना चाहिये।

(८०)

बहुतक साहस[1] करु जिय अपना तिहि-साहब सों भेंट न सपना।
खरा खोट जिन नहिं परिखावा बाहत लाभ तिन मूल[2] गँवावा।
समुझि न परलि पातरी[3] मोटी आछे[4] गाँधि[5] सभनि भौ खोटी।
कहँहिं कबिर केहि देहहु खोटी[6] जब अलिहौ भिखि[7] आसातोरी

*पाठा०—+बढ़वत यहाँ पर बेहहिं, बिरही; और बिरहिन ये पाठान्तर हैं।

टि०—[विवेक की आवश्यकता]

१—हिम्मत। २—पूंजी, ज्ञान। ३—मोटी माया और झीनी माया को न समझ सके। ४—(मन) "ओछे नेह लगाय के मूरहु आपै खोय"। ५—गूंथ कर (सम्बन्ध प्रेम करके)। मन के संगी-सब दुष्ट बन गये। ६—दोष, उलहना। ७—झीनी झीनी अनन्त आशाओं को तोड़ कर सदा के लिये चलते बनोगे।

भावार्थ—विवेक-दृष्टि से सन्मार्ग को दृढ़ निकालना परम कर्त्तव्य है।

(८१)

देव-चरित्र सुनहु रे भाई जो ब्रह्मा सो धियउ नसाई[1]।
ऊ जे सुनी मँदोदरि तारा तिनि घर जेठ सदा लगवारा।
सुरपति जाय अहीलहिं छरी सुर-गुरु-घरनि[2] चंद्र मै हरी।
कहँहिं कबिर हरिके गुन गाया कुंती करन कुँवारहि जाया।

टि०—[शील-सुधार और माया की प्रबलता]

१—भ्रष्ट किया। २—बृहस्पति जी की स्त्री को। ३—कबीर साहब कहते हैं कि सन्तों ने हरि की माया को प्रबल समझ कर उससे बचने के लिये हरि के गुणों का गान किया है।

भावार्थ—माया ने मौका (दाव, अवसर) पाकर बड़े बड़े लोगों को गिरा दिया है, इसलिए हमको तो बहुत ही सावधान रहना चाहिये।

(८२)

सुखक[1] बिच्छ एक जगत उपाया समुझि न परलि विषै किछु माया।
छव-छत्री पत्री[2] जुग चारी फल दुइ पाप पुन्न अधिकारी।

---

*पाठा०—इस रमैनी के अन्त में एक पुस्तक में यह साखी है:—

'झीझी आसा में लगे, ज्ञानी पंडित दास।
सब्दन चीन्है बावरा, घर घर फिरै खुआर।' (उदास)

स्वाद अनँत किछु बरनि न जाई कै[२] चरित्र सो ताही माँहीं*।
नटवट[४]-साज साजिया साजी जो खेलै सो देखै बाजी।
मोहा[५] बपुरा जुगुति न देखा सगति बिरंची सिव नहिं पेखा।
साखी—परदे[१] परदे चलि गया, समुझि परी नहिं बानि[३]।
जो जानहिं सो बाँचिहैं, होत सकल की हानी।

टि०—[माया-नाटक]

१—जिस माया ने इस जगत में सुखदायी मालूम होने वाले विषय रूपी एक बड़े भारी विष-वृक्ष को लगाया है, उस माया को संसारी लोग कुछ भी न समझ सके। २—पत्री=पक्षी। चारों युगों में होने वाले छः चक्रवर्ती राजा लोग उस वृक्ष के निवासी बड़े बड़े पक्षी हैं। और अधिकारियों को अपने अपने कर्मों के अनुसार मिलने वाले पाप और पुण्य रूप दो फल उस वृक्ष में सदैव लगे रहते हैं। ३—बड़े और छोटे सब प्रकार के उक्त पक्षी विषय-वृक्ष पर बैठे हुए नाना प्रकार के लीला-विहार किया करते हैं। ४—यह माया नाट्य-निपुण नट की तरह अनेक दृश्यों की साधक सामग्री को सदैव प्रस्तुत (तैयार) करती रहती है। इसके खेलों में यह विशेषता है कि संसारी लोग इसके खेले हुए खेलों को देख कर प्रसन्न और अप्रसन्न होते हुए भी विवश होकर सदैव ही करते हैं। ५—उस चतुर-ठगनी के मनोहर अभिनय को देख कर बेचारे अज्ञानी लोग अपने आपको भूल गये, इस कारण उसकी चालाकी को न देख सके। प्राकृत जनों की तो कथा ही क्या है। शिव-शक्ति और ब्रह्मादिक अधिकारी-पुरुष भी माया के बिछाये हुए अधिकार-रूपी जाल को न देख सके, इस कारण अधिकार-बन्धन में पड़ गये। "अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परम्पदम्।" अर्थात् अधिकार समाप्ति के अन्तर अधिकारी (देवता) परमपद (मुक्तिपद) में प्रवेश करते हैं। "राजठगौरि विष्णु पर परी,

*पाठा०—ताहि समाई।

चौदह भुवन केर चौधरी।" (बीजक) ६—भूलही भूल में,। ७—अनात्म-पदार्थों में उरझाने वाली वाणी।

भावार्थ—"बाजि झूँठि बाजीगर साँचा संतन की मति ऐसी। कहँहिं कबिर जिन जैसी समुझी तिनकी गति भई तैसी" (बीजक)

(८३)

छात्री[1] करइ छत्रिया धरमा वाके बढ़इ सवाई करमा।
जिन[2] अबधू गुरु ज्ञान लखाथा ताकर मन तहाँ ले धाया।
छत्रो[3] सो जो कुटुम से जूझै पाँचौं मेटि एक कै बूझै।
जीवै[4] मारि जीव प्रतिपालै देखत जन्म आपनो हारै।
हालै[5] करै निसाने घाऊ जूझि परे तहाँ मन-मथ राऊ।

साखी—मन-मथ[1] मरै न जीवई, जीवहिं मरन न होय।
सुन्न-सनेही राम बिनु, चले अपन पौ खोय॥

टि०—[क्षत्रिय-कर्तव्य-विचार]

१—क्षत्री लोग यदि पूरी तरह से धर्म का पालन करें। २—जिसको गुरु ने जिस मार्ग पर चलने का उपदेश दिया, उसका मन उसको उसी रास्ते से ले दौड़ा। ३—जीतने के लिए इन्द्रियों से युद्ध करता है। और अन्त में इन्द्रियों का दमन करके आत्मसाक्षात्कार करता है। ४—और जो क्षत्रिय जीवों को मार कर अपने पेट को पालते हैं, वे देखते हुए अपने जन्म को नष्ट कर देते हैं। ५—तुरन्त। वही सच्चा-क्षत्रिय है जो अपने दुष्ट-मन रूपीलक्ष्य को सदुपदेश रूप वाणों से शीघ्रही भेद देता है। और मन को मथने वाले अरि-षड्वर्ग-रूप अन्तः शत्रु-राजाओं से घोर युद्ध ठान देता है। (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य ये अरि-षड्वर्ग संज्ञा वाले हैं।) बाहर के शत्रुओं का आक्रमण तो कभी २ होता है, परन्तु इन्हों को तो आक्रमण करने का सुअवसर सदैव मिला करता है। और यह भी बात है कि अन्तः शत्रुओं को जीते बिना बाहर के

शत्रुओं को जीतने की क्षमता भी नहीं हो सकती है। ६—शत्रु-विजय का फल—यदि मन को मथने वाले उक्त कामादिक तथा कल्पनादिक-शत्रु ऐसे मार दिये जायँ कि फिर वे कभी न जी सकें, तो जीवात्मा का मरण न हो सके; (अर्थात् मुक्ति हो जाय) परन्तु इस बात को सिद्धियों के भूखे योगी लोग नहीं मानते। वे लोग तो अनात्मोपासक होने के कारण शून्य गगन-मंडल में बसने वाले कल्पित-मालिक से प्रेम लगाया करते हैं। अतएव (स्वरूप-विस्मृति के-कारण) राम-रूप-आराम के विहार से वंचित होकर भयंकर और गहन संसार-कानन में चले जाते हैं।

भावार्थ—"काया गढ़ जीतो रे मेरे भाई, जाकी संत करेला बादशाही"। "जीव न मारो बापुरे, सबके एकै प्रान। हत्या कबहुँ न छूटसी, कोटिन सुनै पुरान।" सुन्नहिं वाँछा सुन्नहि गयऊ। हाथा छोड़ि बेहाथा भयऊ"।

(८४)

जियरा[1] ! आपन दुखहिं सँभारू जो[2] दुख व्यापि रहल संसारू।
माया मोह बँधे सभ लोई अलपै लाभ मूल गौ खोई।
मोर तोर में सभै बिगुरचा[3] जननी बोद्र गरभ[4] महँ सूता।
बहुतक—खेल[5] खेले बहु—बूता जन—भँवरा अस गये बहूता।
उपजिविनसिफिरिजोइनि[6] आवै सुखका लेस न सपनेहुँ पावै।
दुख संताप कष्ट बहु पावै सो न मिला जो जरत बुझावै।
मोर तोर महँ जर जग सारा धिग स्वारथ झूठा हंकारा।
झूठी आस रहा जग लागी इन[7] ते भागि बहुरि पुनि आगी।
जो हित[8] कै राखैं सभ लोई सो सयान बाँचा नहिं कोई।

साखी—आपु[9] आपु चेते नहीं औ, कहौं तो रुसवा होय।
कहँहिं कबिर जो सपने जागे, निरअथि अर्थि न होय ॥

इति रमैनी

---

*पाठा०—अपुन आगे।

टि०—[उद्बोधन (चेतावनी)]

१—ऐ जीव ! तू अपने आपको उस दुःख से बचा ले। २—अज्ञानतादिक। ३—फँसगये ४—गर्भाशय में। ५—जो लोग (नेता) अपनी अपार-बुद्धि-शक्ति से संसार में बड़ी २ क्रांतियाँ कर दिखलाते थे। ६—शरीर। ७—आशारूप एक अग्नि-कुंड से किसी तरह बच जाता है, तो दूसरे में जा गिरता है। ८—जिसको सब लोग भारी हितकारी समझते थे। ९—अज्ञानी—मनुष्य अपने हिताहित का स्वयं विचार नहीं करता है। और मेरे उपदेशों को सुनकर अप्रसन्न हो जाता है। कबीर साहब कहते हैं कि यह जीवात्मा यदि अज्ञानता रूप निद्रा के स्वप्नों से स्वयं जाग जाय तो निरस्ति (मिथ्या संसार) अस्ति सत्य प्रतीत न हो। भाव यह है कि जिस प्रकार सोये हुये मनुष्य को निद्राकाल में सपना सच्चा मालूम पड़ता है परन्तु जगने पर वह मिथ्या हो जाता है, इसी प्रकार अज्ञानता रूप निद्रा में पड़े हुए लोगों को संसार सत्य मालूम पड़ता है परन्तु ज्ञानियों को नहीं। "या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः" [गीता] यह भी हरिपद छन्द है।

सूचना—इन रमैनियों का चौपाई छन्द है। लक्षण—"सोरह क्रमन 'जत' न चौपाई"। प्रत्येक चरण में १६ मात्रा हों और अन्त में जगण अथना तगण न पड़े। अर्थात् एक लघु अन्त में न हो एक से अधिक लघु हों। रमैनी के अन्त में साखियाँ दी गयी हैं उन का दोहा या हरिपदादिक छन्द हैं। दोहा के विषम चरणों में १३ और सममें ११ मात्रा होती हैं। यथा—"जान विषम तेरा कला, समशिव दोहा मूल" दोहा के पहले तीसरे चरणों के आदि में जगण न हो और अन्त में लघु होना चाहिये।

इति

शब्द

(१)

संतो[1] ! भक्ती सतगुरु आनी।
नारी[2] एक पुरुष दुइ जाया, बूझहु पंडित ज्ञानी।
पाहन[3] फोरि गंग एक निकरी, चहुँ दिसि पानी पानी।
तिहि-पानी दुइ परबत बूड़े, दरिया लहर समानी।
उड़ि[4] मांखी तरिवर ते लागी, बोलै एकै बानी।
वहि माँखी के माँखा नाहीं, गरभ रहा बिनु पानी।
नारी[5] सकल-पुरुष वहि खायो, ताते रहउ अकेला।
कहँहिं कबीर जो अबकी समुझै, सोई गुरु हम चेला*।

❀टीका❀

यदीयसुखलेशेन, सुखिनः सर्वजन्तवः।
तं कबीरमहं वन्दे परमानन्दविग्रहम्॥
वन्दयित्वा सतः सर्वान्, करुणावरुणालयान्।
जगन्नाथपदारूढो विशामि शब्दसागरम्॥

१ कबीर साहब कहते हैं कि हे जिज्ञासुओ ! आप लोग आत्मज्ञानी सद्गुरु की भक्ति (अनुराग) हृदय में लाइये, जिससे कि माया के जाल से बच सकें।

२—अब माया की प्रबलता बताते हैं—एक नारी [माया] ने दो पुरुषों को [जीव तथा ईश्वर को] प्रकट किया है, इस बात को हे ज्ञानियो ! और हे पंडितो ! आप लोग समझिये। श्रुति ने भी स्पष्ट ही कहा है कि "जीवेशाबाभासेन करोति मायाचाविद्याचेति"। तथा "माया-ख्याया कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ" अर्थात् मायारूप कामधेनु के जीव

*छन्द "सार"। १६ वें शब्द तक यही छन्द है।

और ईश्वर दो बछड़े हैं। ३—इस माया का आविर्भाव तथा तिरोभाव चेतन में ही होता है, जिस प्रकार गंगाजी हिमालय से प्रकट हुई थीं, इसी तरह पाहन तुल्य सैन्धवघन चेतन से शुद्ध सत्व प्रधान माया रूप गंगा का आविर्भाव हुआ है। जिसका कि यह पानी (प्रपंच) चारों ओर फैल रहा है। (यह कथन माया के सादि पक्ष से है अतः विरोध नहीं।) ४—अनन्तर माया रूप गंगा में सबों से बड़े दो पर्वत (जीव और ईश्वर) डूब गये। अर्थात् माया ने दोनों को उपहित बना लिया। इस प्रकार यह भयंकर नदी सारे संसार को आप्लावित करती हुई समस्त विश्व को एक कोने में रख लेने वाले चेतन समुद्र में जा कर एक तुच्छ लहर की तरह समा जाती है। भाव यह है कि यह विश्व-विमोहिनी माया ज्ञानियों के आगे मन्त्र मुग्ध होकर किंकर्तव्य विमूढा हो जाती है। ५—अब साधन सम्पत्ति रहित वाचक ब्रह्मज्ञानियों [अर्थात् वन्ध्यज्ञानियों] की दशा को बताते हैं। ज्ञानाभिमानियों की वृत्ति रूप मक्खी उड़ कर संसार रूप वृक्ष पर बैठी हुई है। अर्थात् मिथ्या ज्ञानी पूरी तरह प्रपञ्च पङ्क में फँसे हुए हैं। और वह एकही वाणी अहम् ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ) बोलती है। वस्तुतः उस वृत्ति रूप मक्खी का माँखे रूप ब्रह्म के साथ सम्बन्ध नहीं हुआ है। (अर्थात् इन प्रपंच परायण बञ्चक ज्ञानियों की वृत्ति ब्रह्माकार नहीं हुई है, यदि हुई होती तो प्रपंच को वान्त अन्न की तरह दूर ही से त्याग देते। क्योंकि—

'जो विभूति साधुन तजी, तिहि विभूति लपटाय।
ज्यौं श्वान वमनहिं करै, उलटि अशन पुनि खाव॥'

तिस पर देखिये यह कैसा आश्चर्य है कि इनकी वृत्ति रूप मक्खी को बिना ही पानी के मिथ्या गर्व रह गया है। भाव यह है कि सत्वसुद्धि के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता है। उक्त ज्ञानाभिमानी भ्रम वश अपने को ब्रह्मज्ञानी मानते हुए मिथ्या अहंकार—समुद्र में डूबे रहते हैं, परन्तु

आत्म साक्षात्कार के बिना केवल अहं ब्रह्मास्मि कहने से कदापि मुक्ति नहीं मिल सकती है। इस प्रसंग में यह कैसा अच्छा बंधन है कि "न मच्छति विना पानं, व्याधि रौषधशब्दतः। विनाऽपरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते।"

६—अब माया से छूटने का उपाय बताते हैं—माया रूप नारी ने अपने सब स्वामियों को खा डाला, 'कारे मूंड को एकहुं न छाँड़ी अजहूँ आदि कुमारी।' इस लिए जो माया—नारी से बचना चाहै उसको उचित है कि वह अकेला (असंग) रहै क्योंकि संगही बन्धन का कारण है। कबीर साहब कहते हैं कि जो अबकी [नर तन पाकर] आत्म परिचय करते हैं वे गुरु हैं [श्रेष्ठ हैं] और हमतो ज्ञानी महात्माओं के दासही हैं। 'हम चेला' यह कथन नम्रता का परिचायक है।

भावार्थ—"माया के बस जग परा, कनक कामिनी लागि। कहँहि कबिर कस बाँचि है, रुई लपेटी आगि"।

सूचना—यह 'सार' छन्द है। १६ और १२ मात्राओं के विश्राम से इसमें २८ मात्राएँ होती हैं। तथा अन्त में 'कर्णा दो गुरु होते हैं। लक्षण—'सोरह रविकल अन्तै कर्णा सारछन्द रच नीको' [छन्दः प्रभाकर] इसी को नरेन्द्र, ललित पद, और 'दोवै' भी कहते हैं। इसी लय में प्रभाती गायी जाती है। जैसे कि—'प्रात समय रघुबीर जगावें कौशल्या महतारी।

नोटः—"शब्द" यह संज्ञा उन पद्यों की है जो कि बहुधा गाने में आया करते हैं। इन्हीं को 'भजन' पद, और हरिय (ज) श भी कहा करते हैं। सन्त-मत में 'शब्द' पद पारिभाषिक है।

(२)

संतो[1] जागत नींद न कीजै।
काल न खाय कलप नहिं व्यापै, देह जरा नहि छीजै॥
उलट-गंग[2] समुद्रहिं सोखै, ससि औ सूरहिं ग्रासै।
नव-ग्रह मारि रोगिया बैठे, जल मह बिंब प्रगासै॥

बिनु[२] चरनन को दहुँ दिसि धावै, बिनु लोचन जग सूझै ।
ससै उलटि सिंघ कहँ ग्रासै, ई अचरज को बूझै ॥
औंधे-घड़ा[४] नहीं जल बूडै, सूधे सों जल भरिया ।
जिहि कारन नल भींन भींन करु, गुरु-परसादे तरिया ॥
पैठि[५] गुफामहँ सभ जग देखै, बाहर किछुउ न सूझै ।
उलिटा बान पारथि हिं लागै, सूर होय सो बूझै ॥
गायन[६] कहै कबहुँ नहिं गावै, अनबोला नित गावै ।
नट-वट बाजा पेखनि पेखै, अनहद हेत बढ़ावै ॥
कथनी-बदनी[७] निजुकै जोहै, ई सभ अकथ कहानी ।
धरती उलटि अकाशहि बेधै, ई पुरुषन की बानी ॥
बिना[८] पियाले अमृत अँचवै, नदिय नीर भरि राखै ।
कहँहिं कबिर सो जुग जुग जीयै, राम-सुधारस चाखै ॥

* टीका *

१—कबीर साहब कहते हैं कि हे जिज्ञासुओ ! आप लोग नाना कल्पना रूप निद्रा के वश में क्यों पड़ गये । जो कल्पना समुद्र में नहीं पड़ते हैं, वे काल के चक्र में नहीं आ सकते, अतः प्रलय काल में भी अविक्रिय (जैसे के तैसे) ही रह जाते हैं । और उसका देह (स्वरूप) कभी जरावस्था से आक्रान्त नहीं होता । भाव यह है कि तत्वज्ञानी सर्व द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं ।

२—कल्पना समुद्र में पड़े हुए योगियों के मतों का दिग्दर्शन कराते हैं—

हठ योगी कहते हैं कि प्राणायाम द्वारा ब्रह्मांड में चढ़ाई हुई श्वासा रूप गंगा नाना शोक सन्ताप रूप समुद्र को सुखा देती है । भाव यह है कि समाधि काल में बाह्य प्रपंच नहीं भासता है, और वही उलटी गंगा चन्द्र [ईडा] तथा सूर्य [पिंगला] को भी ग्रस लेती है । भाव यह है

कि योगी जन सुषुम्णा काल में ध्यान लगाते हैं, अत; सुषुम्णा नाड़ी के चलने से उक्त सूर्य और चन्द्र का लय हो जाता है, इस अभिप्राय से (गरासे) कहा है। पश्चात् नवां द्वारों को बन्द करके रोगिया (योगी) निश्चल हो जाते हैं, इस प्रकार स्थिर चित्त होने से जल में (ब्रह्मांड में) विम्ब का प्रकाश होता है, अर्थात् ब्रह्म-ज्योति का दर्शन होता है, वस्तुतः यह ज्योति तत्वों ही का प्रकाश है। यहाँ पर यह रहस्य है कि प्राणवायु प्रकाश शील है, अतः ब्रह्मांड में प्राणों के आयाम से वह केन्द्रित होकर ज्योति रूप से भासने लगती हैं, योगी लोग उक्त ज्योति को आत्मरूप समझ कर उसकी ब्रह्म ज्योति रूप से उपासना करते हैं; ये सब मनकी कल्पनाएं हैं।

३—सद्गुरु कहते हैं कि हे सन्तो ! इन योगियों का मन रूपी पत्ता वासना-प्रभंजन में पड़कर बिना ही चरणों के दशो दिशाओं में दौड़ता रहता है, और बड़ा अचरज तो यह है कि इन योगियों को बिना ही लोचन (विवेक) के अर्थात् कल्पना मात्र से यह सब जग (प्रपंच) दीख रहा है। और जरा यह तो देखिये ! कि शसा (मन) ही झपट कर सिंह (जीवात्मा) को दबोच रहा है, इस महा अचरज को विवेकी ही समझेंगे। भाव यह है कि योगियो को स्वप्नवत् कल्पित नाना कौतुक ब्रह्मांड में भासा करते हैं, अतः उक्त शैवाल जाल में फँसकर वे संसार सागर ही में पड़े रहते हैं।

४—संसार समुद्र को तैरने का उपाय बताते हैं—जिस प्रकार औंधा घड़ा जल में नहीं बूड़ सकता है किन्तु सीधा होने से ही उसमें जल भरा जा सकता है, इसी प्रकार बहिरंग वृत्ति में चित्प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता है किन्तु अन्तरङ्गवृत्ति में ही पड़ सकता है, अतः मुमुक्षुओं को उचित है कि वे उक्त अनात्म प्रपंचों को छोड़ कर तथा आत्म निष्ठ महात्मा की शरण में जाकर मुक्ति के साधन आत्मज्ञान को प्राप्त करले, जिससे कि अनायास ही भव सागर से पार हो जायँ। श्रुति ने भी आज्ञा दी है

कि "तद्विज्ञानर्थं स गुरु ! मेवाभिगच्छेत् ।" अर्थात् आत्म-ज्ञान के लिये सद्गुरु ही की शरण में जाना चाहिये। ५—अब हठ योगी फिर कहते हैं कि गगन गुफा में पैठने (प्रवेश करने) से विश्व दर्शन हो जाते हैं। अर्थात् प्राण निरोध से ब्रह्माण्ड में सब लीलाएँ दीखती हैं, और बाहर तो चर्म चक्षुओं से उसका अपेक्षा कुछ भी नहीं सूझता। और उलटा हुआ वाण (श्वासा) पारथी = वीर (मन) को बेध देता है। इस बात को शूर = वीर (योगी) ही जान सकते हैं। भाव यह है कि मन और पवन (प्राण) का अत्यन्त ही सम्बन्ध है, यहाँ तक कि दोनों की गति परस्पर सापेक्ष है, यह वार्ता योग के ग्रन्थों में स्पष्ट है कि,

"चले वाते चलंचित्तं, निश्चले निश्चलं भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति, ततो वायुं निरोधयेत्" ॥

हठयोगप्रदीपिका । उपदेश २ ।

इस कारण व्युत्थान काल में पारथी (मन) बड़ी तेजी से श्वासारूप वाणों को चालाता रहता है, परन्तु जब ब्रह्माण्ड में प्राणों का निरोध कर दिया जाता है, तब वे ही वाण उलट कर इस मन-पारथी को वेध देते हैं। अर्थात् मन का बाह्य प्रपंच मिट जाता है, अतः यह मूर्च्छित सर्प की तरह समाधि काल में पड़ा रहता है। ६—अनन्तर योगियों को यह भी उचित है कि वे बैखरी वाणी का संयम करें, अर्थात् ज्ञान-मूक हो जायँ। तथा अनबोला (अनाहत शब्द) का सदैव अभ्यास करते रहैं, और पेखनी (बाह्य दृश्यों) को नटके बाजे की तरह समझ कर अनहद [अनाहत] शब्द से हेत (प्रेम) बढ़ावें। भाव यह है कि बैखरी के संयम से दिव्य अनाहत शब्द सुनने में आता है, यह योग—शास्त्र में प्रसिद्ध है। ७—योगियों को यह भी आवश्यक है कि पूर्ण विवेक और संयम से सारे कार्यों को सिद्ध करें क्योंकि ये सब बातें बड़ी कठिन हैं। अनन्तर दृढ़ अभ्यास के होने पर धरती [पिण्डाण्ड] को उलट कर

आकाश (ब्रह्माण्ड) में ले जावें अर्थात् पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता करें यह योगी पुरुषों का कथन है। अब कबीर साहब कहते हैं कि "ऐ मरजीवा अमृतपीवा का धसि मरसि पताल, गुरु की दया साधु की संगति निकरि आव येहि द्वार।" अर्थात् हठयोगी कल्पित प्रपंचों में पड़कर घोरातिघोर कष्ट उठाते हुये अन्त में भवसागर में डूब जाते हैं क्योंकि बिना आत्म साक्षात्कार के सिद्धियों के भूखे योगियों की मुक्ति कदापि नहीं हो सकती है मुक्तिपद को तो ऐसे ही जन प्राप्त कर सकते है कि 'जो नदिय तीर (आत्माकार वृत्ति) को भरि राखै, अर्थात् स्थिर रखते हैं अतएव बिनापियाले' अर्थात् स्वतः, अमृत (निजानन्दामृत) को 'अचवैं' पीते हैं ठीक ही है निर्मल तथा शीतल जल वाली बहती हुई नदी के मिलने पर डोरी लोटे और गिलास की आवश्यकता नहीं रहती है। इसी प्रसङ्ग मे कबीर साहब ने कैसा अच्छा वचन कहा है कि 'जाको सद्गुरु ना मिला, व्याकुल दहुँ दिसि धाय। आँखिन सूझै बावरा घर जरे घूर बुताय' कबीर साहब कहते है कि जो रामसुधारस (आत्मानन्दामृत) का पान कर लेते हैं, वे युग २ अर्थात् सदैव अमर रहते हैं। थोड़े काल के लिये तो इन्द्रादिक देवता भी अमर बन जाते हैं इस लिये युग युग कहा है।

यहाँ पर यह बात जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि 'हृदया बसे तेहि राम न जाना, कोइ राम-रसिक रस पीयहुगे पीयहुगे जुग जीयहुगे। राम न रमसि कवन डॅड लागा"। इत्यादि अनेक स्थलों पर जहाँ २ राम शब्द कहा है, उसका अर्थ दशरथापत्य सादि राम नहीं है, किन्तु आत्मा-रामों का आश्रय भूत शुद्ध चेतन [निजपद] अनादि राम ही है। यह बात "दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना, तथा, गये राम और गये लछमना"। इत्यादि वचनों के आकलन से स्पष्ट ही विदित हो जाती है। इसी प्रकार हरि, गोपाल, आदिक शब्दों का अर्थ जानना चाहिये। इस विषय में यह शंका हो सकती है कि कबीर साहब ने "राम नाम का सेवहु बीरा"। तथा राम राम "भजु रामनाम भजु"

इत्यादि वचनों से रामनाम को भजने का उपदेश क्यों दिया, क्योंकि नाम और रूप तो मिथ्याही है। इसका यह उत्तर है कि नाम और नामी की अभेद विवक्षा से उक्तस्थलों में नाम से नामी ही कहा गया है। केवल नाम का भजन विवक्षित नहीं, क्योंकि ज्ञान के बिना केवल रामनाम के रटने से मुक्ति नहीं मिल सकती है, यह बात "पंडित बाद बदे सो झूठा, रामके कहे जगत गति पावै खाँड कहै मुख मीठा"। इत्यादि शब्दों से स्पष्ट है॥

(३)

संतो[1] घर महँ झगरा भारी।
राति[2] दिवस मिलि उठि उठि लागै, पाँच ढोटा एक नारी॥
न्यारो[3] न्यारो भोजन चाहैं, पाँचौं अधिक सवादी।
कोइ काहुका हटा न मानै, आपुहि आपु मुरादी॥
दुरमति[4] केरि दुहागिनि मेटै, ढोटहिं चापि चपेरै।
कहँहिं कबिर सोई जन मेरा, घर की रारि निवेरै॥

❀टीका❀

[घर का झगड़ा]

१—कबीर साहिब कहते हैं कि हे सज्जनो! इस शरीर में बड़ा भारी झगड़ा मचा हुआ है।

२—पाँच ढोटा (पाँच ज्ञानेन्द्रिय रूपी-बालक) और कुमति रूपी-नारी इस जीव को रात दिन बेचैन किये रहते हैं।

३—पाँचों इन्द्रियाँ और कुमति ये सब नाना प्रकार के अलग-अलग भोजन (भोग) चाहती हैं, सब इन्द्रियाँ बड़ी स्वाद की जानने वाली हैं। कोई इन्द्री किसी के रोके नहीं रुक सकती है, सब अपने अपने स्वार्थ में लगी हुई हैं।

४—अब झगड़ा मिटाने का उपाय बताते हैं कि दुर्मति रूपी कलह करने वाली स्त्री को दुहागिन करके मेट दे, अर्थात् चित्त से उतार दे।

और ढोटे जो पाँच इन्द्रिय रूप बालक हैं उनको चाँप चपेरे अर्थात् इन्द्रियों का दमन करें। कबीर साहब कहते हैं कि वही जन मुझको प्रिय है जो इस घर की रारि (झगड़े) को मिटाता है।

भावार्थ—कुमति को छोड़े बिना और इन्द्रियों का दमन किये बिना जीव सुखी नहीं हो सकता है।

पाँचज्ञानेन्द्रियें—आँख, कान, नाक, त्वचा, और रसना।
और उनका भोजन—रूप, शब्द, गन्ध, स्पर्श और रस।

इस पद्य में प्रस्तुत इन्द्रियादिकों के असंयत—व्यवहार (झगड़े) से अप्रस्तुत कौटुम्बिक-कलह की प्रतीति होती है इस कारण समासोक्ति अलंकार है। लक्षण—"समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्यचेत्"। "समासोक्ति प्रस्तुत फुरैऽप्रस्तुत बर्नन माँझ। [भाषाभूषण]।

(४)

संतो देखत जग बौराना[१]।
साँच कहौं तो मारन[२] धावै, झूठहिं जग पतियाना[३] ॥
नेमी देखा धरमी देखा, प्रात करहिं असनाना।
आतम[४] मारि पषानाह[५] पूजैं, उनिमहँ किछुउ न ज्ञाना ॥
बहुतक[६] देखा पीर अवलिया[७], पढ़ैं कितेब कुराना।
कै मुरीद[८] ततबीर[९] बतावैं, उनिमहँ उहै जो ज्ञाना ॥
आसन मारि डिंभ[१०] धरि बैठे, मनमहँ बहुत गुमाना।
पीतर पाथर पूजन लागे, तीरथ गरब भुलाना ॥
माला पहिरें[११] टोपी पहिरें, छाप तिलक अनुमाना[१२]।
साखी—सब्दै गावत भूले, आतम खबरि न जाना ॥
हिंदु कहैं मोहि राम पियारा, तुरुक कहैं रहिमाना[१३]।
आपुस महँ दोउ लरि लरि मूये, मरम[१४] काहु नहिं जाना ॥
घर घर मंतर देत फिरतु हैं, महिमा के अभिमाना ॥

गूरूसहित सीष सभ बूड़े, अंत-काल पछिताना।
कहँहिं कबीर सुनहु हो संतो, ई सभ भरम भुलाना॥
केतिक कहौं कहा नहिं मानैं, सहजै[१५] सहज समाना॥

टि०—[यह भ्रम भूत सकल जग खाया]

१—पागल हो गया। २—मारने दौड़ते हैं। ३—विश्वास करते हैं। ४—जीव, बकरे भैंसे आदिक। ५—पत्थर। ६—बहुत से। ७—दिगम्बर-मुसलमान फकीर। ८—चेला। ९—उपाय। १०—ढोंग बनाकर बैठे रहते हैं। ११—पहिनते हैं। १२—अपने अपने सम्प्रदाय के अनुसार तिलक, छाप करते हैं। १३—खुदा। १४—असली भेद, राम रहीम की एकता को किसी ने नहीं जाना। "भाइरे दुइ जगदीस कहाँ ते आया, कहु कवने बौराया" (बीजक) १५—धीरे धीरे सब चौरासी में चले गये।

भायार्थ—अज्ञानता के कारण विपरीत-बुद्धि वाले, चेतनात्मा का तिरस्कार करते हैं और जड़ पदार्थों का सत्कार करते हैं।

(५)

संतो अचरज एक भौ[1] भारी, कहौं तो को पतियाई[2]॥
एकै पुरुष[3] एक है नारी[4] ताकर करहु बिचारा।
एकै अंड सकल चौरासी, भरम भुला संसारा॥
एकहि नारी[5] जाल पसारा, जग महँ भया अंदेसा।
खोजत खोजत अँत न पाया, ब्रह्मा बिस्नु महेसा॥
नागफांस[6] लीये घट भीतर, मूसिन्हि[7] सभ जग झारी[8]।
ज्ञान खरग[9] बिनु सभ[10] जग जूझै, पकरि काहु नहिं पाई॥
आपुहि[11] मूल फूल फुलवारी, आपुहि चुनि चुनि खाई।
कहँहिं कबीर तेइ जन उबरे, जिहि गुरु[12] लिया जगाई॥

टि०—[माया की प्रबलता का वर्णन]

१—हुआ। २—विश्वास करेगा। ३—चेतन-पुरुष। ४—प्रकृति, माया। ५—माया। अँदेसा = भय। ६—त्रिगुण फांसी। ७—सद्गुणरूप धन चुरा लिया। ८—पूरी तरह। ९—तलवार। १०—सब। ११—वही माया। १२—जिसको गुरु ने आत्म-बोध दे दिया है।

भावार्थ—आत्मज्ञान के बिना माया के फन्दे से कदापि नहीं छूट सकते हैं।

(६)

संतो अचरज एक भौ[१] भारी, पुत्र धइल महँतारी॥
पिता[२] के सँगे भई है बावरी, कन्या रहलि कुमारी।
खसमहिं छाड़ि ससुर सँग गवनी, सोकिन लेहु विचारी॥
भाइके[३] सँगे सासुर गवनी, सासुहिं सावत दीन्हा।
नँनद भउजि परिपंच रचो है, मोर नाम कहि लीन्हा॥
समधी[४] के संग नाहीं आई, सहज भई घरबारी।
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, पुरुष जन्म भौ नारी॥

❀टीका❀

(माया का लीला विहार)

१—कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! आप सुनिये, एक बड़ा भारी अचरज हुआ है कि महतारी (माया) ने पुत्र (जीव आत्मा) के साथ सम्बन्ध कर लिया है।

२—इतना ही नहीं वह कुँवारी कन्या माया ऐसी पागल हो गयी है कि उसने अपने पिता (ईश्वर) के साथ भी सम्बन्ध (स्त्री पुरुष का सम्बन्ध) कर लिया है। इसके बाद खसम (ईश्वर) को छोड़ कर उस माया ने ससुर (अज्ञान) के पीछे पीछे चलना आरम्भ किया है, इस बात को आप लोग क्यों नहीं विचारते हैं।

३—इसके बाद वह माया अपने भाई (अविवेक) के साथ ससुराल (संसार में) चली आयी और यहाँ आकर सासु (वंचक लोगों की वाणी) को अपनी सौत बना लिया है। यह सब प्रपंच ननँद (कुमति) और भउजि (अविद्या) ने रचा है इसमें जीव को मिथ्या ही कलंक दिया जाता है।

४—माया समधी (सन्तों) के पास नहीं आती है क्योंकि वह स्वभाव से ही प्रपंच से सम्बन्ध रखती है। कबीर साहब कहते हैं कि पुरुष (जीव) से नारी (इच्छा) का जन्म हुआ है।

भावार्थ—यह जीव आत्मा अज्ञान वश अपनी कामना से आपही बन्धन में पड़ गया है।

(७)

संतो कहौं तो को पतियाई, झूठ[1] कहत साँच बनि आई।
लौके[2] रतन[3] अबेध[4] अमोलिक[5], नहिं गाहक नहिं साँई[6]॥
चिमिकि[7] चिमिकि चिमिकैद्रिग दहुँ दिसि, अरब रहा छिरियाई[8]॥
आपे गुरू कृपा किछु कीन्हो, निरगुन अलख लखाई।
सहज-समाधी उनमुनि[10] जागै, सहज मिलैं रघुराई॥
जहँ जहँ देखौ तहँ तहँ सोई, मनमानिक[11] बेधो हीरा।
परम-तत्त यह गुरुते पावो, कहैं उपदेश कबीरा[12]॥

टि०—[चेतन की सत्ता व्यापकता, तथा प्रकाशता का वर्णन]

१—यह बात कहने से झूठी और अनुभव से सत्य मालूम होती है। २—चमकता है। ३—आत्म-रत्न। ४—बिना छेदा हुआ, अखंड। ५—अमूल्य। ६—मालिक। ७—बार बार चमकता। ८—उसका तेज। ९—फैला हुआ है। १०—एक मुद्रा। ११—जिनका मनरूपी मोती आत्म-तत्व-रूप हीरे से बिध गया है। १२—उपासक जन।

भावार्थ—शुद्ध हृदय होने से आत्मसाक्षात्कार होता है।

(८)

संतो आवै जाय सो माया।

है प्रतिपाल काल नाह वाके, ना कहुँ गया न आया॥
क्या मकसूद[1] मच्छ कछ होना, संखासुर न सँघारा[2]।
है दयाल द्रोह नहिं वाके, कहहु कवन को मारा॥
वै करता नहिं ब्राह कहाया, धरनि धरो नहिं धारा[3]।
ई सभ काज साहब के नाहीं, झूठ कहै संसारा॥
खंभ फोरि जो बाहर होई, ताहि पतिजे[4] सभ कोई।
हिरनाकस नख वोद्र बिदारी, सो नहिं करता होई॥
बावन रूप न बलि को जांचो, जो जाँचै सो माया।
बिना बिबेक सकल जग भरमे, मायै जग भरमाया॥
परसराम छत्री नहिं मारा, ई छल मायै कीन्हा॥
सतगुर भेद भक्ति नहिं पावो, जीव अमिथ्या कीन्हा*॥
सिरजनिहार न व्याही सीता, जल पषान नहिं बँधा।
(यो) वै रघुनाथ नेक कै सुमिरै, जो सुमिरै सो अंधा॥
गोपी ग्वाल न गोकुल आया, करते कंस न मारा।
(है) मेहरबान सभन्हि को साहब, नहिं जीता नहिं हारा॥
वै करता नहि बौध कहाया, नहीं असुर को मारा।
ज्ञान हीन करता सभ भरमे, मायै जग भरमाया॥
वै करता नहिं भये निकलंकी, नहीं कलिंगहिं मारा।
ई छल बल सभ मायै कीन्हा, जत्त[5] सत्त सभ टारा॥

---

* पाठा०—प्राचीन लिखित पुस्तकों में ऐसा ही पाठ है। अर्थ—ऐ मनुष्यो! उक्त माया लीलाओं को "अमिथ्या कीन्हा" सत्य समझने से "सतगुरु भेद भक्ति नहीं पावो"। और ऐसा भी पाठ है "भक्ति नहिं पाया, जीव हि मिथ्या दीन्हा"।

दस अवतार ईसरी माया, करता कै जिन पूजा।
कहँहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, उपजै[1] खपै सो दूजा॥

टि०—[मायिक अवतारों का वर्णन]

१—मकसद, प्रयोजन। २—मारा। ३—धराया। ४—विश्वास करते हैं। ५—यती और सतियों को भटकाया। ६—जो उत्पन्न और और लीन होते हैं वे निर्विकार नहीं।

भावार्थ—शुद्ध चेतन माया से परे है।

(६)

संतो[1] बोलेते जग मारै।
अनबोलेते कैसक बनिहै, सब्दहिं कोइ न विचारै॥
पहिले जन्म पूतको भयऊ, बाप जनमिया पाछे।
बाप पूत की एकै नारी, ❀ ई अचरज को काछे?॥
दुंदुर[2] राजा टीका बैठे विषहर करै खवासी।
स्वान बापुरा धरिन ढांकनो, बिल्ली घर में दासी॥
कागदकार[4] कारकुड आगे,+ बैल करै पटवारी।
कहँहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, भैंसे न्याव निवेरी॥

❀ टीका ❀

१—हे सन्तो! मैं सत्य उपदेश करता हूँ तो अज्ञानी लोग मेरे साथ झगड़ा करते है, अतः बिना कहे कैसे बोध होगा कहने पर भी तो मेरे बचनों को कोई नहीं विचारता है। २—बात यह है कि पहले पुत्र (जीव) का जन्म हुआ और पीछे पिता (ईश्वर) का जन्म हुआ। अर्थात् जीवही अपने अनुमान प्रमाणादिकों से ईश्वर की सिद्धि करता है। बाप पिता

पाठा, * क० पु० माया।

+यह पाठ श्री रीवांनरेश के बीजक ग्रन्थ-तथा अन्य लिखित बीजकों के अनुसार है।

(ईश्वर) और पूत (जीव) की एक ही नारी है, इस अचरज को कौन काछे ? (हटावेगा) अर्थात् माया ने जीव और ईश्वर को अपने अधीन कर लिया है। ३—और देखिये अज्ञानी मनुष्य दुन्दुर (चूहे) के समान है। वह अपनी अज्ञानता से अपने को राजा माने हुए बैठा है। और विष हर=सर्प (मन) उसकी सेवा में रहता है। सर्प सेवक की सेवा से चूहे स्वामी की भलाई कैसे हो सकती है ? यह भी एक अचरज ही है कि श्वान रूप संकल्प पति बना हुआ है, और बिल्ली रूप मन की वृत्ति उसके घर की स्त्री बनी हुई है। ४—कागज कार जो कारकुन (अविचारी) है उनके आगे बैल रूपी अविवेकी पटवारीगरी करते हैं। कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! भैंसा रूप वंचक गुरु संसार में उपदेशक बने हुए हैं।

भावार्थ—अज्ञान वश जीव अहित को हित समझ लेता है, अतः सत्य उपदेश के बिना सत्य मार्ग कदापि नहीं मिल सकता है।

(१०)

संतो[1] राह दुनो हम डीठा[2]।
हिंदू तुरुक हटा[3] नहिं मानैं, स्वाद[4] सभन्हि को मीठा॥
हिंदू बरत एकादसि साधैं, दूध सिंघारा सेती[5]।
अनको त्यागैं मनको न हटकैं[6], पारन करैं सगोती[7]।
तुरुक रोजा नीमाज[8] गुजारैं, बिसमिल[9] बांग पुकारैं॥
इनकी भिस्त[10] कहाँते होइ है, साँझै मुरगी मारैं।
हिंदु कि दया मेहर[11] तुरुकन की, दोनौं घटसों त्यागी॥
वै हलाल वै झटके मारैं, आगि दुनौ घर लागी।
हिंदु तुरुक की एक राह है, सतगुरु इहै बताई॥
कहँहिं कबीर सुनहु हो संतो, राम न कहेउ[12] * खुदाई।

---

* पाठा०—कहँहु, कहूँ, ऐसा भी पाठ है।

टि०—[हिन्दू और मुसलमानो के मतों की आलोचना]

१—रास्ता, मत। २—देखा है। ३—मना करने से। ४—सबों को। ५—साथ। ६—नहीं रोकते। ७—सब कुटुम्बी मिलकर व्रत के अन्त में भोजन करते हैं। वस्तुतः दश इन्द्रियाँ और ग्यारहवें मन को रोकना सच्ची एकादशी है। ८ नमाज पढ़ते हैं। ९—और बिस्मिल्लाह की बाँग देते हैं। १०—बिहिश्त, स्वर्ग। ११—दया। १२—जीव बध करना न राम ने कहा है और न खुदा ने। यदि अत्याचारों को छोड़ दे तो हिन्दू और तुरुक एक ही मार्ग पर आजायँ।

भावार्थ—'मति भुलान दोइ दीन बखाना (बीजक)

(११)

संतो पांड़े निपुन[1] कसाई।
बकरा मारि भैंसा पर धावैं[2], दिलमहँ दरद न आई॥
करि असनान तिलक दै बैठे, विधिते देवि पुजाई।
आतमराम पलकमो बिनसैं[3], रिधिर[4] कि नदी बहाई॥
अति पुनीत[5] ऊँचे कुल कहिये, सभा माहिं अधिकाई[6]।
इनते दीच्छा[7] सभ कोइ मांगै, हँसि आवत मोहि भाई॥
पाप कटन को कथा सुनावहिं, करम करावहिं नीचै[8]।
हम तो दोउ परस्पर देखा, जम लाये हैं धोखै*॥
गाय बधै तेहि तुरुक कहिये, इनिते वै का छोटे।
कहँहिं कबीर सुनहु हो संतो, कलिमहँ ब्राह्मन खोटे॥

टि०—पुरोहितो की समालोचना।

१—पूरे। २—दौड़ते हैं। ३—मारते हैं। ४—रिधिर=खून। ५—पवित्र। ६—बड़ाई। ७—गुरु-मंत्र। ८—नीच-कर्म, जीवहिसादिक।

* पाठा०—ख० पु०—'बूडत दोउ परस्पर देखा गहे हाथ यम घींचा"

(१२)

संतो मते मातु जन[1]रंगी।
पियत[2] पियाला प्रेम सुधारस, मतवाले सतसंगी॥
अरधे[3] उरधे भाठी रोपिन्हि, ले कसाव रस गारी।
मूंदे[4] मदन काटि कर्म कसमल, संतत[5] चुवत अगारी॥
गोरख दत्त[6] बसिष्ठ व्यास कपि[7], नारद सुख मुनि जोरी।
सभा बैठि संभु सनकादिक, तहँ फिरे अधर[8]-कटोरी॥
अंबुरीषि औ जाग[9] जनक जड़[10], सेस सहसमुख पाना।
कहँ लौं गनौं अनंत कोटिलौं, अमहल[11] महल दिवाना॥
ध्रुव प्रहलाद बिभीषन माते, माती सिवकी नारी।
सगुन-ब्रह्म माते ब्रिंदाबन, अजहूँ लागु खुमारी[12]॥
सुरनर मुनि जति पीर अउलिया, जिन्हिरे पिया तिन्हि जाना।
कहँहिं कबीर गूंगे की सक्कर, क्यों कर करै बखाना॥

टि०—[प्रेम-प्रपा और आत्म तुष्टि]

१—अनुरागी-जन मत के माते हैं। २—प्रेम-रूपी अमृत-रस को पीते ही सत्संगी मतवाले बन जाते हैं। ३—पिंड और ब्रह्मांड की भठी बनायी गयी है और उसके द्वारा रस गारने का आयोजन किया गया है। ४—काम का नियन्त्रण (पुट-पाक) कर पाप कर्मों को काट रहे हैं। ५—उक्त विधि विधान से प्रेम-रस बराबर चूता रहता है। ६—दत्तात्रेय। ७—हनुमान्। ८—अधर प्याला। ९—याज्ञवल्क्य। १०—जड़ भरत। ११—सविशेष को निर्विशेष समझ कर मस्त हो गये। १२—मद की मस्ती।

(१३)

राम तेरि माया दुंद[1]* बजावै।
गति मति वाकी समुझि परै नहिं, सुर नर मुनिहिं नचावै॥

पाठा०—*छपी हुई पुस्तकों में "मचावे" ऐसा पाठ है।

का सेमर[२] के साखा बढ़ये, फूल अनूपम मानी।
केतिक चात्रिक[३] लागि रहे हैं, देखत* रुवा उड़ानी॥
काह खजूर[४] बढ़ाई तेरी, फल कोई नहिं पावै।
ग्रीषम[५] रितु जब आय तुलानी, छाया काम न आवै॥
अपने[६] चतुर अवर को सिखवै, कनक कामिनि सयानी।
कहँहिं कबीर सुनहु हो संतो, रामचरन[७] रति मानी॥

टि०—[माया की प्रबलता और उससे छूटने का उपाय]

१—हर्षशोकादिक रूप बाजे को बजाती है। २—सांसारिक ऐश्वर्य। ३—पक्षी। (मिथ्याआशा) ४—वृद्धावस्था। ५—अपनी चतुरता औरों को सिखलाती है। ६—गुरुपद पर आरूढ़ होइये।

(१४)

रामुरा (य) संसै गांठि न छूटै, ताते पकरि पकरि जम लूटै॥
हो मिसकीन[१] कुलीन कहावै, तुम जोगी सन्यासो।
ज्ञानी गुनी सूर कवि दाता, ई मति[२] किनहुँन नासी॥
सुम्रिति वेद पुरान पढ़ैं सभ, अनभौ[३] भाव न दरसै।
लोह हिरन्य[४] होय धौं कैसे, जो नहिं पारस परसै॥
जियतन तरेहु मुये का तरि हौ, जियतहिं जो न तरे (रे)।
गहि परतीति कीन्ह जिन्ह जासो, सोइ तहाँ[५]+अमरे (रे)॥
जे किछु कियहु ज्ञान अज्ञाना, सोई समुझ सयाना।
कहँहिं कबीर तासों का कहिये, देखत दिस्टि भुलाना॥

टि०—[अध्यास—फांस]

१—गरीब-साधु। २—भेद-बुद्धि। ३—आत्म-साक्षात्कार। ४—सोना। ५—अन्ते मतिः सा गतिः।

---

* पाठा०—ख० पु० तहँ मरै।

+ चाखत।

(१५)

रामुराय[१] चली बिनावन माहो, घर छोड़े जात जुलाहा हो ॥
गज[२] नौ गज दसगज उनइसकी, पुरिया एक तनाई।
सात सूत नौ गंड बहत्तरि, पाट लागु अधिकाई ॥
तापट[३] तुलना (तुलै,) गजन अमाई, पैसन सेर अढ़ाई।
तामहँ घटै बढ़ै रतिवो नहिं, करकच करे घहराई* ॥
निति[४] उठि बैठ खसम सों बरबस, तापर लागु तिहाई।
भींगी पुरिया काम न आवै, जोलहा चला रिसाई ॥
कहँहिं[५] कबीर सुनहु हो संतो, जिन्हि यह सिस्टि उपाई।
छांडु पसार राम भजु बौरै, भौ सागर कठिनाई ॥

❀ टीका ❀

(माया की रचना)

१—शरीर छूटने पर भी जीव को माया नहीं छोड़ती है प्रत्युत जीव रूप जुलाहों से नये नये शरीर रूप वस्त्र बनवाती ही रहती है। इस बात को जुलाहे के रूपक द्वारा वर्णन करते हैं :—जुलाहा [जीव]। घर [शरीर] को छोड़कर जा रहा है, तिस पर भी माया उसका पीछा नहीं छोड़ती, है, रामुरा [राम की माया] जीव रूप जुलाहे से शरीर रूप दूसरा पट बनवाने को जा रही है।

भाव यह है कि, अज्ञानी जीव नाना शरीरों को धारण करते रहते हैं।

२—माया ने जीव रूप जुलाहे से एक ताना (इन्द्रियसंघातरूप) तनवाया, वह ताना एक गज (मन) नवगज (नवद्वार) दशगज (दश इन्द्रियाँ) और उनइस गज (उनइस तत्वों का सूक्ष्म-शरीर) का बनवाया। अनन्तर सात सूत (सप्त-धातु) नव-गंड (नवनाड़ी) और बहत्तर कोठे रूप बाने से मनुष्य-शरीर रूप अत्यन्त श्रेष्ठ पाट (अधिक-मूल्य

पाठां०—* ग, पु० करे गहराई, । क, पु०, घरहाई।

का वस्त्र, चादर) बनवाया। दूसरा अर्थ यह भी है कि नर-तन रूप पट का 'पाट' (चौड़ाई) अधिक है इस कारण उक्त तन-पट के बनाने में बड़ा प्रयत्न किया गया है।

३—यह नर तन रूप पट (वस्त्र) ऐसा बना है कि इसकी बराबरी दूसरे पट-देवादि (शरीर) कदापि नहीं कर सकते हैं, क्योंकि नर तन विवेक वैराग्यादिक सकल साधनों का धाम और मोक्ष का द्वार है। ऐसे सुर दुर्लभ नर तन के मिलने पर भी अज्ञानी लोग इस पट को निर्मल न रख सके, किन्तु मन और माया रूपी काजर की कोठरी में रख-रख कर मैला बना दिया, और नाना विषय रूप काँटों में उरझा उरझा कर इस पट को छिन्न-भिन्न (तार तार) कर दिया। जब नाना वासना रूप तार फैल गये तब गज रूप मन से नापने के योग्य नर तन-रूप पट न रहा, अर्थात् भोगों से चित्त के विक्षिप्त होने पर गज (मन) हृदय में न अमाया (मन न रुक सका) जब विषयों के ससर्ग से नर तन पट की यह दशा हुई, तब खराब सूत के भाव पैसे का ढाई सेर बिकने लगा, अर्थात् कूकर सूकर के समान हो गया। इतना ही नहीं इसके अनंतर भी जैसे जैसे अज्ञान बढ़ता गया, वैसे वैसे नर तन रूप पट का मूल्य घटता ही गया, रत्ती भर भी अधिकता न हुई। जिस प्रकार उरझे और टूटे हुए सूत के दाम ढाई सेर का एक पैसा ही मिल सकता है, चाहे कितना ही करकच (बखेड़ा) करें इससे कम ही हो सकता है, अधिक नहीं। इसी प्रकार चाहे कितने ही कठिन तप और जपादिक करें परन्तु बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं हो सकती है।

४—और भी सुनिये, जुलाहा (जीव) जब जब ताना बाना ठीक करके नर तन रूपी पट को बनाने लगता है, तब तब अविद्या रूप जुलहिन आकर इसको घेर लेती है और इससे झगड़ने लगती है। इसी तरह झगड़ते झगड़ते तीन पन बीत जाते हैं, और झगड़े की तिजारी जीव को लगी ही रहती है। अनन्तर झगड़ती हुई अविद्या देवी बेचारे जीव जुलाहे के सर्वस्वभूत उक्त ताने पर भोग-वासना रूप पानी डाल देती है, जिससे

कि वह भींज जाता है। जब प्रपंच-पानी से मनरूपी पुरिया (ताना) भींज जाती है, तब विवेकादिक उत्तम कामों के योग्य नहीं रहती है, इसलिये जुलाहा (जीव) रिसाई (दुःखी) दूसरी योनियों में चला जाता है।

५—कबीर साहिब कहते हैं कि हे! बौरे जुलाहा (जीव) तू इस प्रपंच को त्याग कर राम (निजपद) का परिचय कर, जिस चेतन से यह सब सृष्टि बनी है, क्योंकि संसार सागर में बड़ा दुःख है।

भावार्थ—"बहुत दुःख है दुःख की खानी।
तब बचिहौ जब रामहिं जानी"।

(१६)

रामुरा[१] (य) झीझी जंतर बाजै, (कर) चरन बिहूना नाचै॥
करश्च[*]बिनु[२] बाजै सुनै स्रवन बिनु, स्रवन सरोता सोई।
पाटन सुबस सभा बिनु अवसर, बूझहु मुनिजन लोई॥
इन्द्रि[३] बिनु भोग स्वाद जिभ्या बिनु, अच्छय पिंड बिहूना।
जागत+चोर मंदिल तहँ मूसैं, खसम अछत घर सूना॥
बिज[४] बिन अँकुल पेड़ बिनु तरिवर, बिनु फूले फलफरिया।
बाँझ कि कोख पुत्र अवतरिया, बिनु पगु तरिवर चढ़िया॥
मसि[५] बिनु द्वात कलम बिनु कागद, बिनु अच्छर सुधि होई।
सुधि बिनु सहज ज्ञान बिनु ज्ञाता, कहँहिं कबिर जन सोई॥

टीका

[अनहद कहत कहत जग बिनसे]

१—इस पद्य में सद्गुरु ने यह कहा है कि दशम—द्वार में ररंकार शब्द होता है, शब्द-वादी उपासक अपना स्वामी [चेतन] समझ कर उसकी उपासना करते हैं, यह उनकी अज्ञानता है; क्योंकि पिंड और

---

* पाठा०—ग० पु० श्रवण सुने बिनु+क० पु० जागै चोर।

ब्रह्मांडान्तर्गत जितने शब्द और ज्योति आदिक प्रकाश हैं, वे सब माया के कार्य (जड़) हैं और उनका जानने वाला चेतन उनसे भिन्न है। उक्त उपासकों का तो यह कथन है कि दशम द्वार म रामुरा (रामका) झींझी जन्तर (झींना शब्द, ररंकार) बजता है, उसको सुन सुन कर चरण बिहूना [बिना हाथ पैर का] जीव-आत्मा (या मन) प्रसन्न होता है।

२—वह शब्द बिना हाथ के बजता है अर्थात् अपने आप होता है। और ध्याता जीव बिना श्रवणेन्द्रिय के उस शब्द को सुनता है; क्योंकि सुरति रूपी श्रवण से श्रोता के सुनने में वह शब्द आता है। उक्त शब्द को जबही चित्त एकाग्र हो तबही सुन सकता है, शब्द के सुनने में किसी विशेष समय की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वहाँ पर पाटन [नगर] सुबस अच्छी तरह बसा हुआ है। और ब्रह्मरन्ध्र में बिनु अवसर [सदा ही काल] सभा (मालिक का दरबार) लगी रहती है; अतः जब चाहे तब सुन सकता है, इस बात को हे मुनियो ! [मनन करने वाले महात्माओं ?] आप समझिये।

३—उस शब्द का भोग (ज्ञान) बिना इन्द्रियों के होता है। और बिना जिह्वा के उसका स्वाद (आनन्द) चखने में आता है और पिंड के नाश होने पर भी शब्द अक्षय [अविनाशी] ही रहता है [क्योंकि शब्द वादी शब्द को नित्य मानते हैं]।

अब सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो ! शब्द-वादी अज्ञान की धारा में बह गये हैं, मन ने इनको भ्रम में डाल दिया है। इन ररंकार के उपासकों के जागत (देखते देखते) चोर (मन) ने मन्दिर (इनके हृदय) से ज्ञान रूपी हीरा चुरा लिया है, अतएव अज्ञानरूपी अन्धकार के होने से खसम [आत्मा राम] के अछत (रहते हुए भी) इनका घर (हृदय) सूना सा हो गया है।

भावार्थ यह है, कि ये लोग भ्रम से अपने मालिक को बाहर समझ कर उसके मिलने के लिये नाना उपाय कर रहे हैं।

जाकी[४] गति ब्रह्मौ नहिं जानै, सिव सनकादिक हारे।
ताके गुन नल कैसे पैहौ, कहँहिं कबीर पुकारे ॥†

टि०—[अवतार-मीमांसा]

१—अनादि निर्लेप राम, शुद्ध-चेतन। २—अज्ञानी। ३—सुरक्षित किया ४—जिस अनादि राम की।

† यह "सार" छन्द प्रभाती लय का है। आगे उल्लिखित विशेष छन्दों को छोड़कर सर्वत्र प्रायः यही छन्द है।

(१६)

ये[१] ततु रामजपहु हो प्रानी, (तुम) बूझहु अकथ कहानी।
जाको[२] भाव होत हरि ऊपर, जागत रैनि बिहानी ॥
डाइनि[३] डारे सुनहा डोरे, सिंघ रहै बन घेरे।
पांच कुटुँब मिलि जूझन लागे, बाजन बाजु घनेरे ॥
रोहु-मृगा[४] संसै बन हांकै, पारथ बाना मेलै।
सायर-जरै सकल-बन डाहै, मच्छ अहेरा खेलै ॥
कहँहिं[५] कबीर सुनहु हो संतो, जो यह पद अरथावै।
जो यह पदको गाय बिचारै, आप तरै औ * तारै ॥

टीका

[निज रूप (राम) के जानने के साधन]

१—सारा संसार राम को जपता है, परन्तु साधनहीन-मनुष्यों को उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती है, इस बात को सिंह के रूपक द्वारा सद्गुरु बताते हैं कि हे मनुष्यो! तुम इस बात को समझो, और ए ततु (इस प्रकार से) जपो, अर्थात् चिन्तन करो, यह बात पूरी तरह कहने में नहीं आ सकती है।

---

* पाठा०—क० पु० मोहि तारै।

२—"जाको भाव होत हरि ऊपर" हरि=आत्मा, अर्थात्—जिसके हृदय में ज्ञान के उदय होने से आत्म-भाव हो जाता है, वह पुरुष निश्चय ही जागत (जागता रहता है)। और उसके सामने से अज्ञानता रूपी रैनि [रात्रि] हट जाती है। और नित्य बोध रूप सबेरा हो जाता है। सिंह के शिकारियों के पक्ष में यह अर्थ है कि जिसको हरि=सिंह के आखेट की इच्छा रहती है, वह जागते हुए रात बिताकर सबेरा कर देता है। योगियों के पक्ष में सिंह का अर्थ मन है।

३—इसके पश्चात् "डाइनि डारे सुनहा डोरे" अर्थात् गुरु के उपदेश से मन को वश में करे। और कामादिक कुत्तों को डोरी से बाँधे, अर्थात् रोके। और 'सिंह रहे बन घेरे' अर्थात् सिंह रूप मन को हृदय में घेर लेवे। दूसरे पक्ष में डाइनि मन्त्रादि से सिंह को वश में कर लेते हैं, तथा शिकारी कुत्तों से उसको घेर लेते हैं। और यह भी आवश्यक है कि 'पाँच—कुटुम मिलि जूझन लागे' अर्थात् पाँचों इन्द्रियों का संयम कर मन का दमन करे, और 'बाजन बाजु घनेरे, अर्थात् साधन समझ कर अनहद शब्द आदिक का भी अभ्यास करे तो कोई हानि नहीं है, परन्तु उन्हीं को निज रूप न समझे। दूसरे पक्ष में सिंह के लिये वन में चारों ओर से बाजे बजाते हैं, और सखा साथी-लोग मिल कर सिंह से युद्ध करते हैं।

४—'रोहु मृगा संसय बन हाँके' अर्थात् गुरु के बचनों में पूरा विश्वास होने से सब संशय रूपी मृग अपने आप हृदय रूप बन से भग जाते हैं, अतः दृढ़ होकर सद्गुरु के उपदेश रूप बाणों से मन रूप सिंह को पराहत करना चाहिये। दूसरे पक्ष में बाजाओं के बजने से हरिण उस जंगल को छोड़ कर भग जाते हैं और बाण चलने लगते हैं।

इस प्रकार संक्षेप से साधन बता कर सद्गुरु कहते हैं कि यह बड़ा अचरज है कि "सायर जरे" संसार-सागर त्रितापाग्नि से जल रहा है।

और, 'सकल बन डाहे' बन जो गुरुवा लोगों (वञ्चकों) की रोचक बाणी है वह सकल डाहे अर्थात् सबों को जला रही है। और मच्छ (माया) अहेरा (शिकार) खेल रही है, अर्थात् वञ्चकों की रोचक बाणी से संसारी-लोग माया के जाल में फँस रहे हैं। जैसा कि सद्गुरु ने कहा कि "मच्छ रूप माया भई जवरे खेल अहेर"

५—कबीर साहब कहते हैं कि सन्तो ! जो इस शब्द के अर्थ का निर्णय करते हैं और कहते विचारते रहते हैं वे सन्त संसार सागर से पार हो जाते हैं और दूसरों को भी पार कर देते हैं।

(२०)

कोई[1] राम-रसिक रस पीयहुगे पोयहुगे सुख जीयहुगे॥
फल-लंकृत[2] बीज नहिं बकला, सुख-पंछी (तहाँ) रस खाई।
चुवै न बुंद अंग नहिं भीजै, दास-भँवर (सभ) सँग लाई॥
निगम-रिसाल[3] चारिफल लागें, तिनिमहँ तिनि समाई।
एक दूरि चाहैं सभ कोई, जतन जतन बिरलनि पाई॥
गै[4] बसत ग्रीषम रितु आई, बहुरिन तरिवर तर आवै।
कहँहिं कबिर सामी सुख-सागर, राम, राम-मगन (होय) सो पावै॥

टीका

(रामरस का पान)

१—'कोइ राम-रसिक रस पीयहुगे, पीयहुगे जुग जीयहुगे'।

कोई कोई आत्माराम (आत्मा से रमण करने वाले) वीतराग इस राम रस को पीते हैं। जो पीते हैं वे युग युग (सदैव) जीते हैं, अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।

२—वह राम रस एक विचित्र और लंकृत = अलंकृत (सुन्दर) फल है। ऐसा विचित्र फल है कि उसके 'बीज नहीं बकला' न बीज है न

छिलका ही है। अर्थात् राम रस, बीज निर्गुण और बकला (सगुण) से अलग है। 'निर्गुण सगुण मन की बाजी खरे सयाने भटके' उस राम-रस को सुख (शुकाचार्य) रूप पक्षी ने चखा है, क्योंकि शुकाचार्य ने गर्भ ही से माया का त्याग किया है 'शुकाचार्य दुखही के कारन गर्भहि माया त्यागी हो'।

अब इस बात को कहते हैं कि उक्त फल के रस का पान केवल शुक पक्षी ही कर सकता है, भौंरे उसके रस को नहीं पी सकते हैं। "चुवै न बुन्द अंग नहिं भीजै, दास भँवर सभ संग लाई।" उस राम रस रूपी (रिसाल, आम्र) फल को अनेक भक्त जन रूप भौरें सदा काल घेरे ही रहते हैं, (अर्थात् उसको जपाही करते हैं) परन्तु साधन हीन होने से राम-रस की एक बूंद भी उन पर नहीं चूती है, इसलिये बाहर से भी उनका अग सूखा ही रह जाता है।

३—"निगम रिसाल चारि फल लागे, तामे तीनि समाई' वेद रूप आम के वृक्ष में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चार फल लगते हैं, उनमें से आदि के तीन फल तो समाई (नाशवाले हैं) और 'एक दूरि चाहैं सब कोई जतन जतन काहु बिरलन्हि पाई" एक मोक्ष रूपी फल दूर लगा हुआ है उसी को सब कोई चाहते हैं, परन्तु बड़े प्रयत्न करने से कोई बिरला ही उसको पा सकता है।

४—सद्गुरु कहते हैं कि ' गै वसन्त ग्रीषम रितु आई' अर्थात् जवानी बीत गई है, और बुढ़ापा चला आया है, परन्तु ऐसा उपाय नहीं किया कि जिससे 'बहुरिन तरि-वर तर आवै, अर्थात् नाना फलों को भोगने के लिये संसार रूपी वृक्ष के नीचे न आना पड़े। कबीर साहिब कहते हैं कि स्वामी गुरुपद या निज पद सुख सागर है, परन्तु जो राम में रमते हैं वे ही उसको पाते हैं। अर्थात् राम में रमना ही आत्माकार-वृत्ति होना ही (स्वामी) गुरु पद का पाना है।

(२१)

राम न रमसि[1] कवन डँडलागा,[2] मरिजैबे का करबे[3] अभागा †।
कोइ तीरथ कोइ मुंडित[4] केसा, पाखँड मंत्र भरम उपदेसा॥
बिद्या बेद पढ़ि करै हँकारा, अन्तकाल मुख फाकै छारा।
दुखित सुखित हो कुटुँब जेवावे,[5] मरन बेर एकसर[6] दुख पावे।[7]
कहँहिं कबिर यह कलि[8] है खोटी, जो रहै करवा[9] (सो) निकलै टोटी[10]

टि०(भ्रम और आडम्बर)

१—रमता है। २—पाप। ३—करेगा। ४—केस मुड़ाता है। ५—खिलाता है। ६—अकेला। ७—पाता है। ८—वासना या कलियुग। ९—गड़वा, वदना। १०—टूँटी। छारा—धूलि। "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी"।

† यह छन्द चौपाई है।

(२२)

अबधू[1] ! छाँड़हु मन-बिस्तारा[2]।
सो पद[3] गहहु जाहिते सदगति,[4] पारब्रह्म ते[5] न्यारा॥
नहीं महादेव नहीं महँमद, हरि हजरत किछु नाहीं।
आदम ब्रह्मा नहिं तब होते, नहीं धूप नहिं छाहीं॥
असियासै[6] पैगंबर नाहीं, सहस—अठासी[7] मूनी।
चंद सुरज तारागन नाही, मच्छ कच्छ नहिं दूनी[8]॥
बेद कितेब[9] न सुम्रिति संजम, नहीं जवन परसाही[10]।
बंग[11] निमाज न कलमा होते रामौ[12] नाहिं खुदाई॥
आदि[13] अन्त मन मध्य न होते, आतस[14] पवन न पानी।
लख-चौरासी जियाजंतु[15] नहिं, साखी सब्द न बानी॥

कहँहिं कबीर सुनहु हो अबधू ! आगे[११] करहु* विचारा।
पूरन-ब्रह्म कहाँते प्रगटे, किरतम[१८] किन उपराजा॥

टि०—(सत्य-पद प्रदर्शन)

१—हे अबधूत जी ! २—मनका फैलाव। ३—निर्विशेष—आत्मा, शुद्ध चेतन। ४—मुक्ति। ५—वह। अस्सी सौ। किसी पुस्तक में 'असी-सहस ऐसा भी पाठ है। असी-सहस हजार। ७—अठासी हजार मुनि भी नहीं थे। ८—दोनों। ९—कुरान आदि इस्लामी किताबें। १०—मुसलमानों की बादशाही (राज्य)। ११—बाँग, नमाज और कलमा। १२—अवतार राम (सादिराम) और सातवें आसमान पर रहने वाला (कल्पित) खुदा। १३—आदि अन्त और मध्य नहीं था, तथा मन भी नहीं था। १४—अग्नि। १५—चौरासी लाख योनियों के प्राणी। १६—माया के आगे। १७—कारण-ब्रह्म (ईश्वर) और कार्य-ब्रह्म (हिरण्य-गर्भ, मन, पारिभाषिक निरञ्जन) १८—मायिक-प्रपंच को किसने पैदा किया।

(२३)

अबधू[1] कुदरति की गति न्यारी
रंक निवाजि करै वह राजा, भूपति करै भिखारी॥
येते[२] + लवँगहिं फल नहिं लागै, चंदन फूल न फूला।
मच्छ सिकारी रमै जंगल महँ, सिंघ समुद्रहि भूला॥
रंडा-रुख[३] भये मलयागिर, चहुँ दिसि फूटी बासा।
तीनि-लोक ब्रह्मंड खंड महँ, देखै अन्ध तमासा॥
पंगा[४] मेर सुमेर उलंघै, त्रिभुवन मुकता डोलै।
गुंगा ज्ञान विज्ञान प्रगासै, अनहद बानी बोलै॥

---

* पाठा०—क० पु० कहहु विचारी,
+ पाठा०—क० पु० येते लौंगन्ह हर फन लागे।

अकासहि[1] बाँधि पताल पठावै, सेस मरग पर राजै।
कहँहिं कबीर राम हैं राजा, जो किछु करैं सो छाजै॥

टीका

१—हे अवधू=जिज्ञासु पुरुषो! हरि की कुदरत (माया) की गति रचना निराली है। दरिद्रों पर दया कर चाहे तो वह उनको राजा बना दे और भूपतियों को भिखारी बना दे।

२—माया की रचना देखिये कि लवग के वृक्षों में फल नहीं लगते और चन्दन के फूल नहीं लगते यह कितनी भूल है। और भी आश्चर्य देखिये कि मच्छ (माया) संसार रूपी वन में विषयी पुरुषों का शिकार खेलती हुई घूमती है। और सिंह (जीव) ससार समुद्र में झूलता है। मच्छी का वन में घूमना और सिंह का समुद्र में झूलना कुदरत का कौतुक ही है।

३—"रेंडा-रूख भये मलयागिर" रेंडा साधक (पुरुष) साधनों से सिद्ध होकर मलयागिरि रूप हो जाते हैं और चारों ओर उनका सुयश रूपी सुगन्ध छा जाता है। अँध=अन्धा (अन्तर्दृष्टि-पुरुष) तीन लोक रूप खड ब्रह्माण्ड में तमाशा (नाना कौतुक) देखते हैं।

४—"पंगा मेरु सुमेरु उलंघै" जिनका मन अभ्यास द्वारा पंगु अर्थात् निश्चल हो गया है, वे अपनी वृत्ति को रोक कर अभ्यास द्वारा सुमेरु स्थान पश्चिमदंड (मेरुदड) को लाँघ जाते हैं और मुकुता (मुक्तपुरुष) तीनों भुवनों में स्वतन्त्र रहते हैं, "गूंगा ज्ञान विज्ञान प्रगासै" गूँगे (मूक) तीन प्रकार के होते हैं। १—जन्म-मूक। २—ज्ञान-मूक। ३—अज्ञान-मूक। उनमें से ज्ञान-मूक पुरुष ज्ञान और विज्ञान (स्वानुभव) का प्रकाश करते हैं और अनहद-वाणी (अखंडशब्द) का भी परिचय करते हैं।

"रेंडा-रूख भये मलयागिर" इत्यादिक कथन से मुक्ति के उपयोगी अजिह्वादिक गुणों का वर्णन किया गया है।

यथा—"अजिह्वः षंढकः पंगु रंधो बधिर एवच ।
मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुःषड्भिरेतैर्न संशयः" ।

अर्थात्—गूंगा नपुंसक पँगला अन्धा बहिरा और मुग्ध (भोला) इन छः गुणों से भिक्षुजन (साधु) मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं । गूंगा आदि की व्याख्या निम्नलिखित श्लोकों से की गयी है ।

"इद मिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जते ।
हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते ॥
अद्य जातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम् ।
शतवर्षां च यो दृष्ट्वानिर्विकारः स षण्ढकः ॥
भिक्षार्थमटनं यस्यविरण्मूत्रकरणाय च ।
योजनान्न परं याति सर्वथा पंगु रेव सः ॥
तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्यचक्षुर्न दूरगम् ।
चतुर्दिक्षु भुवंगत्वा परिव्राट् सोऽध उच्यते ॥

भावार्थ यह है कि, वैखरी के संयम से दिव्य-अनहद-शब्द सुनने में आ जाता है ।

५—राम (चेतन) चाहें तो आकाश को बाँधकर पाताल में भेज दें और पाताल-निवासी-शेष को स्वर्ग में ले जायें । कबीर साहब कहते हैं कि, राम राजा हैं, अर्थात् सर्वे-सर्वा, सर्वोपरि हैं । वे जो कुछ करते हैं वही उनको शोभा देता है ।

(२४)

अबधू[1] सो जोगी गुरु मेरा, (जो यहि) पदका करै निवेरा ॥
तरिवर[2] एक मूल बिनु ठाढ़ा, बिनु फूलै फल लागा ।
साखा पत्र किछौ नहिं वाके, अस्ट-गगन-मुख गाजा ॥
पौ[3] बिनु पत्र करह बिनु तूंबा, बिनु जिभ्या गुन गावै ।
गावनि हार के रेख रूप नहि, सतगुरु होय लखावै ॥

पंछिक[४] खोज मीन को मारग, कहँहिं कबिर दोउ भारी।
अपरमपार पार परसोतिम, मूरति की बलिहारी॥

टीका

१—कबीर साहब कहते हैं कि हे अवधू! जिज्ञासु-पुरुषो! वे योगी गुरु (आत्मयोगी ज्ञानी गुरु) सबसे श्रेष्ठ हैं, जो पद के अर्थ का निर्णय करके आत्म-तत्व को ग्रहण करते हैं।

२—तरिवर एक मूल बिनु ठाढै। 'एक मूल-प्रकृति रूप श्रेष्ठ-वृक्ष है वह बिना मूल के खड़ा है, क्योंकि सबका मूल प्रकृति है और प्रकृति का मूल कोई नहीं। "मूले मूलाभावादमूलं मूलम्" (सांख्यसूत्र) मूल का मूल नहीं होता है। उस मूल-प्रकृति रूप वृक्ष में बिना फूल के विश्व-रूपी, फल लगा है। उस विश्व-वृक्ष के शाखा पत्र कुछ नहीं है, और वह वृक्ष अष्ट प्रकृति रूप से संसार में फैला हुआ है, अष्ट प्रकृतियाँ ये हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। और दूसरा यह भी अर्थ है कि ब्रह्माण्डस्थ अष्टम-गगन सुरति कमल के मुख (द्वार) पर अनाहत शब्द गरज रहा है। यह विहंगम मार्गियों का मत है।

३—अब स्वरवादियों का मत बताते हैं। इस शरीर में पौ (अंकुर) के बिना पत्र (द्विदल का कमल) है और करह (डंठी) के बिना एक तुम्बा (मस्तक) लगा हुआ है। और अजपा-जाप करने वाले योगी, जिह्वा के गुण गान [अजपा जाप] करते हैं। गावन हार के (श्वाँसा के] रूप रेख कुछ भी नहीं है। यदि स्वरोदय के भेदी सद्गुरु मिलें तो सब रहस्य समझावें।

४—कबीर साहब कहते हैं कि विहंगममार्गी और मीनमार्गी योगियों की लीलाओं का दिग्दर्शन मैंने कराया है, ये सब नाना प्रकार के मन के खेल हैं। जिस प्रकार आकाश में उड़े हुए पक्षी का मार्ग ढूंढ निकालना और जल में तैरती हुई मच्छी का रास्ता निर्धारित करना

अत्यन्त ही कठिन है, इसी प्रकार इस विहंगम मार्ग (खेचरी मुद्रा) और मीन मार्ग (स्वरोदय) में भी भारी उलझन है, आश्चर्य है कि योगी लोग इन अनात्म-पदार्थों में ही उलझे रहते हैं। जो पुरुष मन और माया के बन्धनों से रहित है, वही सर्व-बन्धनों से रहित होने से पुरुषोत्तम है, अतः उसकी मूर्ति (स्वरूप) की मैं बलिहारी हूँ अर्थात् प्रतिष्ठा करता हूँ।

(२५)

अबधू[1] वो ततु रावल राता, नाचै बाजन बाजु बराता ॥
मौरके[2] माथे दुलहा कीन्हौ, अकथा जोरि कहाता ॥
मँडवक[3]* चारन समधी दोन्हौ, पुत्र बिबाहल माता ॥
दुलहिनि[4] लीपि चौक बैठायो, निरभय पद परगासा।
भाते उलटि बरातिहिँ खायो, भली बनी कुसलाता ॥
पानो[5] ग्रहन भये भौ मंडन, सुषमनि सुरति समानी।
कहँहिँ कबीर सुनहु हो संतो, बूझहु पंडित ज्ञानी ॥

टीका

[योगी माने योग ध्यान]

१—हठयोगियों की योगलीला बताते हैं.—अबधू ! हे योगियो ! आप लोग निजरूप को भूल कर उस मिथ्या लीला को तत्व समझ कर उसी में रत गये। आप लोगों का यह कार्य तो लौकिक दृष्टि से भी विपरीत सा मालूम पड़ता है, क्योंकि बारात में बाजे बजते हैं और बराती लोग नाचते हैं, परन्तु आप की योग लीला में तो "नाचै बाजन बाजु बराता" बराती लोग स्वयं बाजे बन कर बजते हैं और बजने वाले बाजे नाच करते हैं। बात यह है कि ब्रह्माण्ड में प्राणों के आयम (रोकने) से दश प्रकार के अनहद शब्द उठा करते हैं, वे नाना प्रकार के शब्द ही बाजे हैं,

* पाठा०—क, पु० मंडइके चाँडन समधिहि दिन्हौ।

सो अभ्यास काल में नाचते हैं। अर्थात् अपने २ रूपों को प्रकट करते हैं। और बराती योगियों के जो शारीरिक तत्व हैं वे बजते हैं। भाव यह है कि दश प्रकार के अनहद शब्द पाचों तत्वों की भिन्न-भिन्न ध्वनि झनकार है यह कैसी उलटी लीला है।

२—और भी देखिये कि लौकिक ब्याह में तो दुलहा के मस्तक पर मौर रक्खा जाता है, परन्तु आपकी योग लीला में तो "मौर के माथे दुलहा दीन्हो" मौर ही के माथे पर दुलहा को बैठा दिया है। अर्थात् मौर (नागिनी कुंडलिनी शक्ति) के मस्तक पर अभ्यास—द्वारा दुलहा (जीव) को बैठा दिया है। भाव यह है कि नाभी चक्र में नागिनी (कुण्डलिनी-शक्ति) का निवास है, और उसका मुख नीचे की ओर रहता है, अतः वह नाभी चक्र के द्वार को रोके रहती है। इस कारण अभ्यास काल में योगियों के प्राण ऊपर नहीं चढ़ने पाते हैं। जब योगी लोग पाँच हजार कुम्भक कर लेते हैं, तब कुडलिनी उलट जाती है, नागिन का मुख ऊपर होने से योगियों के प्राण ब्रह्माण्ड में चढ़ जाते हैं और समाधि लग जाती है। समाधि दशा प्राप्त होने पर नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, सिद्धियों के बल से योगी लोग नाना प्रकार की अकथनीय कथाओं को कहने लगते हैं, इस कारण सिद्धियों का अहंकार भी उनके हृदय में बढ़ जाता है।

३—अनन्तर अहंकार के बढ़ने से "मड़वे के चारन समधी दिन्हों" अर्थात् समधी (अहंकार) से मंडवे (हृदय) के चारन (बिचरनेवाले) काम क्रोधादिकों को दीन्हा, अर्थात् नाना प्रकार के भोग दिये। कई पुस्तकों में "मंडते के चादन समधी दीन्हा" ऐसा भी पाठ है, अर्थ-मंडवे (शरीर) के चादन (छत्त) पर समधी (चेतन) को दिन्हा (रख दिया) अर्थात् आत्मविमुख होकर शरीरासक्त हो गये। इस प्रकार इन योगियों की यह योग लीला तो अनर्थ ही करने वाली हुई क्योंकि "पुत्र बिआहल माता" अर्थात् पुत्र (जीवआत्मा) ने अपनी माता (माया)

या अविद्या ही के साथ विवाह कर लिया। भाव यह है कि योगी लोग बड़े भारी धोखे में फंस गये, क्योंकि बिना ज्ञान के इन योग की क्रियाओं से अविद्या कदापि दूर नहीं हो सकती है। प्रत्युत (पहले से भी अधिक) योगी लोग अहंकारादिक अविद्या के दल दल में फँस जाते हैं।

४—इन हठ योगियों ने जीव की दुलहिन (सुमति) को तो लीप दिया है अर्थात् मेट दिया है। और उस पर नाना विडम्बना रूप चौके को बैठा दिया है, तिस पर भी अपने आपको सर्वथा निर्भय समझते हैं कि हमने जरा और मृत्यु को जीत लिया है। सद्गुरु कहते हैं कि उक्त विवाह में यह एक बड़ा भारी कौतुक हो गया है कि नाना सिद्धि रूप व्यंजनों की लिप्सा से योग साधन रूप बारात मे सम्मिलित हुए योगी रूपी बारातियों को भोग-वासना रूप बासी भात ने ही उलटे खा डाला। यह देखिये कैसी कुशलता रही। भाव यह है कि सिद्धियों के भूखे योगियों को आत्म-ज्ञानादिक कुछ नहीं सूझता, ठीक ही है "बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्" अर्थात् भूखे को कुछ नहीं सूझता है।

५—कबीर साहिब कहते हैं कि हे सन्तो! आप लोग सुनिये और हे ज्ञानी पण्डितो! आप लोग समझिये, यह एक बड़ा भारी आश्चर्य है कि हठ योगी सुषुम्णा चलने पर अपनी सुरति को ब्रह्माण्ड में चढ़ा कर वहाँ पर होने वाले अनाहत शब्द में उसको लगाते हैं, इस कारण अविद्या के साथ पाणि-ग्रहण (विवाह) होने के बाद योगियों को मँडवा रूप नाना शरीर धरने पड़ते हैं, और उनका मंडन (रक्षण) भी करना पड़ता है। यही योगियों की विवाह लीला है। लौकिक व्याह में तो पहले मड़वा बनाया जाता है और पीछे विवाह होता है, परन्तु इनके तो सारे ही काम उलट गये हैं। भाव यह है कि योगी लोग अचेतन शब्दादिकों की आत्म-भाव से उपासना करते हैं इसी कारण से अविद्या के अन्ध कूप में जाते हैं। और अविद्या ही के सम्बन्ध से नाना शरीर धरने पड़ते हैं।

(२६)

भाइरे बहुत बहुत का कहिये, बिरले दोस्त[१] हमारे।
गढ़न[२] मँजन संवारन आपे, राम रखे त्यौं रहिये॥
आसन पवन जोग स्मृति सुम्रिति[३], जोतिष पढ़ि बैलाना[४]।
छौ[५] दरसन पाखंड छानवे[६], ये कल[७] काहुन जाना॥
आलम[८]-दुनी सकल फिरि आयो, ये कलश्क जिउहि न आना।
तजी[९]+करिगह जगत उचायो, मन महँ मन न समाना॥
कहँहिं कबिर जोगी औ जंगम, फीकी[१०] इन कि आसा।
रामहिंनाम[११] रटै जौं चात्रिक, निस्चै भगति-निवासा॥

टि०—[भक्ति-विचार]

१—मित्र, संगी। २—आत्मसमर्पण। भाव यह है कि बना कर बिगाड़ने और फिर बनाने वाले राम ही हैं, ऐसा समझ कर "राम रखे त्यौं रहिये"। 'हारिये न हिम्मत बिसारिये न हरीनाम', जेहि विधि रक्खै राम ताही विधि रहिये'। ३—स्मृति। ४—अहंकार से प्रमत्त हो जाते हैं। ६—जोगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, और दरवेश, आदिक वेषधारी षड् दर्शन (वेष) कहलाते हैं। ६—देहात्म-वादी आदिक नास्तिक-पाखंडियों के छिआनबे भेद हैं। ७—इन्हीं में से इस युक्ति (सच्ची भक्ति) को किसी ने नहीं जाना। ८—सारे संसार में। ६—करिगह=शरीरादि संघात। आत्म शुद्धि (संयम) छोड़कर अनेक पाखंडों में लग गये, परन्तु मन का निरोध नहीं किया। १०—अनात्म-रत होने के कारण। ११—जो नामोपासक समझ बूझ कर प्रेम-पादप को पल्लवित करने के लिये नाम की रटन लगाते हैं, उनको निश्चित रूप से प्रेम-लक्षणा भक्ति का आश्रय मिल जाता है।

---

*पाठा०—ग० प० ये कल उहै न जाना+ख प, ताही करिकै जगत उठावै।

(२७)

(भाइरे) अदबुदरूप[1] अनूप कथा है, कहौं तो को पतियाई[2]।
जहँ जहँ देखौं तहँ तहँ सोई[3], सभ घट रहल समाई॥
लछि[4] बिनु सुख दरिद्र बिनु दुख है, नींद बिना सुख सोवै।
जस[5] बिनु जोति रूप बिनु आसिक, (एसे) रतन बिहूना रोवै॥
भ्रम[6] बिनु गंजन मनि बिनु नीरख, रूप बिना बहु रूपा।
थिति[7] बिनु सुरति रहस बिनु आनँद, ऐसा चरित अनूपा॥
कहँहिं[8] कबीर जगत हरि मानिक, देखहु चित अनुमानी।
परिहरि लाखौं-लोग कुटुम सभ, भजहुँ न सारँग* पानी॥

टि०—[विश्वात्म-दर्शन, ज्ञान लक्षणाभक्ति]

१—अद्भुत—रूप। २—विश्वास करेगा। ३—आत्मदेव, राम। ४—वह [राम] बिना धन का सुख है। अथवा ज्ञानी को बिना प्राप्ति के सुख है और अज्ञानी को बिना खोये दुःख है। और उसको पाकर जीवन्मुक्त (समाधिस्थ) बिना नींद के सुख से सोते हैं "शेते सुखं करतु समाधि निष्ठः" (शंकराचार्य) ५—वह 'तत्व' बिना यश का प्रकाश है। और उसके ज्ञाता बिना ही रूप (आकर) के प्रेमी होते हैं। इसी रत्न के न मिलने से अज्ञानी लोग रोते रहते हैं। (सदा अप्रसन्न रहते हैं) ६—स्वरूप में भ्रम के बिना उसकी निवृत्ति होती है। और बिना ही मणि के परीक्षा (परख) होती है। और वह आत्म-देव बिना रूप के अनन्त रूप वाला है। ७—बिना देश की सुरति (चिन्तन) है। अथवा बिना आकार के स्थित है। और बिना लीला का आनन्द है। उसका ऐसा अद्वितीय और विचित्र चरित्र है। ८—कबीर साहब कहते हैं कि चित्त को शुद्ध करके सर्वत्र विद्यमान हरिरूप रत्न को देखो। आप लोग सांसारिक मोह

*पाठा०—क० पु० सालँग पानी।

ममता को छोड़ कर अभयकारक शार्ंग-पाणि (राम) को क्यों नहिं भजते हैं।

(२८)

(भाइरे)[1] गैया एक बिरंचि दियो है, (गैया) भार अभार भो भारी।
नौ नारी को पानि पियतु है, त्रिषा न तैयौ बुझाई॥
कोठा[2] बहत्तरि औ लौ लावे बज्र कँवार लगाई।
खूँटा गाड़ि दवरि द्रिढ़ बाधेउ तैयो तोरि पराई॥
चारि[3] ब्रिच्छ छव-साखा वाके, पत्र अठारह भाई।
एतिक लै गम कीहिसि गइया, गैया अति हरहाई॥
ई[4] सातो औरो है सातो नौ औ चौदह भाई।
एतिक गैया खाय बढ़ायो गैया तौ न अघाई॥
पुरता*महँ राती है गैया, सेत सींगि है भाई।
अबरन बरन किछौ नहिं वाके, खह अखहहिं खाई॥
ब्रह्मा[5] बिस्नु खोजि कै आये, सिव सनकादिक भाई।
सिध अनंत वाके खोज परे हैं, गैया किनहुँ न पाई॥
कहँहिं कबीर सुनहु हो संतो, जो यह पद अरथावै॥
जो यहि पद को गाय बिचारै, आगे होय निरबाहै॥

टीका

१—हे भाइयो! ब्रह्मा जी ने मनुष्यों के सर्व कार्यों की सिद्धि के लिये वाणी-रूप गैया दी है, अतः वाणी रूप गैया से परमार्थ-सिद्धिरूप दूध लेना उचित था, परन्तु तुम लोगों ने तो असद्वाणी का इतना प्रपंच कर दिया है कि उक्त वाणी रूपी गैया का धारण पोषण करना तुमको ही कठिन हो गया है, क्योंकि "गैया भार अभार भौ भारी"। बोलने से

*पाठा०—क० पु०—खुरतामहँ।

श्वासा वाणी में परिणत हो जाती है, अतः श्वासा को भी गैया कहते हैं। योगियों की वही श्वास रूपी गैया अभ्यास काल में "नौ नारी का पानी पियतु है।" अर्थात् नवों नाड़ियों में योगियों की इच्छा अनुसार भ्रमण करती है और नाड़ियों में नाना रस रूपी पानी को सदा पीती रहती है तब भी उसकी प्यास नहीं जाती।

नव नाड़ियो के नाम—ईडा (चन्द्रनाड़ी) पिंगला (सूर्यनाड़ी) सुषुम्णा (मध्य नाड़ी)। गान्धारी (दाहिने नेत्र की नाड़ी)। हस्ति जिह्वा (बायें नेत्र की नाड़ी)। पूषा (दाहिने कान की नाड़ी)। पयस्वनी (बायें कान की नाड़ी)। लकुहा (गुदानाड़ी) और अलम्बुषा [लिंग नाड़ी]। यद्यपि दशम नाड़ी शंखिनी नाभि स्थान में है, परन्तु वह श्वासा का मुख्य स्थान है, अतः उसको छोड़ कर नव कही हैं। इसलिये विरोध नहीं है।

२—इसके अनन्तर योगी लोग बहत्तर कोठों में प्राण-वायु को घुमा कर बज्र किंवाड़ लगाते हैं। (आँख, कान, नाक और मुख को विशेष प्रकार से बन्द करना बज्र-कपाट लगाना कहा जाता है। बज्र-कपाट लगाने के बाद "खूँटा गाड़ि दवरि द्रिढ़ बाँधेउ" प्राणों के आयाम से सहस्रार में ब्रह्म ज्योति का जो प्रकाश होता है वही खूँटा है, क्योंकि प्राणों की गति सहस्र-दल-कमल तक ही है। और यही स्थान ज्योतिः स्वरूप (निरंजन) का है, अतः यहीं तक योगियों की गति है। इसके आगे अष्टम सुरति कमल हैं जिसको सन्त-मत के अनुसार अभ्यास करने वाले प्राप्त करते हैं। समाधि लगाकर योगी लोग उसी खूँटे से श्वाँसा-रूप गैया को बाँध देते हैं, तथापि व्युत्थान काल में (समाधि खुलने पर) निरोध रूप रस्सी को तोड़कर वह गैया भाग जाती है। भाव यह है कि बिना स्वरूप-परिचय के केवल हठ-योग-द्वारा समाधि लगाकर योगी लोग मूर्छित-सर्प की तरह समाधि-काल में रहते हैं, पश्चात् व्युत्थान काल में उनकी भोग-वासनाएँ फिर जग जाती हैं।

अमली[२]-लोग खुमारी त्रिसुना, कतहुँ[३] संतोष न पावै।
काम क्रोध दोनौं मतवाले, माया[३] भरि भरि आवै*॥
ब्रह्म[४]—कलाल चढाइनि भाठी, लै इन्द्री रस चाहै।
संग[५] (हिं) पोच है ज्ञान पुकारै, चतुरा होय सो पावै॥
संकट सोच पोच यह कलिमहँ, बहुतक व्याधि सरीरा।
जहाँ धीर गंभिर अति निरमल+, तहँ उठि मिलहु कबीरा[६]॥

टि०—[ब्रह्म ज्योति-आदिक अनात्मोपासकों को उपदेश]

१—ज्योतिर्दर्शनाभिलाषी। २—अनात्म-व्यसनी। ३—मायारूप कलवारिन विषयों का प्याला भर भर कर पिलाती है। "यह माया जैसे कलवारिन मद्य पिलाय राखै बौराई। एक तो पड़ा धूल में लोटे एक कहै चोखी दे माई!" ४—रजोगुणरूप कलवार ने विषय-वारुणी की भट्टी चढ़ा रखी है। "काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः" (गीता)

५—कुत्सित—मन का संग नहीं छूटता, तिस पर भी मिथ्या-ज्ञान की पुकार लगाते रहते हैं।

६—ऐ अज्ञानियो! तुम लोग निश्चल-निजरूप का साक्षात्कार करो। कैसहुँके=बड़ी कठिनता से।

(३०)

(भाइरे) दुइ जगदीस[१] कहाँते आया, कहु कवने भरमाया।
अल्लह राम करीमा केसो, (हरि) हजरति नाम धराया॥
गहना एक कनक ते गहना, इनि महँ भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ करिथापिनि[२], इक निमाज इक पूजा॥
वही महादेव वही महंमद ब्रह्मा आदम कहिये।
को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जिमीं पर रहिये॥

---

*पाठा०—ख० पु० प्यावै। + निहचल।

बेद कितेब पढ़ैं वै कुतुबा[२] वै मोलना[४] वै पाँड़े[५]।
बेगरि[६] बेगरि नाम धराये एक मटिया के भाँड़े[७]॥
कहँहि कबिर वै दूनौं भूले, रामहिं किनहुँ न पाया।
वै खँस्सी[९] वै गाय कटाव बादहिं[१०] जन्म गँवाया॥

टि०—(राम और रहीम की एकता)

१—मालिक। २—मान लिया। ३—बहुत सी किताबें रखने वाले। ४—मौलाना। ५—पंडित। ६—अलग अलग। ७—बरतन। ८—हिन्दू और मुसलमान। ९—खँस्सी=बधिया बकरा। १०—व्यर्थ ही (फिजूल)।

(३१)

हंसा[१] संसै छूरी कुहिया, गैया (पियै) बछरुवहिं दुहिया॥
घर[२] घर सावज करै अहेरा, पारथ ओटा लेई।
पानी माँहिं तलफि गै भूँभुरि, धूरि हिलोरा देई॥
धरती[३] बरसै बादर भींजे, भींटि भये पौराऊ।
हंस उड़ाने ताल सुखाने, चहले बिन्धा पाँऊ॥
जौ[४] लगि कर डोलै पगु चालै, तौ लगि आस न कीजै।
कहँहिं कबिर जेहि चलत न दीसै, तासु बचन का लीजै॥

टीका

[प्रपंची गुरुओं की संगति का फल]

१—"हंसा संसै छूरी कुहिया"। कबीर साहब कहते हैं कि चिदाकाश में तथा निजानन्द-सागर में विहरने वाले हे हंसा [जीव] तू अनात्मक पदार्थों में उरझाने वाले प्रपंची गुरुओं की वाणी-रूपी जाल में फँस गया, इसी कारण तेरे कलेजे में संशय-रूपी छुरी लग गयी, अर्थात् कुसंग वश उलटा ज्ञान होने से तू प्रपंच में अनुरक्त हो गया है, अतः

नाना शोक सन्ताप संशय तुमको लग गये हैं। आकाश में उड़ने वाले को छुरी का लगना बड़ा आश्चर्य है। और भी अचरज देखिये कि "गैया पियै बछवनहिं दुहिया"। जब जीव प्रपंच में रत भया तब गैया [माया] ने बछरुवे [इस जीव] का ज्ञानरूपी दूध दुहकर पी लिया। "माया मोह मोहित कीन्हा। ताते ज्ञान-रतन हरि लीन्हा" (बीजक) अर्थात् प्रपंच में पड़कर जीव अज्ञानी हो गया।

२—यह भी एक अचरज ही है कि "घर घर सावज करै अहेरा" सावज = जंगली जानवर, (मन) सबों के हृदयों में ज्ञान वैराग्यादिकों का आखेट कर रहा है अर्थात् मन सबों को भटका रहा है, और जो पारथ = पारधी (वीर) जीव आत्मा है, वह असदुपदेश से नाना देवताओं की उपासना रूपी ओटा = आड़ में अपनी रक्षा के लिये छिपता है। और भी देखिये वंचक गुरुओं के उपदेश से जीवों की चित्त-वृत्ति रूपी मछली ऐसी हो गई है कि वह निजानन्द-रूप "पानी माँहि तलफि गई" अर्थात् परम शान्ति रूप ठंडा पानी उसको सन्तापकारी मालूम होने लगा। और जो भुँभुरी = धूर (त्रितापकारिणी विषय वासना) है उसमें हिलोरा लेने लगी अर्थात् आत्म-सुख से विमुख होकर विषय-संताप में पड़ गयी।

३—यह भी एक निराली ही बात है कि धरती [बुद्धि] जो धारण करने वाली है वह बरसती है; अर्थात् बुद्धि नाना मतों का निश्चय करती है। और बादर [अज्ञानी जीव] बरसने वाला उस पानी से भींजता है, अर्थात् जीव-आत्मा नाना मतों में अनुरक्त होकर उन्हीं को धारण करता है। और जो भींट—[ऊँची भूमि] जीवों के हृदय हैं, वे नाना संशय रूपी जल में बूड़ गये हैं, इस कारण "भये पौराऊ" अर्थात् तैरने लायक हो गये हैं। इस प्रकार अज्ञानता में पड़े हुए जीवों का जब अन्त-समय आया तब "हंस उड़ाने ताल सुखाने"। अर्थात् हंस (जीव) जब शरीर को छोड़ कर चला गया, तब ताल (शरीर) सूख गया। लोक में तो ताल सूखने के पश्चात् हंस उड़ते हैं, परन्तु यहाँ तो हंस के उड़ने से ही ताल

सूखता है, यह कैसी विचित्र बात है। हंस सूखे—ताल को छोड़कर उड़ तो गया परन्तु सरोवर का प्रेम, उसके हृदय से न गया, इस कारण दूसरे दूसरे विमल एवं परिपूर्ण सरोवरों के विकसित-कमल-वनों में स्वच्छन्द विहार के लिये उसको जाना पड़ा, इस अभिप्राय से यह कहा है कि "चहले बिंधा पाँऊ"। अर्थात् उक्त हंस का पैर उड़ते समय चहले=वासना—पंक में बिंधा=फँस गया, इसलिये पूर्ण स्वतन्त्र न हो सका। भाव यह है कि यह हंस (जीव) नाना भोगों में आसक्त होकर नाना योनियों में भ्रमण करता ही रहता है। जब तक सद्गुरु की शरण में आकर अपने शुद्धरूप को नहीं पहचानता है तब तक भव-चक्र नहीं छूटता है। 'हंसा सरवर तजि चला देही परिगौ सून। कहँहि कबीर बिचार कै तेइ दर तेई थून"।

४—अब विवेक की आवश्यकता और सद्गुरु का परिचय देते हैं कि 'जौ लगि कर डोलै परु चालै तौ लगि आस न कीजै। कहहिं कबिर जेहि चलत न दीसै तासु बचन का लीजै"। कबीर साहब कहते हैं कि हे भाइयो! दूसरे के प्रलोभन में आप लोग न पड़िये, क्योंकि यह जीव स्वयं कर्म करता है और स्वयं उनके फलों को भी भोगता है। एवं स्वयं अज्ञान वश संसार में भ्रमण करता है, तथा ज्ञान प्राप्त होने पर स्वयं मुक्त भी हो जाता है। इसलिये दूसरों की दिलाई हुई मुक्ति की आशा को छोड़कर पूर्ण प्रयत्न से ज्ञान के साधन विवेकादिकों को धारण करिये, जिससे कि ज्ञानोदय होने से निःसन्देह मुक्ति मिल सके। और नाना विडम्बनाओं में डालने वाले वंचक गुरुओं के वचनों को मत मानिये। जो स्वयं सत्य-मार्ग पर नहीं चलते उनके वचनों के मानने से क्या लाभ होगा? उचित तो यह है कि 'जैसी कहे करैं पुनि तैसी राग द्वेष निरुवारै। तामैं घटै बढ़ै रतियो नहि यहि बिधि आप सँभारैं। कहा हमार माँठि दृढ़ बाँधहु निसि बासर रहियो हुशियारा। ये कलिगुरु बड़े परपंची डारि ठगौरी सब जग मारा"। इस पद्य में भी श्लेष-घटित-द्रूप-रूपक अलंकार है। क्योंकि

हंस के साधर्म्य से हंस (जीव) में हंस का आरोप किया गया है। और "गैया पिये बछरुये दुहिया" इत्यादि स्थलों में विरोधाऽऽभास अलंकार है, क्योंकि सुनने में तो ये पद विरुद्ध से मालूम पड़ते हैं, परन्तु अर्थ समझने से विरोध हट जाता है।

(३२)

हंसा[1] हौ चित चेतु सकेरा[2], इन्हि[3] परिपंच कैल *बहुतेरा।
पाखँड रूप रचिन्हि इन्हि तिरगुन[4], तेहि पाखँड भूलल संसारा॥
घरके[5] खसम बधिक वै राजा[6], परजा का धौं करे बिचारा।
भगति न जानै भगत कहावै, तजि अम्रित बिष कैलिन्ह सारा[7]॥
आगे बड़े ऐसहि भूले, तिनहूँ न मानल कहा हमारा।
कहलि हमारी गाँठी बांधहु, निसुवासर रहियो हुसियारा॥
ये कलिगुरू बड़े परिपंची, डारी ठगौरी सभ जग मारा।
बेद कितेब[8] दुइ फंद पसारा, तेहि फंदे परु आपु बिचारा॥
कहँहि कबिर ते हंस न बिसरे, जेहिमा मिलन छुडावनि हारा॥

टि०—(शिक्षा और उद्बोधन)

१—हे हंस ! विवेकीजन ! २—जल्दी। ३—वञ्चक गुरुओं ने। कैल = किया है। ४—त्रिगुण-मत। "त्रैगुण्यविषयावेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! ५—वेद बाद-रत। "यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः" [गीता] ६—अज्ञानी। ७—सबों ने। ८—कुरान। (इस्लामी-किताबें)

(३३)

(सुनु) हंसा[1] प्यारे† सरवर[2] तजि कहाँ जाय।
जेहि सरवर बिच मोतिया[3] चुगत होते, बाहु बिधि केरिकराय[4]॥

---

*छन्द समान सवैया विशेष।

†पाठा—क० पु० कहहि कबिर तेहि हंस न बिसरो, जाहि मैं मिलौं छुड़ावनि हारा। जामे मिले छुड़ावनि हारा।

सूखे ताल[५] पुरइनि[६] जल छाँड़े, कवँल[७] गइल कुंभिलाय ।
कहँहि कबिर अबहीके बिछुरे, बहुरि मिलहु कब आय ॥

टि०—शरीर-वियोग (अन्तिम दृश्य)

१—हे जीव ! २—शरीर को । ३—ज्ञान । ४—केलि, विहार ५—शरीर । ६—नेत्र । ७—मुख । दूसरे पक्ष में यथाश्रुत 'सुन्दर तालाब, आदिक अर्थ है । यहाँ पर हंस पद श्लिष्ट है, अतः श्लेषोत्थापित रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार है ।

(३४)

हरिजन[१] हंस-दशा लिये डोलैं, निरमल नाम चुनी चुनि बोलैं ।
मुकताहल[२] लिये चौंच लभावैं, मौन रहैं की हरि-[३]जस गावैं ।
मानसरोवर-तट[४] के बासी, रामचरन चित अन्त उदासी ।
कागा[५] कुबुधि निकट नहिं आवैं, प्रतिदिन हंसा[१] दरसन पावैं ।
नीर[७]-छीर का करै निवेरा,कहँहिं कबिर सोई जन मेरा*

टि०—(निज-भक्तों के लक्षण तथा हंस स्थिति)

१—हंस स्थिति हंस-अवस्था । २—मोती, ज्ञानादिक-सद्गुणों की प्राप्ति के लिये अपनी वृत्तिरूप चौंच को लभावैं=फैलाते हैं । ३—हरि-गुन । ४—शुद्ध-मन रूप सरोवर के तट में निवास करते हैं । ५—कुबुद्धि रूप कौवे उनके समीप नहीं जाते । ६—विवेकियों का समागम हुआ करता है । ७—सत्यासत्य का । "साधु सन्त तेई जना (जिन) मानल बचन हमार" ।

(३५)

†हरिमोरा पीऊ[१] मैं रामकी बहुरिया[२], राम बड़ो मैं तनकि लहुरिया[३] ।

* यह चौपाई छन्द है । † मात्रिक दण्डक छन्द ।

हरि मोरा[1] हौं रतन[5] बिहरिया, हरिके नाम लोभ[2] कातिक[3] हुलिया
छव[4] मास लाग, कबिरा[5] दिस कुकुरी, तोगवलैं भल कातल बजुरी।
कहँहि कबीर सूत भल काता, चरखा[6] न होय मुकुति के दाता।

टि०—[नामोपासकों की धारणा]

१—प्यारा (पति)। २—दुलहिन। ३—बहुत-छोटी। ४—चस्खा। ५—अच्छी पिउनी (पूनी)। ६—छः महिने के सादर और निरन्तर (राम-नाम के जप रूप) अभ्यास से बाह्य-वृत्तियों की क्षीणता और आन्तर-वृत्तियों का सन्धान रूप-तागा सूत, बना। ७—और इसी प्रकार एक वर्ष के अभ्यास से आन्तर-वृत्ति-प्रवाह, तथा धारणा, ध्यान और समाधिरूप कुकुरी=सूतकी अंटी, तैयार हुई।। ८—जप-योग। ९—बिना ज्ञान के केवल नाम-रटन से मुक्ति नहीं होती। "बिनु देखे बिनु अरस परस बिनु नाम लिये का होई धन के कहे धनिक जो होवै निरधन रहै न कोई" (बीजक)।

(३६)

हरिठग[1] जगत ठगौरी लाई, हरिबियोग कस जियहु रे भाई।
(को) काकोपुरुषक्रवन का कि नारी, अकथकथा[2] जम दिष्टिपसारी
(को) काको पुत्र कवन का को बापा, को रे मरै को सहै सँतापा॥
ठगि ठगि मूल[3] सभनि को लीन्हा, रामठगौरी[4] काहुँ न चीन्हा।
कहँहि कबिर ठग सों मन माना, गई[5] ठगौरि जब ठग पहिचाना॥

टि०—[मोह-जाल]

१—हरिरूप-धन को ठगने वाला 'मन'। २—मनरूप यमराज ने अपनी क्रूर दृष्टि फैला रखी है। ३—पूञ्जी ज्ञान। ४—रामठग मनकी ठगौरी=ठगपन को। ५—जब ठगको पूरी तरह पहिचान लिया तब उसका ठगपन जाता रहा।

---

*पाठा०—सत।

भावार्थ—जिस प्रकार ठग को पहिचान लेने से मनुष्य उससे सचेत रहता है, इसी प्रकार मन की प्रतारणाओं को जान लेने से आत्मधन को बचा सकता है।

(३७)

हरिठग ठगत सकल-जग डोलै, गवन[1] करत मोसे मुखहुँ न बोलै।
बालापन के मीत[2] हमारे हमहीं तजि कहँ चलेउ सकारे[3] ॥
तुह अस पुरुष, हुँ नारि तुहारी, तुहरि चालि[4] पाहनहुँते भारी।
माटिक[5] देह पवनके सरीरा, हरिठग-ठग से डरहिं कबीरा॥

टि० [प्राण-वियोग]

१—(काया और प्राण-पुरुष का सम्वाद) (सूक्ष्म-शरीर में मन और प्राणों की प्रधानता होती है) जिन प्राणों की पुष्टि और तुष्टि के लिये हरि-भक्ति को भी जलांजलि देनी पड़ी थी, वे प्राण चलते समय मुख से बोले तक नहीं। २—मित्र। ३—सबेरे, जल्दी। ४—दशा, हृदय-की स्थिति। ५—जिस प्रकार मिट्टी को छोड़कर पवन चला जाता है, इसी प्रकार स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर चला जाता है। ६—हरि-भक्ति से विमुख कराने वाली इस प्राण-प्रीति और मन की प्रीति रूप ठगनी (ठग) से उपासक, हरि-भक्त सदैव डरते रहते हैं।

भजन—"चल दिये प्रान काया रहै रोई। चल दिये प्रान। मैं जानौं यह संग चलेगी तेहि कारन काया मल मल धोई"। चल दिये प्रान।

(३८)

हरि[1] बिनु भरम-बिगुरचै गंदा।
जहँ जहँ गयो अपनपौ[2] खोयो, तेहि[3] फंदे बहु फंदा॥
जोगी कहैं जोग है नीको, दुतिया अवर न भाई।
चुंडित[4] मंडित मौनि जटाधर, तिनहुँ कहाँ सिधि पाई॥

ज्ञानी गुनी सूर[१] कबि दाता, ई जो कहँहिं बड़ हमही।
जहँ[२] इसे उपजे तहँहिं समाने, छूटि गयल सभ[६] तबहीं॥
बाँधे[८] दहिने तजो बिकारा, निजुकै[९] हरिपद गहिया।
कहँहिं कबिर गूंगे गुर खाया, पूछे से का कहिया[१०]॥

टि०—[गुरु-पद]

१—अज्ञानी लोग हरि (सर्व-पाप-हारी निज पद) से विमुख होकर अपावन भ्रम-पंक में फँस जाते हैं। २—अपने आपको (स्वरूप को) ३—भ्रम के फन्दे में। ४—शिखाधारी। ५—वीर। ६—माया से। ७—सारा अहंकार जाता रहा। ८—अपमान और मान के भाव को। और वाम-मार्ग तथा दक्षिण मार्ग को। एवं-ईडा और पिंगला के चक्र को। ९—अपना (कल्याण कारक) समझ कर (पूरी तरह)। १०—हरि-पद (गुरु पद) प्राप्ति का परमानन्द स्वसंवेद्य है, अतः कहने में नहीं आ सकता है।

(३६)

ऐसे हरिसों जगत लरतु है, पंडुर कतहूँ गरुड़ धरतु है।
मूँस[२] बिलाई कैसनि हेतू, जँमुक करै केहरि सों खेतू॥
अचरज[३] इक देखहु संसारा, सुनहा खेदे कुंजल असवारा।
कहँहिं[४] कबीर सुनहु संतो भाई, इहै संधि काहु बिरले पाई॥

टीका

(आत्म-विमुखता)

१—माया के फन्दे में पड़े हुए संसारी लोग सर्वान्तरात्मा और आनन्द-घन ऐसे हरि (सर्व कष्टों को हरण करने वाले, निजानन्द) से "लरतु है" अर्थात् वंचित हो रहे हैं। (अलग हो रहे हैं) इतना ही नहीं, हरि का साक्षात् करने वाले महात्मा तथा भक्त जनों से भी संसारी लोग लड़ते झगड़ते रहते हैं सो "पंडुर कतहूँ गरुड़ धरतु हैं" क्या पांडुर (जल का सर्प) गरुड़ को पकड़ सकता है ? कभी नहीं। अर्थात्

संसारी लोग ज्ञानी तथा भक्तों को अपने लक्ष्य से विचलित नहीं कर सकते हैं।

२—अब बतलाया जाता है कि:—अज्ञानी लोग वंचक-गुरुओं से तो प्रेम करते हैं, और सत्य उपदेश देकर पाखंडों से हटाने वाले गुरुओं से वैर करते हैं ये दोनों ही बातें अनुचित हैं। "मूस बिलाई कैसन हेतु"। अर्थात् बिलाई (वंचक गुरु) मूस=अज्ञानियों के हितकारी कैसे हो सकते हैं, क्योंकि वे तो स्वार्थवश उनसे प्रेम करते हैं। और "जम्मुक करै केहरि सों खेतू"। अर्थात् केहरि के समान निर्भय ज्ञानी-पुरुष तथा भक्त जनों का जम्बुक के समान भय-कातर अज्ञानी लोग क्या पराभव कर सकते हैं? कदापि नहीं!

३—संसार में यह तो एक बड़ा भारी अचरज है कि "सुनहा खेदै कुंजर असवारा"। हाथी के सवार ज्ञानी-पुरुष एवं भक्तों को कुकुर के तुल्य संसारी-लोग डराते हैं, अर्थात् नाना प्रकार की आपत्तियाँ उपस्थित करते हैं,

४—कबीर साहब कहते हैं कि सन्तो! आप सुनिये "यह सन्धी काहु विरले पाई" हरि का सच्चा परिचय तो किसी किसी को मिला है। अधिक लोग तो हरि-ठगों के फन्दों में ही पड़े हुए हैं। नोट—इसमें विरोधाभास अलंकार है। लक्षण—भासे जबै विरोध को, यहै विरोधाभास। (भाषा-भूषण)। इस प्रसंग में यह कैसा अच्छा भजन है कि—

तूँ तो राम सुमिर जग लड़ने दे॥ टेक॥
कोरा कागज कारी-स्याही, लिखत पढ़त वाको पढ़ने दे॥ तूँ तो०॥
हस्ती चलत है अपनी गति से कुतवा भूँकै वाको भूकने दे।
देवी देवा भूत-भवानी पथर पूजै वाको पुजने दे।
कहँहि कबीर सुनो भाई साधो! नरक पड़े वाको पड़ने दे।

(४०)

पंडित बाद[1] बदै सो झूठा।
राम[2] कहे जो जगत गति पावै, (तब) खाँड कहे मुख मीठा।
पावक कहे पाँव जो डाहै, जल कहे त्रिषा बुझाई।
भोजन कहे भूख जो भाजै, तो[3] दुनिया तरिजाई।
नलके सग* सुवा हरि बोलै, हरि-परताप न जानै।
जो कबहूँ उड़िजाय जँगल महँ, तो हरि सुरतिन आनै।
बिनु देखे बिनु अरस परस बिनु, नाम लिये का होई।
धन के कहे धनिक जो होई, निर-धन रहै न कोई।
साँची प्रीति ×विषय माया से, हरि भगतन की फाँसी+।
कहँहिं कबिर एक राम[4] भजे बिनु, बाँधे जमपुर जाँसी[5]।

टि०—[अन्ध विश्वास]

१—वाद-विवाद (झगड़ा) २—राम-परिचय के बिना केवल राम-नाम के कहने से। ३—यदि यह असम्भव-परम्परा सम्भवरूप को धारण करले तो बिना जाने हुए राम-नाम के जपने से भी सारी दुनिया संसार सागर से पार हो जाये। ४—राम रमैया राम के स्वरूप परिचय के बिना। [आत्म-साक्षात्कार के बिना]। ५—जाता है।

भावार्थ—"नाम न लिया तो का हुआ जो अन्तर है हेत।
पतिबरता पति को भजै कबहुँ नाम नहिं लेत॥ (अंग साखी)

(४१)

पंडित देखहु मन महँ जानी।
कहुँधौं[1] † छूति कहाँ ते उपजी, तबहिं छूति तुम मानी॥

---

*क० पु० नलके साथ। ×ख० पु० हेतु। +ख० पु० हाँसी। † क० पु० कहु दहुँ।

नादे[२] बिन्दे रुधिर के संगे, घटही महँ घट सपचै।
अस्ट[३]-कवँल होय पुहुमी आया, छूती कहाँते उपजै ?
लख[४] चौरासी नाना बासन, सो सभ सरि भौ माँटी।
एकै[५] पाट सकल बैठाये छूति लेतधौं काकी* ?॥
छूतिहि जेवन छूतिहि अँचवन, छूतिहि जगत उपाया।
कहँहि कबिर ते छूति-बिबरजित, जाके संग न माया॥

टि०—[छूवा-छूत विचार]

१—भला कहिये तो सही। २—पवन वीर्य और रज के सम्बन्ध से गर्भाशय में गर्भ रहता है, अनन्तर वह क्रमशः फेन बुद्बुद कलल और पेशी रूप को धारण करता हुआ शरीर रूप में परिवर्तित होकर, सपचै= बढ़ता है। ३—पश्चात् पूरा समय होने पर मणि पूरक नाम वाले अष्ट-दलकमल (नाभी चक्र के नीचे रहने वाले गर्भ) से बालक पृथिवी पर आता है। सब मनुष्यों के जन्म का यही प्रकार है, इस दशा में यह प्रश्न स्वाभाविक ही होता है कि, "यह अनोखा छूवाछूत का भूत कहाँ से पैदा हुआ है" ? ४—चौरासी-लाख-योनियों में बटे हुए प्राणियों के विविध शरीर रूपी अनेक बर्तन, सड़ गलकर मिट्टी बन गये हैं। ५—ईश्वर ने अपने सब पुत्रों को एक ही (पृथ्वी रूप) पीढ़े पर बैठाया है। भला अब बतलाइये आपमें से कौन सा भाई अछूत है ६—यदि तत्वतः शौचा-शौच का निर्णय करते हैं तो सब पदार्थों की उत्पत्ति आदि का विचार तटस्थ हो कर करिये। ७—हाँ यदि छूत से कोई बचा हुआ है तो केवल वह है जिसके साथ माया नहीं है।

भावार्थ—हरि-चरणों में उत्पन्न हुए भाइयों को निष्कारण अछूत मानना हरि के चरणों का भारी तिरस्कार करना है।

---

*पाठा०—ख० स्पु० सींचि लेत धौंकाटी।

(४२)

पंडित सोधि[1] कहहु समुझाई, (जाते) आवागवँन नसाई।
अरथ[2] धरम अरु काम मोच्छ फल, ॐ कवन दिसा बस भाई॥
उतर कि दच्छिन पुरुब कि पच्छिम, सरग पताल कि माँहीं।
बिनु[3] गोपाल ठवर नहिँ कतहूँ, नरक[4] जात धौं काहे॥
अनजाने[5] को सरक नरग है, हरि जाने को नाहीं।
जेही डरते भवलोग डरतु हैं, सो डर हमरे[6] †नाहीं॥
पापपुन्न की संका नाही, सरग नरक नहि जाहीं।
कहँहिँ कबीर सुनहु हो संतो, जहँ पद[7] तहाँ समाहीं॥

टि०—[ज्ञानियों की स्थिति]

१—खूब समझ कर। २—लोक विशेष में जाने वाले ही मुक्त होते हैं, ऐसा मानने वालों से यह प्रश्न है। ३—यह तो केवल आप लोगों का कथन मात्र ही है कि "बिनु गोपाल ठवर नहि कत हूँ"। ४—यदि सचमुच ही ऐसा है तो भला बतलाइये? कि "नरक जात धौं काहे" ५—वस्तुतः बात यह है कि " अन जाने को सरग नरक है" इत्यादि। ६—अपरोक्ष ज्ञानियों को। "मगहर मरै सो गदहा होय। भल परतीति राम सों खोय। मगहर मरै मरन नहि पावै। अनते मरै तो राम लजावै। का कासी का मगहर ऊसर, (जोपै) हृदय राम बसै मोरा। जो कासी तन तजै कबीरा रामहिं कवन निहोरा"। ७—अमर-पद, अमर-लोक, स्वरूप। " तस्यायमात्माऽयं लोकः एतमेव लोकमभीप्सन्तः प्रव्राजिनः प्रव्रजन्ति"

"ज्ञान-अमर- पद बाहिरे नियरे ते है दूरि।
जो जानै तेहि निकट है, रहा सकल-घट पूरि"।
"अमर-लोक-फल लावै चाव कहैं कबीर बुझै सो पाव" (बीजक)

पाठा०—ग० पु० कहु क० घु० सभ। †क० पु० सो डर हमन डराहीं

"बद्धो मुक्त इति व्याख्या गणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्यमायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्"। (भागवत)
इस प्रकार ज्ञात होने पर स्वरूप में स्थित हो जाते हैं।

(४३)

पंडित मिथ्या करहु बिचारा, (नवहां[१]) सिस्टि न सिरजनिहारा।
थूल (अ) स्थूल पवन नहिं पावक,[२] रवि ससि[३] धरनि न नीरा॥
जोति-सरूप-काल[४] नहि उहवाँ, बचन न आहि[५] सरीरा।
करम धरम किछुबो नहिं उहवाँ, ना वहँ मंत्र न पूजा॥
संजम सहित भाव नहिँ उहवाँ, सो धौं[६] एक कि दूजा।
गोरख राम[७] एकौ नहिँ उहवाँ, ना वहँ बेद[८]-बिचारा
हरि हर ब्रह्मा नहिँ सिब सक्ति ना वहँ तिरथ अचारा।
माय बाप गुरु जाके नाहीं, सो (धौं) दूजा कि अकेला॥
कहहिं कबिर जो अबकी[९] बूझै, सोइ गुरू[१०] हम चेला॥

टि०—(स्वरूप स्थित एवं तत्व-विचार)

१—निज-पद, स्वरूप में। २—अग्नि। ३—चन्द्रमा। ४—निरञ्जन (मन) ५—है। ६—भला ऐसी स्थिति में उसको एक कहा जाय या दो। भावार्थ—वह न द्वैत है न अद्वैत है क्योंकि ये दोनों सापेक्ष हैं और वह तत्व" निरपेक्ष है ७—आदिराम [अवतार] ८—'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह"। ९—नर-तन पाकर। "मानुष-जन्म हि पाय नर काहे को जहँड़ाय"। १०—इस कथन से ज्ञाता की श्रेष्ठता और वक्ता की अधीनता सूचित होती है। यह असाधारण उपदेशकों का परम गुण है। "दादा भाई बाप कै लेखा, चरनन होहहौं बन्दा। अब की पुरिया जो निरुवारे सो जन सदा अनन्दा"।

(४४)

बूझहु[१] पंडित करहु बिचारा, पुरुष है की नारी (हो)
ब्राह्मन के घर ब्राह्मनि होती, जोगी के घर चेली (हो)

कलमा पढ़ि पढ़ि भई तुरुकनी, कलिमहँ रहित अकेली (हो)
बर[१] ना बरै ब्याह ना करई, पुतजनमावनिहारी* (हो)
कारे मूँड़को† एक न छाँडै, अजहूँ आदि कुँवारी (हो)
मैके रहै जाय नहिं ससुरे, साँई सग न सोवे (हो)
कहँहिं कबिर वे जुग जुग जीवैं, जाति पाँति कुल खोवैं (हो)

टीका

(अनोखी नारी)

१—हे पंडितो ! आप लोग इस बात को समझिये और खूब विचारिये कि यह माया पुरुष है या स्त्री है। इसकी प्रबलता से तो यही मालूम होता है कि यह पुरुष ही है, क्योंकि इसने सारे संसार को बाँध रक्खा है "बाँधे ते छुटे नहीं ज्ञानी।

२—इसकी अघटित-घटनाओं का थोड़ा सा परिचय मैं आपको देता हूँ "ब्राह्मण के घर ब्राह्मणी होती, जोगी के घर चेली'। इस माया ने अपराविद्या (वेदादि विद्या) रूप से तो ब्राह्मणों के हृदयागारों को हस्त-गत कर लिया है। भाव यह है कि अधिकतर ब्राह्मण लोग अपराविद्या (कर्मकांडादिकों) के अहंकार में पड़ कर आत्मविद्या से वंचित रह जाते हैं और चेली (दश मुद्रा तथा कुंडलिनी) बन कर योगियों के चित्तों को लुभा लिया है।

भावार्थ—यह है कि योगी लोग कुंडलनी को सुधारने तथा मुद्राओं को सिद्ध करने की ही धुन में सदा लगे रहते हैं, आत्म-चर्चा सुनने का तो उनको अवसर ही नहीं मिलता है। और भी देखिये कि यह माया तुरुकों के घरों में कलमा पढ़ कर तुरुकनी बन कर बैठ गई है। भाव यह है कि निकाह के समय मुसलमान लोग वर वधू को कलमा पढ़ाते हैं, स्त्री माया रूप है ही, अतएव मानों माया ही मुसलमानों को वश में

---

*पाठा०—पुत्र जन्मावति हारि। †कारे मूँड कौवो नहि छोड़ै।

करने के लिये कलमा पढ़ कर तुरुकनी बन बैठी है। इस प्रकार सारे संसार को अपने फन्दे में फाँसती हुई भी "कलि में रहति अकेली"। स्वयं निर्बन्ध होकर बिचरती है। कलि अधर्म-प्रधान युग है इसलिये 'कलि' में कहा है।

३—यह माया रूपी स्त्री तो ऐसी नटखट है कि वर (श्रेष्ठज्ञानियों को) नहीं बरती है, अर्थात् ज्ञानियों से सगाई (लगन) नहीं जोड़ती है। और शुद्ध चेतन से विवाह भी नहीं करती है। इस प्रकार आपाततः विमला होने पर भी यदि सूक्ष्म.दृष्टि से इस माया के चरित्रों का निरीक्षण किया जाय तो स्पष्ट ही यह विदित हो जाता है कि यह माया तो "पुत्र जनमावत हारी" अर्थात् माया चेतन की सत्ता से शवलित जीवेशों को तथा प्रपंच को बार बार पैदा करती करती थक सी गयी है। यह माया की गुप्त लीला है, जिसको ज्ञानी ही जानते हैं। माया के और और चमत्कारों को सुनिये, इस माया ने सब ही अज्ञानियों को वश में कर लिया है एक भी काले मूंड को (अज्ञानी को) नहीं छोड़ा, तौ भी आद्या शक्ति माया अब तक अविवाहिता (कुमारी) ही बनी हुई है। भाव यह है कि माया ने सबों को वश में कर लिया है, परन्तु माया को किसी अज्ञानी ने पति बन कर अधीन नहीं किया "पूरा किनहु न भोगिया इसका यही वियोग।" क्योंकि चींटी से ब्रह्मा पर्यन्त संसार तो माया ही का पुत्र (कार्य) है; अतः ये सब माया के पति किस तरह बन सकते हैं।

४—कबीर साहब कहते हैं कि यह माया मैके=नैहर (संसार) में ही रहती है। और ससुरे (निजपद, आत्मपद) में तो पैर भी नहीं देती है। और यदि किसी प्रकार ससुराल में चली भी जाय; अर्थात् चेतन को शवलित कर भी ले, तौ भी "सांई संग न सोवै" सांई=शुद्ध चेतन में तो ज्ञान के बिना माया का लय कदापि नहीं हो सकता है।

अब माया के फन्दे से छूटने का सर्वोतम साधन बताते हैं। जो जाति, विद्यादि और कुलादिकों के अहंकार को छोड़ देते हैं; और स्वरूप

के लिये सतत-प्रयत्न करते हैं; वे निज रूप का साक्षात्कार करके "युग युग जीवै" अर्थात् सदैव अमर (जीते) रहते हैं। थोड़े काल के लिये अमर तो देवता भी हो जाते हैं; इसलिये 'युग युग' (सदैव) पद दिया है।

(४५)

को[1] न मुवा कहो पंडित जना सो समुझाय कहौ मोहिसना[2]*
मूये ब्रह्मा[3] बिस्नु महेसा पारबती-सुत मुये गनेसा।
मूये चद मुये रवि ऐसा मुये हनुमत[4] जिनि बाँधल सेता।
मूये क्रिस्न मुये करतारा[5] एक न मुवा जो सिरजनि[6] हारा।
कहँहिं कबीर मुवा नहि सोई[7] जाके आवा गॅवन न होई।

टि०—(मृत्यु विचार)

१—यहाँ पर 'को न' ऐसा भिन्न-पद-पाठ (अलग अलग पाठ) प्राचीन लिखित पुस्तकों में है। २—मुझसे। ३—इन्हींका अधिकारावसान रूप ही मरण है। "अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परम्पदम्"। ४—सेतु-बन्ध में पूरे सहायक थे। ४—गुणाभिमानी, कर्तापने का अहंकार रखने वाले। "यः कर्ता स एव भोक्ता"। "अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते (गीता) ६—सत्तामात्र से सर्जन आदिक व्यवहार कराने वाला (शुद्ध—चेतन) ७—उक्त आत्म-तत्व को साक्षात्कार करने वाला, मुक्त—पुरुष।

(४६)

पंडित अचरज एक बड़ होई।
एक[1] मरे मुवले अन नहिं खाई, एक[2] मरे सिझै रसोई।
करि सनान देवन की पूजा, नौ गुनि[3] कान्ध जनेऊ।
हड़िया हाड़ हाड़ थरिया मुख, अब[4] षट करम बनेऊ।

---

*पाठा०—स्याना।

धरम[1] कथै जहँ जीव बधै तहँ, अकरम करे मोरे भाई।
जो तोहरा को ब्राह्मन कहिये, (तो) काको कहिये कसाई[2]।
कहँहिं कबीर सुनहु हो संतो, भरम भूलि दुनियाई।
अपरमपार[3] पार परसोतिम, या गति बिरलै पाई।

टि०—(मांसाहारी ब्राह्मणों से प्रश्न)

१—घर के आदमी के मरने पर। २—बकरे आदि को मार कर विधि पूर्वक रसोई [भोजन] बनाई जाती है। ३—अहिंसा अक्रोध आदिक नवगुणी जनेऊ (यज्ञोपवीत) कन्धे पर धारण करते हुए भी ऐसा घृणित कार्य करते हैं यह आश्चर्य है। ४—इस कर्म से आपके षट्कर्मों की बड़ी प्रतिष्ठा हुई यह, काकू (परिहास-वचन) है। ५—धर्म की प्रधानता होने ही के कारण जिस यज्ञ की संज्ञा ही 'धर्म' हो गई है, "तत्र यागादि-रेवधर्मः" (मीमांसा) उसी परम पवित्र यज्ञ में आप लोग पशु-बध रूप महापाप करते हैं। अथवा धर्म स्थानों में हिंसा रूपी अधर्म किया जाता है। ६—"जीवत जिय मुरदा करै करमहिं भया कसाय।" (साखी संग्रह) ७—निर्लेप-आत्मदेव सब विकारों से रहित है। उसका परिचय किसी विरले को होता है।

भावर्थ—"जिभ्या स्वाद के कारने (नर) कीन्हे बहुत उपाय"

(४७)

पाँड़े बूझि[1] पियहु तुम पानी।
जिहि-मटिया के घर महँ बैठे, ता महँ सिस्टि समानी।
छपन कोटि-जादव जहँ[2] भीजे, मुनिजन सहस-अठासी।
पैग पैगंबर* पैगंबर गाडे, सो सभ सरि भौ माँटी।
तेहि मटिया के भाँड़े पाँड़े, बूझि पियहु तुम पानी।
मच्छ कच्छ घरियार बियाने, रुधिर नीर जल भरिया।

*पाठा०—क० पु० परग परग पैगम्बर।

नदिया नीर नरक बहि आवै, पसु मानुष सभ सरिया।
हाड़[१] झरी झरि गूद गरीगरि,[२] दूध कहाँते आया।
सो लै पाँडे जेंवन बैठे, मटियहिं[५] छूति लगाया।
बेद कितेब छाँड़ि[६] देहु पाँड़े, ई सभ मन के भरमा।
कहँहिं कबीर सुनहु हो पाँड़े, ई सभ तुहरे[७] करमा।

टि०—[जल-विचार]

१—हे पंडित ! आप जाति पूछ कर पानी पीते हैं, परन्तु तत्त्वों के स्वरूपों (स्थितियों) का विचार नहीं करते हैं। २—जिस पृथ्वी में गल कर सड़ गये। पैग पैग=पैंड़। २ में। ३—जिस प्रकार गो-माता का दूध अस्थि और मज्जा को स्पर्श करता हुआ निकलता है; परन्तु अपनी श्रेष्ठता के कारण अपवित्र नहीं हो सकता है; इसी प्रकार धरती (पृथ्वी) माता भी किसी मनुष्य के केवल छू देने से अपवित्र नहीं हो सकती है। ४—गली गली रास्ते रास्ते। ५—पृथ्वी में। ६—अपने सजातियों की लगाई हुई छूआ छूत को सिद्ध करने के लिये वेदों के प्रमाण देना छोड़ दीजिये; क्योंकि यह नवीन छूवा छूत लीला आप लोगों के मन की कल्पना है। वेद में तो "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" इत्यादि मंत्र से एक ही पिता से सबों की उत्पत्ति का विधान है। ऐसी स्थिति में किसी भाई को निष्कारण (जन्मना) नीच ठहराने का आपको क्या अधिकार है। ७—वैदिक-विचार से तो यही ज्ञात होता है कि, ये सब आप ही लोगों की करतूतियाँ हैं।

भावार्थ—आप लोग अग्रजन्मा अर्थात्, सब लोगों के बड़े भाई हैं, इस कारण स्वाश्रित छोटे भाइयों को गले से लगाना और, उनकी शिक्षा और दीक्षा के लिये सदैव सतर्क रहना, आप सबों का परम-धर्म्म है "एतद्देश-प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः"। (मनु०)

(४८)

पंडित देखहु हृदय बिचारी, को[1] पुरुषा को नारी।
सहज[2] समाना घट घट बोलै, वाके चरित अनूपा॥
वाको नाम हंस कहि लीजै, (ना)*वाके बरन न रूपा।
तैं मैं काह करसि नल बौरे, का तेरा का मेरा॥
राम[3] खोदाय सकति सिव एकै, कहुधौं काहि निहोरा।
बेद[4] पुरान कुरान कितेबा, नाना भाँति बखाना॥
हिंदू तुरुक जइनि औ जोगी, ये कल काहु न जाना।
छय-दरसन[5] महँ जो परवाना, तासु नाम मन माना॥
कहँहिं कबिर हमहीं पै बौरे, ई सभ-खलक सयाना।

टि०—[आत्म विचार]

१—आत्मा न पुरुष है न स्त्री है। "हंस न नारी न पुरुष है" २—सबों में एक रूप से व्यापक (विद्यमान) है। ३—एक ही 'तत्व' के राम खुदा, शिव और शक्ति आदि अनेक नाम हैं। अज्ञानता के कारण उक्त व्यक्तियों में स्व स्व मतों के अनुसार हीन और श्रेष्ठ बुद्धि करते हुए उन्हीं की प्रसन्नता के लिये निहोरा=स्तुति किया करते हैं। ४—उसी एक तत्व का वर्णन वेदादिक नाना ग्रन्थों में नाना प्रकार से है। इस बात को अविवेकी (लड़ाकू) हिन्दू और मुसलमान वगैरह नहीं समझते हैं। सुनिये "रुचीनां वैचित्र्याद्ऋजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव" (शिवमहिम्न स्तोत्रम्) तथान्यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः। अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः सोऽयं वो विदधातु मोक्षपदवीं त्रैलोक्यनाथो हरिः। ५—जोगी जंगम से बड़ा संन्यासी दरवेश। छठहे कहिये ब्राह्मन छौ घर छौ उपदेश" ये छः दर्शन (वेष धारी) कहलाते

*पाठा०—क, पु, वह।

हैं। ये लोग स्व स्व मतानुसार कल्पित 'पशुपति' आदिक नामों को प्रामाणिक मानते हुए औरों से झगड़ते रहते हैं। ६—कबीर साहब कहते हैं आप सब विजयी रहिये, पराजय को मैं अपनाता हूँ।

(४६)

बुझबुझ पंडित पद निरबान, साँझ[1] परे कहवाँ बस भान[2] ❀।
उँच[3] निच परवत ढेला न ईंट, बिनु गायन तहँवा[4] उठे गीत॥
ओसन प्यास मंदिल नहिं जहँवा, मह्सौं[5] धेनु दुहावहिं तहँवाँ।
नितै अमावस[6] नित संक्राँती, निति निति नव-ग्रह[7] बैठे पाँती।
मैं[8] तोहिं पूछौं पंडित-जना, ह्रिदया[9]-ग्रहन लागु केहि खना।
कहहिं कबिर एतनौ[10] नहिं जान, कवन-सबद गुर लागल कान॥

टि०—[आत्मा की ज्ञानरूपता का वर्णन]

इस पद्य में रूपकातिशयोक्ति से सूर्यास्त-वर्णन के द्वारा अनात्म-ज्योतियो का खंडन और आत्म-ज्योति (स्व-प्रकाश) का मंडन किया गया है। १—सांझ पड़ने पर। और दूसरे पक्ष में शरीरान्त होने पर। २—सूर्य। और दूसरे पक्ष में ब्रह्म-ज्योति का प्रकाश रूपी सूर्य। ३—हठ योगियों का उत्तर। ४—ब्रह्मांड में अनाहत शब्द होते हैं। ५—सात्विक-वृत्तियों का सत्व-प्रस्रवण होता है। ६—सुषुम्णा नाड़ी के उदय होने से ईड़ा और पिंगला का लय हो जाता है इस कारण "नितै अमावस नित संक्राँती" कहा है। ७—नव द्वार। ८—सद्गुरु का कथन (प्रत्युत्तर)। ९—तुम्हारे हृदय में उक्त अज्ञानता रूपी ग्रहण कब से लगा है। १०—भौतिक प्रकाश (ब्रह्म-ज्योति) और भौतिक-शब्द (अनाहद शब्द) भूतों के सम्बन्ध से ही होते हैं। फलतः पंचत्व प्राप्ति के अनन्तर दोनों ही लीन हो जाते हैं। उक्त दोनों पदार्थों के विलीन होने पर भी जिस सूर्य का प्रकाश अम्लान रूप से विद्यमान रहता है वह "आत्म-भानु" है, उसी के

❀पाठा०—क० पु० घाम। अर्थ—घाम=धूप, (ज्योतिः प्रकाश)

दर्शन से निर्वाण-पद मिलता है। तुम्हारे गुरु का वह उपदेश किस काम का है जिससे इतना भी बोध न हो सका।

(५०)

बुझ[1] बुझ पंडित बिरवा न होय, आधे (बसे पुरुष आधे बसे, जोय।
बिरवा[2] एक सकल संसारा, सरग सीस जरि गयल पतारा॥
बारह[3] पँखुरी चौबिस पात, घन-बरोह लागे चहुँ पास।
फुलै[4] न फरै वाकी है बानी, रैनि दिवस बिकार चुवे पानी॥
कहँहिं[5] कबिर किछु अछलो न तहिया, हरिबिरवाप्रतिपालिनिजहिया।

टीका

(विश्व-वृक्ष)

१—हे पंडितो! इस संसाररूपी वृक्ष के तत्व को आप लोग खूब समझ लीजिये। वस्तुतः यह संसार "बिरवा न होय" वृक्ष नहीं है, क्योंकि वृक्ष तो केवल जड़ होता है, और यह संसार-वृक्ष तो चिदचिदात्मक है, अर्थात् जड़ चेतन उभय रूप है, क्योंकि "आधे बसे पुरुष आधे बसे जोय" भाव यह है कि संसार प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध से बना है। और जोय, नारी, प्रकृति, (जड़) और पुरुष, (चेतन) इन दोनों भागों में विभक्त है।

२—यह संसार इस प्रकार का वृक्ष है कि स्वर्ग-लोक तो इसकी चोटी है और पाताल-लोक जड़ है, अर्थात् पाताल से स्वर्ग तक संसार-वृक्ष फैला हुआ है।

३—बारह मास और चौबीस-पक्षात्मक-काल ही इस विश्व-वृक्ष की पंखुड़ियाँ और पत्ते हैं। अर्थात् काल भी अचेतन होने से संसार ही के अन्तर्गत है। और नाना कामना रूप बरोह (जटाओं ने) इसको सब तरफ से घेर कर, बाँध रक्खा है, अर्थात् यह संसार कामनाओं के ही आश्रित है। वटादिक पुराने वृक्षों को उनकी जटाएँ थामे रहती हैं। इस प्रसंग में

रहीम कवि ने कैसा अच्छा दोहा कहा है। "आवत काज रहीम हैं, बन्धु विरल गहि मोह। जीरन पेड़हिं के भये, राखत बरहि बरोह"।

४—विश्व वृक्ष में और वृक्षों से यह भी एक विशेषता है कि इसमें न ज्ञान रूप फूल ही लगते हैं, न मुक्ति रूप फल ही लगता है। यह उसकी बानी = आदत, स्वभाव है। अर्थात् संसार परित्याग के बिना ज्ञान द्वारा मुक्ति नहीं मिल सकती है। "जो गिरही परपंच न होते नृपति जँगल क्यों जाते। दे पाहन-पारस तेली को दत्त खरी क्यों खाते"। संसार-वृक्ष में यह भी एक विचित्रता है, काम क्रोधादिक विकाररूपी पानी रात दिन इस पेड़ से चूता ही रहता है "यही पेड़ उत्पति परलय का विषया सबै विकारी" भाव यह है कि वृक्ष अपने पैरों से (जड़ो से) पानी पीते हैं इसी से इन को पादप कहते हैं, संसार भी एक वृक्ष है, अतः वह कामादिक विकार रूपी पानी को पीता है, और सदैव उक्त विकारों को ही चुवाता रहता है। ठीक ही है "जो रहे करवा सो निकरे टोटी"।

५—कबीर साहब कहते हैं कि जब हरि-माली नन्हे—पौधे (सूक्ष्म प्रपंच) की रक्षा में लगे हुए थे, उस समय यह कुछ स्थूल पसारा नहीं था। भावार्थ—स्थूल जगत् के नष्ट होने पर भी सूक्ष्म-प्रपंच सुरक्षित रहता है, क्योंकि ज्ञानाग्नि के बिना वासनांकुर नहीं जलता है।

(५१)

बुझ[1] बुझ पंडित मनचित लाय, कबहुँ भरलि बहे कबहुँ सुखाय।
खन[2] उबे खन डुबे खन औगाह रतन न मिलै पावै नहिं थाह।
नदिया[3] नहीं सँसरि* बहै नीर, माँझ न मरै केवट रहै तीर।
पोखरि[4] नहिं बँधली तहँ घाट, पुरइनि नाहिं कँवल महँ बाट।
कहँहिं[5] कबिर ई मन ना धोख, बैठा रहै चलन चह चोख।

*पाठा०—ग० पु० सांसरि।

टीका

(मन की लीला)

१—हे पंडितो ! आप लोग विद्या और सदाचार सम्पन्न होने से विचारशील हैं, इसलिये समाहित-चित्त होकर इस मन के स्वरूप को खूब समझ लीजिये, जिससे कि आप मन रूपी नदी में न बह सकें। यह मन रूपी नदी किसी समय (कार्य में सफलता होने से) तो द्विगुणित उत्साह तथा नाना आशा रूप जल से भर जाती है, एवं किसी समय (बार बार असफलता होने से) उक्त नदी का अपार-मनोरथ-जल जहाँ का तहाँ लीन हो जाता है।

२—मन की धारा में बहते हुए लोगों की घटनाएँ सुनिये—ये लोग कभी तो ऊबे=जल के ऊपर आ जाते हैं, और थोड़ी ही देर में फिर डूब जाते हैं, एवं कभी कभी तो उक्त लोगों की विकल्प-नदी अौगाह (अथाह) हो जाती है।

भावार्थ—योग्य उपाय देख पड़ने से मनुष्य उछलने लगता है, तथा असहाय होने से चिन्ता में डूब जाता है, एवं कभी कभी तो चिन्ता ऐसी बढ़ती है कि वह समुद्र ही बन जाती है। मन नदी का थाह अज्ञानियों को नहीं मिल सकता है, क्योंकि इस नदी के अन्तस्तल में पैठने की शक्ति (ज्ञानशक्ति) और सतत विचार रूप दृढ़ता अज्ञानियों में नहीं होती है, अतएव उनको 'रतन न मिले' अर्थात् निज पद (आत्म-तत्व) रत्न नहीं मिल सकता है। भाव यह है कि जिस प्रकार मृत्यु से निर्भय होकर मोती निकालने वाले मरजीवा लोग (गोताखोर) दरिया के नीचे जाकर मोतियों को निकाल लाते हैं, इसी प्रकार सर्वथा निर्द्वन्द्व होकर निरन्तर दीर्घ काल पर्यन्त और अत्यन्त ही आदरपूर्वक आत्मविचार में निमग्न रहने वाले ज्ञानी पुरुष ही आत्मतत्व रूपी रत्न को ले सकते हैं "नैष आत्मा दुर्बलेन लभ्यः"। इस आत्मा को चंचल चित्त वाले दुर्बल-

हृदय के पुरुष नहीं प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि "जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ। मैं बौरी बूड़न डरी रही किनारे बैठ।

३—वस्तुतः देखा जाय तो यह मन नदी नहीं है, क्योंकि नदी तो दूसरी जगह से आये हुए पानी से बढ़ती है और बहती है; परन्तु यह मन नदी तो स्वयं साँसरि, के अर्थात् नाना संकल्प और विकल्पों से झर झर के बहती रहती है।

भावार्थ—इसके संकल्प और विकल्पों का प्रवाह कभी नहीं रुकता है। इस मन-नदी में काम क्रोध और रागादिक बड़े बड़े मत्स्य (भारी मछलियाँ) सदैव तैरते रहते हैं, वे मारने में नहीं आते, क्योंकि 'केवट रहै तीर' ज्ञानरूपी केवट (मल्लाह, धीमर) सदैव इस मन रूपी नदी के किनारे पर ही बैठा रहता है। जल में पैठने से मल्लाह अपने जाल से मछलियों को मार सकता है। भाव यह है कि हृदय में ज्ञान का संचार (प्रवेश) होने से ही कामादिक विकार नष्ट हो सकते हैं।

४—अब मन की कल्पनाओं का वर्णन करते हैं—योग उपासना करने वाले सब प्रकार के योगी अपने अपने गुरुओं की दीक्षा प्रणाली के अनुसार पिंड तथा ब्रह्मांड में चतुर्दलादि नाना कमलों की तथा नाना प्रकार के लोकों और द्वीपों की कल्पना करके उन्हीं कल्पित लोकों में सदैव संयम (धारणा ध्यान और समाधि) किया करते हैं। "त्रयमेकत्र संयमः। (योग दर्शन)। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास के करने से संकल्पों की स्थिरता एवं दृढ़ता के कारण मन से कल्पित, तथा गंधर्व नगर के समान प्रतीति मात्र नाना प्रकार के लोकों का आभास स्वप्नवत् तथा तडित् (बिजुली) प्रकाशवत् उनको अभ्यास काल में भास जाता है। वस्तुतः ये सब मिथ्या ही है इस बात को बताते हैं कि "पोहकर नहिं बान्धत तहाँ घाट।" यह ब्रह्मांड पोहकर (तालाब) नहीं है जिसमें घाट तथा सीढ़ियाँ बन सकें, एवं नाना प्रकार की कमल लताएँ लग सकें; तथापि योगी लोग तो

ब्रह्मांड में रात दिन ही घाट और सीढ़ी रूप नाना लोकों की रचना किया करते है। और इसी प्रकार पिंड में भी नाना कमलों की (तथा षट्चक्रों) की कल्पना करते है। और प्राणायाम द्वारा षट्चक्रों के भेदन से कल्पित मार्ग बना कर रात दिन इसी मार्ग से आया जाया करते है।

५—कबीर साहब कहते है कि इन अज्ञानियों के मन को वंचक गुरुओं ने यह केवल धोका दिया है, इन सब विडम्बनाओं से मुक्ति कदापि नहीं मिल सकती है। यह मन तो जहाँ का तहाँ (संसार में ही बैठा हुआ है, क्योंकि लोक और द्वीप तो इसी के बनाये हुए घर हैं, अतः इन कल्पित मोदकों से पेट नहीं भर सकता है। कुछ सच्चे साधन (ज्ञानादिक) प्राप्त करने चाहिये, जिनसे कि निजपद मिल सके। इन अज्ञानियों के मन का काम तो इस कहावत के अनुसार है कि बैठा रहे "चला चहे चोख" ये लोग चाहते हैं कि हम को सहज ही में मुक्ति मिल जाय।

(५२)

(बूझि)[1] बूझि लीजै ब्रह्मज्ञानी।
घूरि घूरि बरषा बरषावो, परिया बुंद न पानी।
चिउँटी[2] के पगु हस्ती बांधो, छेरी बीगर खाया।
उदधि मांह ते निकरि छाँछरी, चौरे ग्रीह कराया।
मेंदुक[3] सरप रहै एक संगे, बिलिया स्वान बियाही।
नित उठि सिंघ सियार सों डरपै अदबुद कथो न जाई।
(कवन) संसय[4] मिरगा तन बन घेरे, पारथि बाना मेलै।
उदधि भूपते तरिवर डाहै, मच्छ अहेरा खेलै।
कहँहि[5] कबीर ई अदबुद ज्ञाना, को यहि ज्ञानहिं बूझै।
बिनु पंखै उड़िजाय अकासै, जीवहिं*मरन न सूझै।

*पाठा०—जीवन।

टीका

[अनधिकार-चर्चा]

—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म नंह नानास्ति किंचन ।" का पाठ आपामर सबों को पढ़ाने वाले हे ब्रह्मज्ञानियो ! (वाचक ज्ञानियो) अब आप लोगों की बारी आ गयी है, इसलिये मेरी भी इस तुच्छ बात को सुन कर समझ लीजिये। बात यह है कि विवेक और वैराग्यादिक-साधनों से सम्पन्न अधिकारियों को तो 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इत्यादिक महा-वाक्यों का उपदेश देना शास्त्रानुमोदित है ही, परन्तु आप लोग तो अधि-कारी परीक्षा को भी धता देकर गजनिमीलिका करते हुए स्वयं ब्रह्मज्ञान के काले काले मेघ बन कर, तथा सावन-भादव की घटा की तरह घूम घूम कर सारे संसार में ब्रह्मज्ञान की ही झड़ी लगा रहे हैं; पर जरा देखिये तो सही किसी भी अनधिकारी के हृदय में आपके ब्रह्मज्ञान की तो एक भी बूँद नहीं पड़ती है, इसलिये विचारपूर्वक उपदेश दीजिये।

२—ऐ मेरे भोले भाइयो ! आप लोग तो अनधिकारियों को ब्रह्मो-पदेश देकर चिऊँटी के पैर में हाथी बाँध रहे हैं। भाव यह है की बिना साधन सम्पत्ति के चित्तवृत्ति ब्रह्माकार नहीं हो सकती है, अतएव मिथ्या ब्रह्म भाव से मन नहीं रुक सकता है। मन के न रुकने से ही "छेरी बीगर खाया" छेरी (अजा=माया) ने बीगर (भेड़िये के तुल्य जीवात्मा) को खा डाला। देखिये यह भी कैसा आश्चर्य है कि इन अनधिकारियों की चित्तवृत्ति रूप छाछरि (जल की छोटी सी फुचकारी) अमितानन्द सागर निज रूप से निकल कर (विमुख होकर) इस लम्बी चौड़ी तथा सन्तप्त-संसार भूमि में अपना घर कर रही है। भावार्थ—विषयी-जनों की वृत्ति विषयाकार रहती है।

३—इन अनधिकारियों के हृदय-निकेतन का तो वृत्तान्त आपने अभी तक सुना ही नहीं। सुनिये। इनके यहाँ तो मेंडक (अज्ञानी) और सर्प

(अहंकार दोनों साथ ही रहते हैं। भावार्थ—अहंकार इनको कैसे बचने देगा। और बिलिया (अज्ञानियों की चित्तवृत्ति) ने श्वान रूप संसार सुख के साथ विवाह कर लिया है। भाव यह है कि सांसारिक सुख से चित्तवृत्ति कदापि सन्तुष्ट नहीं हो सकती है। और भी सुनिये! सिंह रूप जीव सियार रूप मन तथा अध्यास [भ्रम] से सदैव डरता रहता है, अर्थात् मन ने तथा अध्यास ने जीव को अपने अधीन कर लिया है। यह अनोखी कथा कहने में नहीं आती है।

४—अब यह बताते हैं कि ऐसे विवेकी (अधिकारी) जनों की मुक्ति में कोई संशय नहीं है जो कि अपने हृदयरूपी वन में विचरने वाले नाना प्रकार के संशय रूप मृगों को घेर कर उनके ऊपर (पारथ=वीर) सद्-गुरु के उपदेश रूपी बाणों को चलाते हैं, अर्थात् सद्गुरु के वचन द्वारा सम्पूर्ण संशयों को निवृत्त कर लेते हैं। एवं वृत्ति-भूमि को आत्मानन्द-समुद्र में आप्लावित कर माया-प्रपंच रूप भारी पेड़ को जला डालते हैं। (समुद्र के पानी से पेड़ जल जाते हैं) इसके पश्चात् आत्म-साक्षात्कार से मच्छ रूप माया तथा उसके कार्य मन का भी लय कर देते हैं।

५—कबीर साहेब कहते हैं कि यह आपका ब्रह्मोपदेश तो बड़ा अलौकिक है शीघ्र ही मुक्ति प्रदान कर देता है, परन्तु इसको समझ कर दृढ़ता धारण करने वाले तो अधिकारी बहुत ही कम हैं, अधिक संख्या तो ऐसे ही लोगों की है जो वैराग्यादिक साधन रूप पाँखों के बिना ही उड़कर आकाश रूप ब्रह्म में विहरना चाहते हैं और प्रपंच पंक में पड़े हुए भी अहंब्रह्मास्मि और शिवोहं की हाँक लगाते हुए अपने आपको कैवल्य धाम के पर्यङ्क में पर्यवस्थित जानते हैं, इतना ही नहीं अपने आपको निर्लिप्त ब्रह्म समझते हुए निःशंक होकर यथेच्छाचरण में भी लगे रहते हैं। मृत्यु के बाद हमारी क्या दशा होगी यह उनको नहीं सूझता है क्योंकि वे तो भ्रम से अपने को अपरोक्ष ब्रह्मज्ञानी मानते हुए स्वयं ब्रह्म होने के भ्रम में पड़े हुए हैं। ऐसे ही अनधिकारियों के ब्रह्म होने के अहंकार

को लक्ष्य करके ही कबीर पंथी ग्रन्थों में तथा अन्यान्य साम्प्रदायिक ग्रन्थों में भी ब्रह्म को भ्रम बतलाया गया है। मेरी बुद्धि में तो ऐसा ही आता है; क्योंकि अपरोक्ष (सच्चे) ब्रह्मज्ञानी बहुत ही कम होते हैं; इस बात को शंकरावतार भगवान् शंकराचार्य ने भी अपने गीता भाष्य में स्पष्ट ही कह दिया है। और वेदान्त के एक जीव वाद के अनुसार यदि देखा जाय तो अभी तक अपरोक्ष [सच्चा] ब्रह्म ज्ञान किसी को हुआ ही नहीं है, यदि एक को भी सच्चा ब्रह्म ज्ञान हो जायगा तो उक्त मतानुसार सारे संसार की मुक्ति हो जायगी। इन्हीं सब विवाद-ग्रस्त बातों को समझ कर अर्वाचीन महात्माओं ने निष्कंटक तथा सरल मार्ग का अन्वेषण किया है और उसी राज मार्ग से चलने के लिये अनुरागी आत्म-जिज्ञासुओं को आदेश भी दिया है। परन्तु कितना ही सरल क्यों न हो तथापि यह भी एक मार्ग ही है इसलिए शम्बल बाँध कर बराबर चलते रहना पथिकों के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है; क्योंकि बिना पुरुषार्थ के परम पद नहीं पा सकते हैं। कहैं कबीर यह मन का धोख, बैठा रहे चलन चहैं चोख। मारग चलते जो गिरे, ताको नहीं दोष। कहैं कबीर बैठा रहै ता सिर करड़े कोष"। "थोड़े ही में बहुत है अति समझन की बात। मेंहदी अधिक लगाय ते कर कारो ह्वै जात"।

एक-जीव-वाद का उल्लेख अद्वैत वाद के ग्रन्थों में सविशेष किया गया है। यहाँ पर दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है। "एको जीवः, तेन चैकमेव शरीरं सजीवम्। अन्यानि स्वप्नदृष्टशरीराणीव निर्जीवानि। तदज्ञानकल्पितं सर्वं जगत्, तस्य स्वप्नदर्शनवद्यावदविद्यं सर्वो व्यवहारः। बद्धमुक्तव्यवस्थापि नास्ति, जीवस्यैकत्वात्। शुक मुक्त्यादिकमपित्वाग्रपुरुषान्तरमुक्त्यादिकमिव कल्पितम्। अत्र च सम्भावित सकलशङ्कांपङ्कप्रक्षालनं स्वप्नदृष्टान्तसलिलधारयैव कर्तव्यमिति। (सिद्धान्तलेशसंग्रहे, ? परिच्छेदे, जीवेकत्वविचारः)। तथा " अनादि मायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते" इत्यादिश्रुतिष्वेकवचन प्राप्तेकत्व विरोधेनोदाहृतश्रुतीनामनेकत्वपरत्तामावात्।

सार्वजनीनप्रमासिद्ध तदनुवादेनाविरोधात्। (अद्वैतसिद्धौ, १ परिच्छेदे, एकजीववादः) एकजीववादकी मूलभूत कुछ श्रुतीयाँ और स्मृतियाँ ये हैं। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" पुरत्रये क्रीडति यस्तु जीवः, इत्यादि" "देही कर्मानुगोऽवशः," तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यानियृह्णाति नरः" इत्यादि।

(५३)

वहि[1] बिरवा चिन्है जो कोय, जरा मरन रहिते तन होय।
बिरवा[2] एक सकल संसारा, पेड़ एक फूटल तीनि डारा।
मध्य[3] कि डारि चारि फल लगा, साखा पत्र गिनै को वाका।
बेलि[4] एक त्रिभुवन लपटानी, बाँधे ते छूटै नहिं ज्ञानी।
कहँहिं कबिर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेहु बिचारा।

टीका

[संसारतरु]

१—सद्गुरु कहते हैं कि जो कोई इस प्रपञ्च-पादप को भली भाँति से पहिचान ले कि यह तो अज्ञानी शुकों को ठगने वाला महा-नीरस और बड़ा भारी सेंमर का पेड़ है, तो वह जन जरा और मरण रूप नाना दुःखों से छूट जाय। २—सूक्ष्म से सूक्ष्म कीटाणु से लेकर हिरण्यगर्भ (पितामह, ब्रह्मा) पर्य्यन्त चराचरात्मक यह सारा संसार ही एक महाकाय वृक्ष है। इस वृक्ष के अवयवों का वर्णन सुनिये। मूलप्रकृति (माया) ही इस वृक्ष का मूल है, क्योंकि यह सब प्रपञ्च मायिक है। और समष्टिसूक्ष्म शरीराभिमानी प्रथम शरीरी एक आदि पुरुष ही इस प्रपञ्च पादप का पेड़ (मध्यभाग) है अनन्तर उस आदि पुरुष रूप वृक्ष से क्रमागत ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप त्रिगुणात्मक तीन डालियाँ निकलीं ये तीनों देवता क्रमशः रज, सत्व और तमोगुण के अभिमानी हैं, अतः येही शब्दान्तरित त्रिगुण हैं इन्हीं के द्वारा इस त्रिगुणात्मक प्रपंच की उत्पत्ति, स्थिति और लय बार

बार हुआ करते हैं। ३—इस विश्व-वृक्ष की मध्य की डाली सत्व गुण में पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) रूपी चार फल लगते हैं, अर्थात् सत्वगुणरूप विष्णु की आराधना से सर्व-पुरुषार्थों की सिद्धि होती है। वैष्णवों की विष्णु आराधना का यही रहस्य है। यह एक डाली का वृत्तान्त है। इसके अतिरिक्त रजोगुण रूप डाली में से काम, क्रोधादि रूप अनन्त शाखा प्रशाखाएँ और नाना वासना रूप पत्ते इतने निकल पड़े हैं की कौन निठल्लू बैठा २ उनको गिना करे। "काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्"। आदि पुरुष एक वृक्ष है निरंजन वाकी डार। तिरिदेवा शाखा भये पत्र भया संसार ॥ तथा सार शब्द से बाँचिहौ मानहु इतबारा हो। आदि पुरुष एक वृक्ष है, निरंजन डारा हो। त्रिदेव शाखा भये पत्ता संसारा हो। (बीजक शब्द) ११४।४—बड़ा भारी नो आश्चर्य यह है कि वासना या आशा रूप एक तुच्छ लता ने इतने बड़े विराट् वृक्ष को जड़ से लेकर चोटी तक घेर कर ऐसा लपेटा है कि स्वर्गादि फलों को तोड़ने की इच्छा से इस वृक्ष पर चढ़े हुए बड़े २ योगी और ज्ञानाभिमानी भी बेचारे इसी आशालता में फँस कर मर गये। अनेकानेक उपाय किये परन्तु न छूट सके। ५—परम दयालु गुरु-कबीर कहते हैं कि हे भाइयो! मैं पुकार २ कर कहता चला जा रहा हूँ कि इस विषवृक्षरूप प्रपंच तरु से दूर रहो, और इसके जहरीले फलों को अमृत फल समझ कर न चखो और इस मिथ्या आशा रूप लता को भी मत छूओ। जो पण्डित हों वे इस बातको विचार लें।

(५४)

साँई[1] के संग सासुर आई।
सँग न सूती स्वाद न मानी, गौ जौवन सपने की नाँई॥
जना[2] चारि मिलि लगनसुधायो, जना पाँच मिली माँडो छायो।
सखी[3] सहेलरी मंगल गावैं, दुख सुख माथे हरदि चढ़ावैं॥

नाना[४] रूप परी मन भाँवरि, गाँठी जोरि भई पतियाई।
अरघा दे लै चली सुवासिनि, चौके राँड भई संग साँई॥
भयो[५] बियाह चली बिनु दूलह, बाट जात समधी समुझाई।
कहैं कबिर हम गौने जैबे, तरब कंत ले तूर बजाई॥

टीका

(कोइ काहू का हटा न माना। झूठा खसम कबीर न जाना।)

१—इस शब्द में अज्ञानी-जीव चित्तशक्ति-रूप स्त्री का वंचक गुरुओं के द्वारा मन प्रपंच के साथ मिथ्या विवाह, तथा सद्गुरु के द्वारा पुनः सच्चे पति शुद्ध-चेतन (निजपद) की प्राप्ति का रूपक दिखाया गया है। यह चित्तशक्ति (जीवात्मा) साँई (शुद्ध चेतन, निजरूप) को साथ लेकर ही (सासुर) संसार में आई है, अर्थात् साँई सदैव इसके संग ही रहता है, परन्तु अज्ञान वश अपने पति को नहीं जानती हुई उसके परमानन्द बिहार से सदैव वंचित ही रहती है। प्रमाद वश इस जीव-शक्ति का सारा यौवन (नरतन) व्यर्थ ही सपने की तरह चला गया अतएव जीव संसारी बन कर जन्म-मरण के चक्र में पड़ गया। किसी प्रकार (मालिक की दया से) फिर भी इस जीव शक्ति को मनुष्य शरीर मिला तो वंचक गुरुओं ने फिर भी मनः प्रपंच ही के साथ इसका विवाह कर दिया। २—अब विवाह का रूपक बताया जाता है—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारों ने एक मत होकर इस जीव शक्ति रूप कुमारी का देहादि संघात रूप मनः प्रपंच के साथ, सगाई संबन्ध रूप लगन लगाने का निर्णय किया, अर्थात् जीव को शरीरासक्ति में डाल दिया। भाव यह है कि मन संकल्प करता है, और बुद्धि निश्चय करती है, पश्चात् चित्त की स्फुरणा से अहंकार के द्वारा जीव नाना कर्मों को करता है, यही सब कर्मों की व्यवस्था है। इस प्रकार प्रपंचासक्ति रूप लगन चढ़ने पर पंच तत्व रूप पाँच जनों ने मिलकर शरीर रूप मँडवे की रचना कर दी। भाव यह है कि देहाध्यास ही के कारण नाना देह धरने पड़ते हैं। ३—इस प्रकार मँडवे के तैयार होने पर इस

जीव शक्ति रूप दुलहिन की बालसखी इन्द्रिय रूप सहेलियाँ प्रमुदित चित्त होकर मंगल गाने लगीं। अर्थात् सुन्दर २ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दादि रूप विषय-भोग भोगने लगीं। अनन्तर भोगों से होने वाले तथा पाप-पुण्य के फल भूत नाना दुःख और सुख रूप हल्दी जीव रूप दुलहिन के मत्थे डाल दी। भाव यह है कि रूपादि विषयों का भोग तो इन्द्रियाँ करती हैं और उसके फल रूप दुःखादिक जीव आत्मा को मिलते हैं। ४—इस प्रकार हल्दी चढ़ाने के बाद भोग जन्य नाना वासनारूप भाँवरी इस जीवरूप दुलहिन के मन में पड़ गई। भाव यह है कि सम्पूर्ण शुभाशुभ क्रियाओं का यह स्वभाव होता है कि उन कर्मों को करने वाले के हृदय-मुकुर में किये हुए कर्मों के शुभाशुभ संस्कार (वासना, सूक्ष्म भोगेच्छा,) रूप अक्स (फोटो) खिंच जाता है, अतएव उन्हीं वासनाओं से विवश होकर संसारी लोग उन्हीं २ कर्मों को करते हैं और फलों को भोगते हैं क्योंकि जीवों ही के कर्म संस्कार द्वारा स्वसजातीय क्रियाओं को पुनः २ पैदा किया करते हैं। इस प्रकार भाँवरी पड़ने के बाद जब इस जीव-दुलहिन (चेतन) का मनःप्रपच (जड़) के साथ गँठबन्धन हो गया, तब इसने भ्रमवश झूँठे खसम प्रपंच को अपना पति मानकर उसके साथ घनिष्ठ प्रेम कर लिया। भाव यह है कि अज्ञानजन्य—देहासक्ति ही के कारण यह जीव चेतन के धर्म-आनन्दादिकों को विषयों के धर्म समझ रहा है (अर्थात् यह परम सुख मुझको विषय भोग से मिला है ऐसा जान रहा है) और जड़ के अनन्त धर्म, वर्ण आश्रम और अवस्था तथा बालपन जवानी और बुढ़ापा एवं दुबलापन और मुटाई रंग रूप व्याधिपीड़ा आदिकों को अपने (चेतन के) धर्म मान रहा है। इसी अनमेल खिचड़ी को दार्शनिकों ने अन्योन्याध्यास तथा जड़ चेतन की ग्रन्थि भी कही है। इसकी विशेष कथा अध्यासभाष्यादिकों में "सत्यानृतेमिथुनीकृत्य प्रवर्तन्ते सर्वेव्यवहाराः" इत्यादि ग्रन्थ से स्पष्ट की गई है। हमारे गोस्वामी तुलसी-दासजी ने भी इस विषय में लिखा है कि "जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई।

जदपि मृषा छूटत कठिनई"। इस प्रकार अनात्म पदार्थों में फँसकर यह जीव संसारी हो गया है। इस प्रकार विवाह-विधि सम्पन्न होने के पश्चात् जीव-दुलहिन को (सुवासिनी) सौभाग्यवती, (अहिवाती) स्त्री रूप वंचक-गुरुओं की वाणियाँ अरघा दे देकर (दुलहिन के आगे २ पानी गिराती हुई) अपने संग ले चली। भाव यह है कि नाना सकाम कर्म रूप अनात्म पदार्थों मे उरझाने वाले वचक गुरुओं ने नाना प्रकार की रोचक वाणियों से वस्तुतः नित्य तृप्त जीव को भी स्वर्ग-लोकादिकों को भूखा बना दिया, इसी कारण यह अज्ञानी, वंचक-गुरुओ से मिथ्या मुक्तिरूप बासी भात लेने के लिये उनके द्वार पर पड़ कर नाक रगड़ने लगा। "झूँठि मुक्ति नर आस जीवन की उन्ह प्रेत को झूठ खयो"। (बीजक शब्द) अब इस विवाह का नतीजा सुनिये। इस जीव दुलहिन ने थोड़ेही काल में चल बसने वाले इस झूँठे संसार रूप पति के साथ अज्ञान-वश विवाह कर लिया, इस कारण थोड़ेही काल में अपने प्रिय जनके विनाश से मँडवे (शरीर) में बैठी २ ही राँड हो गयी। और सच्चे साईं (पति) तो बेचारे बगल ही में बैठे रह गये। उनके देखते २ यह सब खेल हो गया। भाव यह है कि यह जीव मोह वश धन दारा और शरीरादिक प्रपंच से ऐसा प्रगाढ़ प्रेम बाँध लेता है कि उनकी विकलता तथा वियोग से स्वयं अकर्मण्य और अनाथ बन जाता है। इसी भाव को कबीर गुरु ने एक स्थल पर कैसे अच्छे रूपक में झलकाया है "फूल भल फूलल, मालिन भल गाँथल, फुलवा बिनसि गैल भँवरा निरासल। ५—इस प्रकार विवाह होने पर भी यह जीव दुलहिन बिना ही पति के रह गयी। इसके पश्चात् अनेक सांसारिक-आपत्तियों से त्रस्त होकर अपने सच्चे पति (निजपद) की खोज मे यह निकल पड़ी। अनन्तर नाना कर्म और उपासना रूप अनेक मार्गों में घूमती हुई जब यह सत्सग रूपी बाट (रास्ते) पर पहुँच गयी, तब इसके सच्चे सम्बन्धी संत जन मिल गये। इन्होंने इसको बोध (होश) कराया कि तूँ नाहक ही निज पति (स्वरूप) के मिलने के लिये स्वर्ग

और पाताल को छान रही है, और मुक्ति रूप पति सुख के लिये पानी और पत्थरों में सिर मार रही है। तुझको स्वार्थियों ने धोका दिया है। केवल इस विधिवाद (कर्मकांड) के बल से तू पति को नहीं पा सकती, तू किस उलझन में पड़ गयी है। तेरा पति तो यह देख तेरे साथ ही है। तू (संसार से) पीछे घूम कर और आँख खोलकर तो देखती ही नहीं' आँख बन्द कर औरों ही के पीछे दौड़ा करती है सुन—"जेहि खोजत कल्पौ गये, घटही मांही सो मूर। बाढ़ी गर्व गुमान ते, ताते परि गौ दूर" ॥ "सोतो काहि ये ऐस अबूझ। खसम अछत ढिग नाहीं सूझ" ॥ बेचारे इस पति का क्या दोष है, ये सब तो तेरी ही अज्ञानता के फल हैं। इस प्रकार अमृत रूप वचनों से जब महात्मा ने अज्ञानी जीव-शक्ति को खूब समझाया तब जीव-आत्मा के हृदय में बोध हुआ। अनन्तर बहुत पश्चात्ताप करके जीव शक्ति कहने लगी कि अब तो हम अपने पति के साथ गोने जायेंगी और सदैव उन्हीं के चरण कमल रूप नौका में बैठी रहेंगी, जिस से कि तूर (तुरही) बजाकर संसार-सागर से पार हो जायँगी। यही भाव इन साखियों में भी झलकता है "पाछे लागा जाय था लोक वेद के साथ पैंडे में सतगुरु मिले दीपक दीन्हा हाथ। दीपक दीन्हा तेलभर बाती दई अघट्ट, पूरा किया बिसाहना बहुरिन आवे हट्ट" भजन—"आछत खसम राँड भइ धनियाँ, झूठ खसम मन भावत रे"।

(५५)

नलको[1] ढाढस देखहु आई, (किछु) अकथ कथा है भाई।
सिंघ[2] सहदूल एक हर जोतिन्हि, सीकस बोइन्हि धाने॥
बनकि भुलइया चाखुर फेरे छागर भये किसाने।
कागा[3] कापर धोवन लागे, बगुला खिरपै दांते॥
माँखी मूँड मूंडावन लागे, हमहूँ जाइब बराते।
छेरी[4] बाघहिं ब्याह होत है मंगल गावहिं गाई।
बनके रोंझ धै दाइज दीन्हौ, गोह-लोकंदै जाई॥

कहँहिं[१] कबीर सुनहु हो संतो, जो यह पद अरथावै।
सोई पंडित सोई ज्ञाता, सोई भगत कहावै॥

टीका

[अन्धा कहै अन्धा पतियाय। जग विसवा का लगन धराय।]

१—सच्चे सद्गुरु के मिलने से जीवों के कल्याण की चर्चा तो ऊपर कर चुके हैं, अब वंचक गुरुओं के फन्दे में पड़े हुए अज्ञानियों की दुर्गति का दिग्दर्शन कराते हैं। गुरुदेव कहते हैं कि हे भाइयो! इन अज्ञानियों की जरा हिम्मत तो देखिये, ये लोग जन्म मरणादि द्वारा अनन्त बार माया के कोल्हू में पेरे जा चुके हैं; परन्तु फिर भी इने उत्साह से उसी के कोल्हू में सिर देने के लिये सब से आगे रहते हैं। जादूगर गुरुवा लोगों ने इन बेचारे अज्ञानियों के ऊपर माया की ऐसी पुड़िया डाल दी है कि ये लोग बड़े प्रसन्न होकर सबसे प्रिय अपने नर जीवन को भी तुच्छ भेंट समझते हुए उनके चरणों में रख देते हैं, और नाचते कूदते तथा हँसते खेलते हुए परमशोचनीय गति को चले जाते हैं। अज्ञानियों की यह कथा तो बड़ी ही विचित्र है। २—अब वंचक गुरुओं की करतूतों भी देखिये—छागर=माया के स्वामी बकरे रूप वंचक गुरु स्वयं किसान बन कर, और सिंह तुल्य जीवात्मा तथा शार्दूल=सिंह को खा जाने वाले उनके मन को, बैल बना कर कर्म रूप एक ही हल में उन्होंने जोत दिया; अर्थात् सब लोगों को सकाम कर्मों में लगा दिया। इसके अनन्तर सीकस=ऊसर-भूमि भूत संसार में नाना तथा विविध आशारूप धान (अन्न) बोने लगे। भाव यह है कि "रामाकृष्ण की छोड़ि आशा। पढ़ि गुनि भये कितम के दासा। कर्म पढ़ें औ कर्म को धावैं। जेहि पूछा तेहि कर्म दिढ़ावैं। निःकर्मी की निन्दा कीजै। कर्म करै ताही चित दीजै॥ ऐसी विधि सुर विप्र भनीजै। नाम लेत पंचासन दीजै। बूड़ि गये नहिं आपु संभारा। ऊँच नीच कहि काहि जु हारा॥ ऊँच नीच है मध्य की बानी। एकै पवन एक है पानी॥

एकै मटिया एक कुम्हारा। एक सब का सिरजनिहारा॥ एक चाक सब चित्र बनाई नाम विन्द के मध्य समाई। व्यापक एक सकल की ज्योति। नाम धरे का कहिये भौति॥ राच्छस करनी देव कहावें। बाद करै गोपाल न भावें॥ इत्यादि (बीजक)। इसके बाद बन की भुलैया = लोमड़ी रूप लालची गुरु-लोग इस ऊसर संसार को निभाने लगे अर्थात् इसकी रक्षा करने लगे ३—इस तरह खेती होने के बाद अब छेरी और बाघ के विवाह का रूपक दिखाते हैं। कागा मलीन चित्तवाले पाखंडी गुरु अपने उपदेश रूपी जल से अज्ञानियों के हृदय रूप कपड़ो को धोने लगे। और बकुला रूप नकली साधुवेष-धारी उनके हृदय रूप कपड़ों पर इस्तरी फेरने लगे। अर्थात् उक्त गुरुओं के उपदेश का ये भी अनुमोदन करने लगे। अनंतर मक्खी रूप अशुद्ध चित्त वाले पुरुष मूंड मुड़वाने लगे। और कहने लगे कि हम भी उक्त विवाह की बारात में शामिल होवेंगे। ठीक ही है "जस दूलह तस बनी बराता"। ४—इस प्रकार बारात सजने के बाद छेरी माया और सिंह तुल्य जीवात्मा का विवाह होने लगा। अर्थात् उक्त गुरुओं के उपदेश से जीवों को माया घेरने लगी। वस्तुतः यह जीव सिंह रूप है, यदि यह अपने रूप को जान ले तो बेचारी माया बकरी इसके सामने क्या चीज है। विवाह में मंगल गाये जाते हैं, अतएव इस विवाह मे भी 'गाई' गो=इन्द्रियाँ मंगल गाने लगीं।

भावार्थ—यह जीव जब माया के फन्दे में पड़ गया तब इसकी इन्द्रियाँ नानाविषयों को भोगने लगी। इस प्रकार (अनमेल) विवाह के हो जाने पर उक्त विवाह के उपलक्ष में बन के रोझ की तरह इधर उधर घूमने वाले मन को दहेज में दे दिया। अर्थात् मन को प्रपंच के साथ कर दिया। विवाह होने के बाद दुलहा और दुलहिन डोले में बैठकर जाया करते हैं। अतः इस विवाह के पश्चात् भी नाना शरीर रूप लोकन्दा=डोले तैयार किये गये कि जिनमें बैठ २ कर दुलहा (जीव आत्मा) ने अपने गुरु बरातियो के साथ अपने घर (चौरासी) का रास्ता पकड़ लिया।

भावार्थ—"घर २ मन्तर देत फिरतु हैं महिमा के अभिमाना। गुरू सहित सीख सब बूढ़े, अन्त काल पछताना॥" तथा "गुरु लोभी सिख लालची दोनों खेलै दाँव। दोनों बूड़े वापुरे बैठि पथर की नाव" (बीजक) "गोह लोह कन्धै" में गोह पद से यह सूचित किया है कि जिस तरह मोह एक प्रकार का विषैला जीव होता है, इसी तरह अज्ञानियों के शरीर भी विषय रूपी विष से भरे रहते हैं "विषविषयों का खाच हो रात दिवस मिलिझार"। (बीजक)

५—कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो! जो इस पद्य के अर्थ को समझ कर उक्त भ्रम फांस (धोके की टट्टी) में नहीं पड़ते हैं वेही पंडित और ज्ञानी हैं, तथा वे ही आत्मोपासक सच्चे-भक्त भी कहलाते हैं।

(५६)

नलको नहि परतीति हमारी।
झूठे बनिजि[1] कियो झूंठासो,[2] पूँजि[3] सभनि मिलि हारी॥
षट-दरसन[4] मिलि पंथ[5] चलायो, तिरिदेवा अधिकारी।
राजा[6] देस बड़ो परिपंजी, रैयति[7] रहति उजारी॥
इतते[8] ऊत ऊतते इत रहु, जमकी साँडक्ष—सवारी[9]।
ज्यौं[10] कपि डोरि बांधु बाजीगर, अपनी खुसी परारी॥
ईहै[11] पेड़ उतपति परलै का विषया[12] सभै बिकारी।
जैसे स्वान[13] अपावन राजी, त्यौं लागी संसारी॥
कहँहि कबीर[14] इ अदबुद[15] ज्ञाना, को माने बात हमारी।
अजहूँ[16] लेउँ छुड़ाय काल सों, जो करे सुरति[17] संभारी॥

टि०—[सुरति (वृत्ति) के निरोध की आवश्यकता]

१—व्यापार। २—मन से। ३—मूल-पूँजी [ज्ञान] ४—योगी जंगम सेवड़ा दरवेश आदिक छः वेषधारी लोग। ५—शैवादि मत।

---

*पाठा०—क० पु० साट सवारी।

६—मन राजा [यम] "तीन लोक में है जम-राजा चौथे लोक में नाम निशान। लखै कोइ विरला पद निरवान"। ७—प्रजा (कामी) स शान्तिमाप्नोति न काम-कामी" (गीता) ८—इस लोक से उस लोक और उस लोक (स्वर्गादि) से इस लोक (नर्कादि) को। ९—ऊँट की सवारी। पूर्व काल में लम्बी यात्रा ऊँटों के द्वारा की जाती थी १०—बन्दर खाने के लोभ में बध जाता है। ११—मन और मन की कामनाएँ १२—विषम-रूपविष-फल। "विष-फल फले अनेक हैं मत कोइ देखो चाख" (कबीर-साखी) १३—कुत्ता (विषयी और पामर) "कामी-नर कुत्ता सदा छः ऋतु बारह-मास" १४—मलिन-वस्तु। १५—यह हमारा दिया हुआ है। १६—अब भी (ऐसी पतित दशा में भी) "सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते" (गीता) १७—यदि चित्त की एकाग्रता करे (विषयों से मन को हटाले)। तावदेव निरोद्धव्यं-यावद्धृदिगतं क्षयम्। एतज्ज्ञानं चमोक्षश्च ह्यतोन्यो ग्रन्थ-विस्तरः।" काल = जन्म-मरण रूप काल-चक्र।

(५७)

ना हरि[१] भजै न आदति[२] छूटी।

सब्दहि समुझि सुधारस नाहीं, अँधरे[३] (भयहु) हियहु को फूटी॥
पानीमाँह पखान कि रेखा,[४] ठोंकत उठै[५] भभूका।
सहसघड़ा[६] नित उठि जल ढारै, फिरि सूखे का सूखा॥
सीतै[७] सीत सीत अंग भौ, सैनि[८] बाढि अधिकाई *।
जो सनिपात[९] रोगियहिं मारै, सो साधुन सिधि पाई॥
अनहद[१०] कहत कहत जग बिनसै, अनहद सिस्टि समानी।
निकट पयाना[११] जमपुर धावै, बोलै एकै[१२] बानी॥
सतगुर मिलै बहुत सुख लहिये, सतगुर शब्द सुधारै।
कहँहिं कबीर सो सदा सुखारी, जो यह[१३] पदहिं बिचारै॥

* ख. पु. सेते सेत अंग भौ सयन बढ़ी अधिकाई।

टि० [वन्ध्य-ज्ञानी (वाचक ज्ञानी) और हठयोगियों की दशा]

१—आत्माकार-वृत्ति नहीं होती हैं। २—स्वभाव [मन की कल्पना] ३—लोकाचार और विवेक-विचार दोनों छूट गये। ४—पत्थर की टुकड़ी ५—चिनगारियाँ। वन्ध्य-ज्ञानी और ज्ञान-हीन हठयोगियों का मन पत्थर के टुकड़े के समान है जो सदैव जल में पड़ा रहता है परन्तु भींजता नहीं। ६—वन्ध्यज्ञानी दिखाने के लिये 'अहंब्रह्मास्मि' का (अहंग्रहोपासना) वृत्तिप्रवासरूप हजारों घड़े मन रूपी पत्थर पर प्रतिदिन ढरकाया करते हैं। इसी प्रकार हठयोगी भी सहस्र कुम्भक रूप हजार जल के घड़े उक्त मन पर डाला करते हैं; परन्तु वह सूखे का सूखाही रह जाता है। इसका कारण यह है कि उनके मन-रूपी पाषाण कामनाग्नि से नीरस और अभेद्य (अत्यन्तही कठिन) हो गये हैं अतएव सब साधन विफल हो जाते हैं। ७—उक्त वन्ध्य-ज्ञानी और हठयोगी शमदमादि साधनों से हीन होते हैं और उनके हृदय में मल विक्षेपादिक दोषों का संचय भी अधिक मात्रा में रहा करता है, अतः आमज्वर से पीड़ित रोगी की तरह ये लोग उपासनादिक उपवास (लङ्घन) और तपोऽनुष्ठानरूप स्वेद-प्रस्रवण (पसीना कराने) के अधिकारी हैं। अहंग्रहोपासनादि रूप जो शीतल-सरोवर का स्नान है उसके अधिकारी ये लोग नहीं है। इसी कारण (उक्त शीतोपचार से) इन लोगों के मन को "शीतांगवायु" (सन्निपात) हो जाता है। ठीक ही है "स्वेद्य मामज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिञ्चति" [माघकाव्य] भाव यह है कि अनधिकारियों को अहंब्रह्मास्मिरूप महावाक्य का उपदेश देना उचित नहीं है। ८—पूर्व-उक्त अनधिकारी उपदेश अहंकारादिक विकारों की सेना अत्यन्त बढ़ जाती है। ९—जिस प्रकार सन्निपात होने पर रोगी कदाचित् ही बचता है इसी प्रकार भिद्धि के अहंकार से उक्त योगी लोग योग भ्रष्ट हो जाते हैं। और वन्ध्यज्ञानी भी उभयलोक से भ्रष्ट हो जाते हैं। यहाँ पर "सेते २ सेत अंग भो सेन बाढ़ी अधिकाई" ऐसा भी नूतन पाठ है। अर्थ-अधिकार-शून्य होने पर भी अहंग्रहोपासना तथा हठ-

योग का सेवन करते २ शरीर सफेद हो गया [वृद्धावस्था चली आई] परन्तु मन के विकार दूर न हुए प्रत्युत मनराजा की सेना (काम क्रोधादिक) बढ़ती ही चली गयी। "ऊपर उजर भौ बौरे भीतर अजहूँ बारो हो। तनके वृद्ध कहा भौ बौरे मनुवा अजहूँ बारो हो।" [बीजक] १०—केवल अनाहत शब्द की उपासना करने वाले आत्मतत्व से वंचित रहने के कारण नष्ट हो गये। क्योंकि अनाहत शब्दोपासना साधन मात्र है साध्य रूप नहीं। ११—चलना, कूंच करना। (अन्त काल) १२—साधन हीन होने से उक्त लोग यमपुर के रास्ते में दौड़े चले जा रहे है तिस पर भी शिवोऽहं और अनहद अनहद आदि की हाँक लगाते जाते हैं। १३—शमदमादिक साधनों से सपन्न होकर आत्मतत्व का विचार करे।

भावार्थ—वंध्य-ज्ञानियों का यथेष्टाचरण होना है सच्चे ज्ञानियों का नहीं। "बुद्ध्वाऽद्वैतस्य तत्वस्य यथेष्टाचरणं यदि। शुनां तत्वदृशां चैवं को भेदोऽशुचि भक्षणे ॥ (पञ्चदशी)

(५८)

(नरहरि[1]) लागी[2]दव विकार बिनुइंधन[3], मिले बुझावनिहार।
मैं जानौं तोही सो व्यापै, जरत सकल-संसारा॥
पानी[4] माँह अगिनि को अँकुल, मिल[5] न बुझावन पानी*।
एक[6] न जरै जरै नौ नारी, जुगति काहु नहि जानी॥
सहर[7] जरै पहरू सुख सोवै, कहै कुसल घर मेरा।
पुरिया[8] जरै वस्तु निज उबरै, बिकल राम रंग तेरा॥
कुबुजा[9]-पुरुष गले एक लागा, पूजि न मनकी सरधा।
करत विचार जन्म गौ खीसै[10], ई तन रहत असाधा॥
जानि बूझि जो कपट करतु है, तेहि अस मंदन कोई।
कहँहिं कबीर सभ[11] नारि रामकी मोते[12] अवर न होई*॥

---

*पाठा०—ग० पु० जरत बुझावै पानी।

टि०—[कामना-अग्नि-विचार]

१—अज्ञानियों को हरण करने वाली। अथवा 'नरहरि' यह सम्बोधन है।२—विषय, विकार रूप दावाग्नि (वन की आग) ३—जो रोचक, वाणी रूपी ईन्धन से उक्त कामनाग्नि को बढ़ाता हो ऐसा बुझाने वाला नहीं मिलता है। अथवा केवल कल्पना से। ४—वंचकों की वाणी रूप पानी में अग्नि की ज्वाला छिपी रहती है, इस कारण यथाथ शान्ति नहीं होती है। ५—कामनाग्नि को सचमुच बुझाने वाला तत्वोपदेश रूप सच्चा पानी नहीं मिलता है ६—असत्कामनाओं से केवल मन को ही सन्ताप होता है यह बात नहीं, किन्तु नवनारी के आश्रय भूत शरीर को भी महा कष्ट, सन्ताप उठाना पड़ता है। ७—शरीर जलता रहता है और साक्षी आत्मा सुख से सोता रहता है। ८—पुड़िया (अन्नमयकोष, स्थूल शरीर) वस्तु = आत्मा। यह स्थिति ज्ञानियों की है। इसके विपरीत अज्ञानी लोगों का चित्त अज्ञान के कारण विकल रहता है। हे राम ! यह तेरी लीला है। ९—मन। "ओछे नेह लगाय के मूलहू आवै खोय" (बीजक) १०—चला गया। ११—अज्ञानी लोग। १२—आत्मा से भिन्न। [प्राप्त करने के योग्य]

(५९)

माया महा ठगिनि हम जानी।
तिरिगुन[1] फाँस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी-बानी॥
केसो के कमला[2] होय बैठी, सिवके[3] भवन भवानी।
पंडा के मूरति होय बैठी, तीरथहू महँ पानी।
जोगी के जोगिनी[4] होय बैठी, राजा के घर रानी॥
काहू के हीरा होय बैठी, काहुके कौड़ी कानी।

* ग०—पु० कहँहिं कबीर तेहि मूढ़ को भला कवन विधि होई।

भगता के भगवितिन होय बैठी, ब्रह्माके ब्रह्मानी ॥
कहँहिं कबीर सुनहु हो संतो, ई सभ अकथ-कहानी[1]।

टि०—[माया-विचार]

१—सत्व रज और तमोगुण रूप। २—केशव=विष्णु। ३—लक्ष्मी। ४—योग-मुद्रा। ५—माया की वंचना (ठगौरी) कथा पूरी तरह कही नहीं जा सकती है।

(६०)

माया मोह मोहित कीन्हा, ताते ज्ञान-रतन हरि लीन्हा ॥
जीवन* ऐसो सपना जैसो, जीवन सपन समाना।
सब्द[1] गुरू उपदेस दीन्हौ (तै) छाँड्यो[2] परम-निधाना ॥
जोति देखि पतंग हुलसै, पसुना पेखै आगी।†
काल-फाँस नल मुगुध[3] न चेतै, कनक-कामिनी लागी ॥
सेख सैयद कितेब[4] निरखै, सुम्रिति[5] सास्त्र बिचारि।
सतगुरू उपदेस बिनु तैं, जानिके जिव मारि ॥
करु विचार विकार परिहरु तरन तारन सोय।
कहँहिं कबीर भगवंत[6] भजु नल, दुतिया अवर न कोय ॥

टि०—[अहिंसा-विचार]

१—गुरु का शब्द, सार-शब्द, यथार्थ-वचन "सार-शब्द निरनय को नामा" (पंचग्रंथी) २—परम-धन रूप उपदेश को छोड़ दिया। ३—अज्ञानी "दीप-सिखा सम जुवति-जन मन जनि होसि पतंग" (रामायण) ४—कुरान वगैरह। ५—और पंडित लोग स्मृति और शास्त्रों का विचार करते रहते हैं। ६—आत्मा को पहिचानो। (अपनी आत्मा को मत मारो) "आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति " (गीता)

---

* सार छन्द † छन्द रूप माला। "रच दिसि कल रूप माला कीजिये सानन्द" इसमें १४ और १० पर यति होती है।

(६१)

मरिहो[1] रे तन काले करिहो, प्रान छुटे बाहर[2] लै डरिहो।
काया-बिगुरचनि[3] अनिबनि[4] भांती. कोइ जारै कोई गाड़ै मांटी।
हिंदू जारैं तुरुक ले गाड़ैं, यहि-बिधि अंत दुनौ घर छांड़ैं।
करम-धरम जम जाल पसारा, जस धीमर मछरी गहि मारा।
राम बिना नल होइहो कैसा, बाट[5] मांझ गोबरौरा[6] जैसा।
कहँहि कबिर पाछे पछितैहो, या घर से जब वा घर जैहो।

टि०—[अन्त-दशा-विचार]

१—मरने पर शरीर की रक्षा का कौन उपाय करोगे। २—बाहर फेंके जाओगे। ३—विनाश। ४—अनेक। ५—रास्ते में। ६—एक प्रकार की बड़ी मक्खी होती है जो कि बरसात में गोबर वगैरह की गोलियाँ बना बना कर लुढ़काया करती है। (रास्ते में लुढ़कने वाले गोबरौरा कदाचित् ही बचते हैं)

(६२)

माइ[1] ! मैं दूनौ कुल उजियारी ॥
सासु[2]-ननदि पटिया मिलि बँधलौं, भसुरहिं परलौं गारी।
जारों[3] मांग मैं तासु नारिका, (जिन्हि) सरबर रचलि धमारी॥
जना[4] पांच कोखिया मिलि रखलौं, अवर दुई औ चारी।
पार-परोसिनि[5] करौ कलेवा, सगहिं बुधि महतारी॥
सहजे[6] बपुरे सेज बिछौलन्हि, सुतलि मैं पाँव पसारी।
आउँ न जाउँ मरौं नहिं जीवौं, साहब[7] मेट लगारी॥
एक[8]—नाम मैं निजुकै गहलौं, ते छूटलि संसारी।
एक[9]-नाम मैं बंदिके लेखौं, कहँहिं कबीर पुकारी॥

टि०—[सहज-भावना विचार]

१—सहज-भावना विद्या माता से कहती है। मैंने इस लोक और परलोक को प्रकाशित कर दिया २—मैंने सासु (माया) और ननदि

(कुमति) को पटिया (खटिया की पटिया) से बाँध दिया। अर्थात् दोनों को पूरी तरह अधीन कर लिया। और भसुर जेठ (अविवेक) को भी खूब फटकारा। अर्थात् अविवेक को भी लज्जित कर दिया। ३—मैंने उस स्त्री (अविद्या) की माँग (सौभाग्य को सूचित करने वाले केशपाश) को जला दिया है जिसने मेरे साथ सरवर धमारि=रण-रंग (युद्ध क्रीड़ा) मचाया था। ४—मैंने पाँचो वीरों (पंचज्ञानेन्द्रियों) को पेट में रख लिया है। और द्वैत-भाव तथा मन बुद्धि चित्त और अहंकार को भी जीत लिया है। अर्थात् शमदम को धारण कर लिया है। ५—नाना कल्पना रूप पड़ोसिन और महल्ले में रहने वालियों का तो मैंने जलपान (नाश्ता) कर डाला। और उन्हीं (कल्पनाओं) के साथ साथ सात्विक-बुद्धि वृत्ति रूप माता को भी आत्मसात् (अपने में लीन) कर डाला। भाव यह है कि स्वानुभूति तथा सहज भाव रूप सूर्य के उदय होने पर वृत्ति रूप तारे अपने आप छिप जाते हैं। और उलूक-वृन्द रूप नाना कल्पनाएँ न जाने कहाँ चली जाती हैं। ६—विचारे सहज भावने। ८—सद्गुरु ने मेरी लगारी=लगाव, सम्बन्ध (जन्म और मरण रूप संसार के सम्बन्ध) को मेट दिया। ८—निजरूप, राम। ९—एक=राम है नाम जिसका अर्थात् चेतन देव, "रमैया राम" को मैं सब पदार्थों से श्रेष्ठ समझती हूँ। सहज भावना की यह स्थिति है इस बात को कबीर (गुरु) पुकार पुकार कर कहते हैं।

(६३)

*कासों कहौं को सुने को पतियाय, फुलवा[1] के छुवत भवँर[2] मरि जाय।
गगन मंडल महँ फुल[3] एक फूला, तरि भौ डार उपर भौ मूला।
जोतिये न बोइये सिंचिय न सोय, बिनुडार बिनुपात फूल[4] एक होय।
फुलभलफूललमालिनि[5] भलगाँथल[6] फुलवाविनसि गैलभँवरा[7] निरासल
कहँहि कबीर सुनहुँ-संतो भाई पंडित जन फूल[8] रहल लुभाई।

* छन्द दंडक।

टि०—[कल्पना-विचार]

१—यहाँ पर फुलवा पद से वंचकों की पुष्पित वाणी, कल्पना, ज्योति का ध्यान, विश्व-वृक्ष, शरीर, भोग्य धन दारादिकों का तुल्य रूप से बोध होता है, क्योंकि ये सब फूलवत् आशु विनाशी हैं। २—जीवात्मा उक्त फूल (शरीरादिक) की आसक्ति से मरण जन्य दुःख को उठाता है। ३—विश्व-वृक्ष और शरीर "ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्" (गीता) ४—कल्पना तथा संसार ५—माया रूप मालिन ने इसको अच्छी तरह गूंथा है, अर्थात् रचा है। ६—ज्योति प्रकाश तथा भोगों की सामग्री ७—मन या जीव ८—नाना कल्पना तथा शरीरासक्ति आदिक जहरीले फूलों की मोहनी गन्ध में पंडित रूप चतुर भँवरे भी लुभाये रहते हैं। देखिये यह कैसा अचरज है। "विजानन्तोप्येते वयमिह वियज्जालजटिलान्। न मुंचामः कामानहह गहनो मोहमहिमा' (भर्तृहरिः)

(६४)

जोलहा[1] बीनहु हो हरिनामा, जाके सुर नर मुनि धरें ध्याना।
ताना[2] तनैको अहुँठा लीन्हौ, चरखी चारिहुँ बेदा॥
सर[3] खूँटी एक रामनरायन, पूरन प्रगटे कामा।
भवसागर एक कठवत कीन्हौं, तामहँ माँड़ी साना॥
माँड़ी[4] के तन माँडि रहाहै, माँडो बिरले जाना।
चाँद[5] सुरज दुइ गोडा कीन्हौं, माँझ-दीप कियो माँझा॥
त्रिभुवननाथ[6] जो माँजन लागे, स्याम मुररिया दीन्हा।
पाई[7] करि जब भरना लीन्हौं, वै बाँधे को रामा॥
वै भरा[8] तिहुँ लोकहिं बाँधैं, कोई न रहत उबाना।
तीनिलोक[9] एक करिगह कीन्हौं, दिगमग कीन्हौं ताना॥
आदि-पुरुष[10] बैठावन बैठे, कबिरा जोति समाना॥

(६५)

जोगिया फिरि[१] गयो नगर मँझारी, जाय समान पाँच जहाँ नारी।
गयउ[२] देसंतर कोइ न बतावै, जोगिया बहुरि गुफा नहिं आवै।
जरि[३] गौ कंथा धजा गौ टूटी, भजि गौ डंड खपर गौ फूटी।
कहँहिं[४] कबीर इ कलिहै खोटी, जो रहै करवा (सो) निकरै टोटी।

टीका

(हठयोगियों की गति)

इस पद्य में यह भाव योगी के रूपक द्वारा दिखाया गया है कि, हठयोगी योग-क्रियाओं से कुंडलिनी को शोधकर तथा षट्चक्रों और कमलों को बेधकर ब्रह्मांड में प्राणों का आयाम करते हुए समाधिस्थ हो जाते हैं, और महाकाल को भी धोका देने की चिन्ता में सदैव लगे रहते हैं। 'साहू से भौ चोरवा, चोरहु से भौं हीत'। परन्तु स्वरूप ज्ञान से वंचित रहने के कारण ये लोग मुक्ति पद नहीं पा सकते, विपरीत इसके हठ योगी पारदादि सिद्धियों के बल से अपने शरीर को पक्का करके अमर बनाने की धुन में लग कर शरीरान्त होने पर नाना योनियों में भ्रमण करते हैं। राज योगियों से हठ योगियों का पद नीचा है, क्योंकि हठ योग राजयोग का साधन है, इस कारण हठ योगियों को योगिया कहा है। और अज्ञानियों को भी योगिया शब्द से कहा है, क्योंकि ये भी योगी की फेरी की तरह नाना शरीरों में फेरी लगाते रहते हैं।

अथ—

१—देहावसान के अनन्तर हठयोगी तथा अज्ञानी फिर नगरी (शरीर) में चला गया और इसके साथ ही पंच प्राणरूप पाँच नारियाँ भी उस नगरी (शरीर) में जाकर बस गयीं, एवं प्राणों के बसने से इन्द्रियाँ भी बस गयीं। जीव प्राणों का धारण तथा पोषण करता है, अतएव इसकी जीव संज्ञा है "जीवो वै प्राणधारणात्" इस अभिप्राय से प्राणों को नारी

कहा गया है। २—योगी दूसरे देशों में चला गया अब उसका हाल कोई नहीं बतला सकता कि "उन कहाँ कियो है वासा" इतना ही नहीं अब वह योगी फिर लौट कर छोड़ी हुई गुफा में पहले शरीर में नहीं आ सकता है। ३—योगी के निकलते ही उसकी कन्था (शरीर) जल गयी और गुफा की ध्वजा (सांस) टूट गयी। तथा योग दंड (मेरुदंड) और खप्पर (खोपड़ी) भी टूट फूट गया। ४—कबीर साहब कहते हैं कि यह कलि-रूप दुःखदायिनी वासना बड़ी खोटी है, क्योंकि जैसी वासना रहती है, अन्त में वैसी ही गति होती है। अन्ते मतिः सा गति। ठीक ही है "जो रहे करवा सो निकरे टोटी"। भाव यह है कि जिस प्रकार पानी से भरे हुए बधने की टोटी से दूध की धारा नहीं गिर सकती है, इसी तरह देहा-ध्यासी हठ योगी भी शरीरान्त होने पर विदेह मुक्ति नहीं पा सकते हैं क्योंकि जन्मान्तर के देनेवाले वासना-रूपी-बीज इनके हृदय-तल में पड़े रहते हैं। "सिद्ध भया तो क्या हुआ चहुँदिशि फूटी वास। अन्तर वाके बीज है फिर जामन की आस"। और ब्रह्मांड में प्राण निरोध करके सदैव जीते रहने की आशा भी मृगतृष्णा ही है। क्योंकि यह शरीर नश्वर तथा क्षणभंगुर है। "कोटिक जतन करो यहि तन की अन्त अवस्था धूरी हो।" तथा "काँचे वासन टिकै न पानी, उड़ि गौ हंस काया कुम्हिलानी। "बालू के घर वा में बैठे चेतत नाहिं अयाना" "मेरुदंड पर डारि दुलैचा जोगी तारी लावें, सो सुमेर की खाक उड़ैगी कच्चा जोग कमावें।" "अवधू छाँड़हु मन विस्तारा। सो पद गहो जाहि ते सदगति पार ब्रह्म सो न्यारा" इत्यादि।

(६६)

जोगिया[1] के नगर बसो मति कोय, जो रे बसै सो जोगिया होय।
वहि[2]-जोगिया का उलटा ज्ञाना, काला चोला नाहि मियाना।
प्रगट[3] सो कंथा गुपताधारी, ता महँ मूल-सजीवनि भारी।

(६५)

जोगिया फिरि[१] गयो नगर मँझारी, जाय समान पाँच जहाँ नारी।
गयउ[२] देसंतर कोइ न बतावै, जोगिया बहुरि गुफा नहिं आवै।
जरि[३] गौ कंथा धजा गौ टूटी, भजि गौ डंड खपर गौ फूटी।
कहँहिं[४] कबीर इ कलिहै खोटो, जो रहै करवा (सो) निकरै टोटी।

टीका

(हठयोगियों की गति)

इस पद्य में यह भाव योगी के रूपक द्वारा दिखाया गया है कि, हठयोगी योग-क्रियाओं से कुंडलिनी को शोधकर तथा षट्चक्रों और कमलों को बेधकर ब्रह्मांड में प्राणों का आयाम करते हुए समाधिस्थ हो जाते हैं, और महाकाल को भी धोका देने की चिन्ता में सदैव लगे रहते हैं। 'साहू से भौ चोरवा, चोरहु से भौं हीत'। परन्तु स्वरूप ज्ञान से वंचित रहने के कारण ये लोग मुक्ति पद नहीं पा सकते, विपरीत इसके हठ योगी पारदादि सिद्धियों के बल से अपने शरीर को पक्का करके अमर बनाने की धुन में लग कर शरीरान्त होने पर नाना योनियों में भ्रमण करते हैं। राज योगियों से हठ योगियों का पद नीचा है, क्योंकि हठ योग राजयोग का साधन है, इस कारण हठ योगियों को योगिया कहा है। और अज्ञानियों को भी योगिया शब्द से कहा है, क्योंकि ये भी योगी की फेरी की तरह नाना शरीरों में फेरी लगाते रहते हैं।

अर्थ—

१—देहावसान के अनन्तर हठयोगी तथा अज्ञानी फिर नगरी (शरीर) में चला गया और इसके साथ ही पंच प्राणरूप पाँच नारियाँ भी उस नगरी (शरीर) में जाकर बस गयीं, एवं प्राणों के बसने से इन्द्रियाँ भी बस गयीं। जीव प्राणों का धारण तथा पोषण करता है, अतएव इसकी जीव संज्ञा है "जीवो वै प्राणधारणात्" इस अभिप्राय से प्राणों को नारी

कहा गया है। २—योगी दूसरे देशों में चला गया अब उसका हाल कोई नहीं बतला सकता कि "उन कहाँ कियो है वासा" इतना ही नहीं अब वह योगी फिर लौट कर छोड़ी हुई गुफा में पहले शरीर में नहीं आ सकता है। ३—योगी के निकलते ही उसकी कन्था (शरीर) जल गयी और गुफा की ध्वजा (सांस) टूट गयी। तथा योग दंड (मेरुदंड) और खप्पर (खोपड़ी) भी टूट फूट गया। ४—कबीर साहब कहते हैं कि यह कलि-रूप दुःखदायिनी वासना बड़ी खोटी है, क्योंकि जैसी वासना रहती है, अन्त में वैसी ही गति होती है। अन्ते मतिः सा गति। ठीक ही है "जो रहे करवा सो निकरे टोटी"। भाव यह है कि जिस प्रकार पानी से भरे हुए बधने की टोटी से दूध की धारा नहीं गिर सकती है, इसी तरह देहा-ध्यासी हठ योगी भी शरीरान्त होने पर विदेह मुक्ति नहीं पा सकते हैं क्योंकि जन्मान्तर के देनेवाले वासना-रूपी-बीज इनके हृदय-तल में पड़े रहते हैं। "सिद्ध भया तो क्या हुआ चहुँदिशि फूटी वास। अन्तर वाके बीज है फिर जामन की आस"। और ब्रह्मांड में प्राण निरोध करके सदैव जीते रहने की आशा भी मृगतृष्णा ही है। क्योंकि यह शरीर नश्वर तथा क्षणभंगुर है। "कोटिक जतन करो यहि तन की अन्त अवस्था धूरी हो।" तथा "काँचे वासन टिकै न पानी, उड़ि गौ हंस काया कुम्हिलानी। "बालू के घर वा में बैठे चेतत नाहिं अयाना" "मेरुदंड पर डारि दुलैचा जोगी तारी लावें, सो सुमेर की खाक उड़ैगी कच्चा जोग कमावें।" "अवधू छाँड़हु मन विस्तारा। सो पद गहो जाहि ते सदगति पार ब्रह्म सो न्यारा" इत्यादि।

(६६)

जोगिया[1] के नगर बसो मति कोय, जो रे बसै सो जोगिया होय।
वहि[2]-जोगिया का उलटा ज्ञाना, काला चोला नाहि मियाना।
प्रगट[3] सो कंथा गुपताधारी, ता महँ मूल-सजीवनि भारी।

बहि[४]-जोगिया की जुगुति जो बूझै, राम रमै तेहि त्रिभुवन सूझै।
अम्रितबेली[५] छिन छिन पीवै, कहँहिं कबिर सो जुगजुग जीवै।

टीका

(अमृत-वल्ली)

१—योगिया=देहादि प्रपंचासक्त हठ योगी तथा अज्ञानी के, नगर (शरीर) में कोई मत बसो, अर्थात् प्रपंच को छोड़ो, क्योंकि जो इस नगर [प्रपंच] में बसता (पड़ता) है वह योगिया (रमता राम) हो जाता है। भाव यह है कि प्रपंच ही के कारण जीव की दुर्गति होती है। २—इस योगिया (अज्ञानी) की उल्टी समझ है। और दूसरे पक्ष में प्राणों को उलट कर ब्रह्मांड में चढ़ा देना यह हठ योगियों का ज्ञान है। इन योगियों ने अज्ञानता रूप काला चोला ऐसा पहिना है कि वह जरा भी छोटा नहीं है (मझले को फारसी में मियाना कहते हैं; जैसे—मियानाकद) अर्थात् इनका हृदय अज्ञानता से पूरी तरह ढका हुआ है ३—इनकी अज्ञानता रूप कंथा तो साफ ही दीखती है, परन्तु उसको पहनने वाला जीवआत्मा दृष्टिगत नहीं होता है। उसी जीव का स्वरूप (शुद्ध चेतनता) संजीवनि मूरि है "रामसजीवनी मूरी"। भावार्थ—स्वरूपज्ञान होने पर जीवआत्मा जन्म मरण से छूट जाता है।—"अज्ञानता वश वह योगिया बार बार काया-प्रवेश किया करता है" इस प्रकार उसकी युक्ति (अज्ञानता) को यदि कोई समझ ले, तो वह अज्ञान को दूर करके सब में रमे हुए शुद्ध चेतन में स्वयं रमने लगे। अर्थात् आत्मपद को पहुँच जाय तथा तटस्थ साक्षी होकर त्रिभुवन को देखने लगे। ४—कबीर साहब कहते हैं कि यह योगी (जीवआत्मा) यदि अमृत बेली रूप उक्त रामसजीवनी मूरी को खूब घोट घोट कर और छान छान कर सदैव पीता रहै; अर्थात् आत्मचिन्तन में निरन्तर लगा रहै, तो मृत्यु पर विजय पाकर सदैव जीता रहै। भाव यह है कि अध्यास (भ्रम) ही के कारण देहादिकों के जन्म मरणादि धर्मों को यह

जीव अपने में मानकर अपार अन्धकार से भरे हुए दुःख सागर में डूबा रहता है; अनन्तर ज्ञान भानु के उदय होने से जब अपना स्वरूप निर्विकार तथा कूटस्थ रूप (निश्चल) साक्षात् भास जाता है, तब कल्पित जन्म मरणादि रूप बन्धनों से छूट जाता है और जीवन्मुक्ति (जीते जी मुक्ति) हो जाती है। "इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः" जिनको आत्मसाक्षात्कार हो जाता है वे जीते ही मुक्त हो जाते हैं। यदि जीते जी संशय न छूटे तो मर कर मुक्ति को चाहना आकाश के फूल का सूंघना है। "जियत न तरै मुये का तरिहौ जियतहि जो न तरै।"

(६७)

जो पै बीजरूप' भगवान, तो पंडित का पूछहुँ आन।
कहँ मन कहँ बुधि कहँ हँकार,*सतरजतम गुन तीनिप्रकार।
बिष अम्रित फल फरै अनेका, बौधा बेद कहैं तरबेका।
कहँहिं कबिर तैं मैं का जान, कोधौं छूटल को अरुझान।

टि०—[बीजेश्वरवादियों के मत की आलोचना]

बीजेश्वरवादियों का मत यह है कि बीज वृक्षन्याय से सारा संसार लोक विशेष निवासी और चतुर्भुजादिविग्रहधारी ईश्वर का परिणाम (कार्य) है १—यदि बीज रूप भगवान् से उत्पन्न होने के कारण यह विश्व-वृक्ष कार्य और कारण की अभिन्नता से स्वयं भगवान् ही है, तो हे पंडित! आपकी ईश्वर जिज्ञासा व्यर्थ है। इतना ही नहीं विश्वेश्वरान्तः पाति होने के कारण अन्तःकरण चतुष्टय त्रिगुण और शुभाशुभ कर्म इनमें से कोई भी हेय नहीं हो सकता है, एवं व्यक्तिभेद—व्यवहार—व्यवस्था तथा बद्ध मुक्तव्यवस्था भी नहीं बन सकती है, इत्यादि आपत्तिशतजर्जरितांग होने के कारण यह आपका मत—मल्ल सुमल्ल नहीं है।

*पठा०—क. पु. ॐ कारा।

(६८)

जो चरखा[1]* (हो) जरिजाय, बढ़ैया ना मरै,
(मैं) कातौं सूत हजार, चरखुला जनि जरै।
बाबा[2] मोर ब्याह कराव, अच्छा बरहिं तकाव,
जोलौं अच्छा बर ना मीलै तोलौं तुमहि बियाहु।
प्रथमहिं[3] नगर पहुँचते, परिगो सोक सँताप,
एक अचंभव देखिया, बिटिया ब्याहल बाप।
समधी[4] के घर लमधी आये आये बहुके भाय,
गोडे चुल्हा दैदै, चरखा दिये दिढ़ाय।
देवलोक[5] मरिजायँगे, एक न मरै बढ़ाय,
यह मन-रंजन कारने, चरखा दियो दिढाय।

कहँहिं कबीर सुनहु हो संतों, चरखा लखै जो कोय,
जो यह चरखा लखि परै, आवागवन न होय।

टीका

[मन की कल्पना]

१—कबीर गुरु कहते हैं—यद्यपि चरखा रूप शरीर जल जाते हैं, परन्तु उनका बनाने वाल मन बढ़ई नहीं मरता है, इस कारण अपनी कल्पना से नाना शरीर रूप चरखों को बार बार गढ़ा करता है। भाव यह है कि जीव आत्मा मन की कल्पना से कर्मों को करता हुआ उन्हीं के फल-भूत नाना शरीरों को धरता रहता है क्योंकि बिना ज्ञान के मन का नाश नहीं होता है। "माया मरी न मन मरा मरि मरि गये शरीर" स्वर्गादि-लोकों की इच्छा से सकाम कर्म करने वाले कर्मी लोग तथा उपासक योगियों

* इसमें अमृतकुंडली, रोलाविशेष, दोहा और हरिपद—छन्द का मिश्रण है।

कोतो सदैव यही इच्छा रहती है कि हमारा चरखा सदा बना रहै जिससे कि हम कर्मों के द्वारा स्वर्गादि में तथा योग द्वारा सहस्रार [सहस्र दल कमल] में पहुँच जायँ २—अब पूरे अज्ञानियों की कथा सुनिये, जो कि वंचक गुरुओं के दिये हुए मुक्तिग्रास के लिये सदैव मुँह बाये रहते हैं, पर स्वयं कुछ भी विचारादि करना नहीं चाहते हैं यह कथा कन्या विवाह के रूपक द्वारा बतायी जाती है। वे लोग उक्त गुरुओं के चरणों में गिर कर सदैव यही प्रार्थना किया करते हैं कि हे बाबा (गुरु) किसी अच्छे वर = दुलहा (दूसरे पक्ष में) देवता से मेरा विवाह (प्रेम करा दो)। और जब तक कोई अच्छा वर नहीं मिलता तब तक तुमही मुझको ब्याह लो। भाव यह है मिथ्या मुक्ति के भूखे "तन मन धन सब गुरुजी के चरणा" रखकर उनके अधीन हो जाते हैं। ३—उक्त अन्धे गुरुओं के पीछे लगा हुआ अन्धा शिष्य फिर उसी पहली नगरी—[प्रपंच] में पहुच गया जिसमें कि यह रहने से बहुत दुखी हो रहा था। अनन्तर वहाँ पहुँचतेही जीवात्मा नाना शोक और सन्तापों में पड़ गया। भाव यह है कि पाखण्डियों के संग से जीवात्मा प्रपंच पंक में फंस जाता है। कबीर साहब कहते हैं कि यह एक भारी अचम्भा हमने देखा है कि उक्त गुरुओं की कृपा से पिता (जीव —आत्मा) ने अपनी बेटी (अविद्या) को ब्याह कर स्त्री बना लिया है, अर्थात् पूरा अज्ञानी बन गया है। ४—(यह बात वहाँ पर जान लेना चाहिये कि वर और वधू के पिता परस्पर समधी कहलाते हैं, और समधियों के भाई परस्पर लमधी कहाते हैं।) इसके बाद अज्ञानियों का दुर्गुण-सम्मेलन उक्त गुरुजी के सभापतित्व में होने लगा। समधी (विवेक) के घर (जगह) पर लमधी [अविवेक] चले आये और वधू (अविद्या) का भाई कुविचार भी आ गया। अनन्तर सबों के उपस्थित होने पर उक्त गुरु—बाबा ने देहात्मवाद पर यह भाषण सुनाया—

"जो कछु है सो देहरे भाई ताका सेवन करो बनाई।
इन्द्रिन भोग भली विधि दीजै बहुत-विचार काहे का कीजै।

मरै फेर को जन्मै आई जन्मेको कोइ देखा भाई।
बहुरि जन्मना मिथ्या मानो जीव-ब्रह्म मिथ्या सब जानो।
पांच तत्व की देह बनाई अन्त पांच में पांच समाई।
जैसे वृक्ष से पत्र झराई बहुरि वृक्ष में लगै न जाई।
औरहि पत्र वृक्ष से निपजै तैसेहि जगजोनी जिव उपजै।
पांच तत्व को वृक्ष अनादी तामें उपजत बिनसत सादी।
ताते कहा हमारा मानो बोध-विचार संसकरिजानो।

(पंचग्रन्थी)

एवं "न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः। नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः" ॥ अतः "यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणंकृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः" ॥ जब तक जिये सुख से जिये, करज ले ले कर घी को पानी की तरह पीता रहै, क्योंकि जल बल कर खाक हुए शरीर का फिर आना कहाँ है।" इस प्रकार गुरुबाबा ने यह उपदेश देकर और नाना युक्तियों से देहात्मवाद को पुष्ट करके चरखा रूप देह देवता की भक्ति में सबों को लगा दिया। इस प्रकार अज्ञानियों को देहासक्ति में डाल देना तो मानों उनके गोड़ों (पैरों) को चूल्हे में दे देना है। अर्थात् जिस प्रकार पैरों के बिल्कुल जल जाने से उत्तमगति [गमन] नहीं होती है इस प्रकार देहात्मवादियों की भी उत्तम गति नहीं होती।

५—यह तो देहात्मवादियों का हाल हुआ, अब कर्मी और योगियों की दशा सुनिये। हे भाइयो! जिन लोकों के लिये आप लोगों ने भारी कष्ट उठाया है, स्वर्गादिक लोक तो आपके क्षीण-पुण्य के साथ ही नष्ट हो जायँगे, परन्तु यह आपका मन बढ़ई तो फिर भी न मरेगा। आप लोग क्यों धोके में पड़े हैं। ये सब स्वर्गलोक और सत्यलोकादिक तो आप ही के मन की कल्पनाएँ हैं। "लोक कहूँ तो लोको नाहीं। लोकौ आहि काल की झाँई।" [अमरमूल]। सिर्फ झूठे सुख के भूखे आपके मन को प्रसन्न करने के लिये नाना लोकों की कल्पना रूपी चरखे के फेर में उसको

डाल दिया है, जिससे कि "कबहुँक ऊँचे कबहुँक नीचे" हुआ करे। ६—कबीर साहब कहते हैं कि विरले पुरुष मन की कल्पनाओं को चरखा रूप जानते हैं। अर्थात् वे सब उक्त लीलाएँ मनही की हैं ऐसा जान लेना कठिन है। जो इन कल्पनाओं को तथा मन को पूरी तरह पहचान लेता है वह संसार से पार हो जाता है।

(६६)

जंत्री[1] जंत्र अनूपम बाजै, (वाके[2]) अष्ट-गगन मुख गाजै।
तूहीं[3] बाजै तूहीं गाजै, तूहिं लिये कर डोलै॥
एक-सब्द[4] महँ राग छतीसौं, अनहद बानीं बोलै।
मुख को नाल स्रवन को तुंमा, सतगुरु[5] साज बनाया॥
जीभिके तार नासिका चरई, माया (का) मोम लगाया।
गगन-मँडल महँ भौ उजियारा, उलिटा[6] फेर लगाया॥
कहँहिं कबिरजन भये बिबेकी (जिन्हि) जंत्री सों मन लाया।

टि०—[शब्द और शब्दी का विवरण]

१—यन्त्र बजाने वाला, शब्दी, चेतन देव। २—उक्त शब्दी का बजाया हुआ जंत्र=वैखरी-शब्द, तथा अनाहत-शब्द सुन्दर स्वर से बजता है, और वर्णों के आठों स्थान रूपी गगन में प्रतिध्वनित होता हुआ वैखरी शब्द मुख में आकर गरजता है। एवं अनाहतशब्द भी अष्टम—गगन=सुरति—कमल के द्वारा गरजता है; अष्टौ स्थानानि वर्णाना मुरः कंठः शिरस्तथा, जिह्वामूलंच दन्ताश्च नासिकोष्ठौच तालु च। [शिक्षा] भजन—"सुनता है गुरु ज्ञानी, गगन में अवाज हो रही झीनी"। ३—वस्तुतः विचारा जाय तो चेतन ही बाजता है और गाजता है, क्योंकि जड़ स्वयं कार्य करने में असमर्थ है। ४—"आत्म बुध्या समेत्यार्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया" इत्यादि कथन से पराशब्दादि द्वारा आत्मा स्वयमेव छः राग

अ र छत्तीस रागिनियों और ब्रह्माण्डोद्भव दिव्य अनाहत शब्द रूप वाणी को बोलता रहता है। ५—साहब ने यह नरतन रूपी एक विलक्षण (चलता फिरता) साज (बाजा) तम्बूरा बनाया है। जिसमें मेरुदंड से सम्बद्ध—मुखरूपी नाल [तम्बूरे की डंडी] लगी हुई है और तुम्बारूपी कान है। एवं जिह्वा रूपी तार, तथा नासिका रूपी तार की खूँटी लगी हुई है। उक्त तम्बूरे के छिद्रों को बन्द करने के लिये माया रूपी मोम का उपयोग किया गया है। भाव यह है कि शब्द और ब्रह्माण्डोद्भव-भौतिक ज्योति, माया से उत्पन्न एवं सुरक्षित होने के कारण मायिक हैं, अतः इन मायिक यन्त्रों (बाजों) की रसीली तानों में न भूलकर यन्त्री (चेतन-देव) का परिचय प्राप्त करना चाहिये। ६—योगी लोग श्वासा को उलट कर ब्रह्माण्ड में निरुद्ध कर देते हैं, इस कारण वहाँ पर ज्योति का प्रकाश हो जाता है। कबीर साहब कहते हैं कि जो यन्त्री से प्रेम करते हैं वेही विवेकी हैं। "कहैं कबीर सुनो नरलोई भुतवा के पुजले भुतवा होई।" भजन—"यह तन ठाठ तम्बूरे का"।

(७०)

जस[1] मस पसकी तस मस नलकी, रुधिर रुधिर एक सारा (जी)
पसुकी मांसु भखैं सभ कोई, नलहिं न भखै सियारा (जी)
ब्रह्म-कुलाल[2] मेदिनी भइया, उपजि बिनसि कित गइया (जी)
मांसु मछरिया तौ पै * खइये, जौ खेतन्हि मँह बोइया (जी)
माटी[3] के करि देवी देवा, काटि काटि जिव देइया (जी)
जो तुहरा है सांचा देवा, खेत चरत क्यों न लेइया (जी)
कहँहिं[4] कबीर सुनहु हो संतो, रामनाम निज लेइया (जी)
जे किछु कियहु जीभ के स्वारथ, बदल पराया देइया (जी)

---

* ग० पु०तैं पै खइया ज्यों खेतन मों बोइया जी।

टि०—[मांसभक्षण विचार]

१—मनुष्य और पशुओं के शरीरों में मांस और रुधिर आदिक की समानता होते हुए भी पशुओं के अंग-प्रत्यंग सर्वोपयोगी होते हैं। और मनुष्य के मृत शरीर को तो सियार भी अत्यन्त रुचि से (चाव से) नहीं खाते हैं। ऐसी दशा में निरुपयोगी अपने मांस की पुष्टि के लिये परोपयोगी पशुओं को मारकर खा जाना कितना अनर्थ है। २—ब्रह्मारूपी कुम्हार ने पृथ्वी पर अनेक प्राणियों की सृष्टि की है। भाव यह है कि जिस प्रकार एक किसान की पकी हुई खेती को काट लेने का अधिकार दूसरे किसान को नहीं है, इसी तरह विरंचि—(ईश्वर) विरचित मछली आदिक प्राणियों को मारकर खा लेने का स्वत्व (हक्क) किसी भी मनुष्य को नहीं है। हाँ यदि शाकभाजी की तरह मांस और मछलियों को भी खेतों में बोकर पैदा कर सकें तो अवश्य ही उनको खाने का अधिकार हो सकता है। ३—देवबलिरूप से पशुवध करना भी लोकवञ्चना करके स्वरसनास्वादन करना ही है; क्योंकि देवता सबों के रक्षक होते हैं, भक्षक नहीं। यदि थोड़ी देर के लिये यह भी मान लिया जाय कि मिट्टी के बनाये हुए देवी और देवता सच्चे होते हैं; और वे सचमुच पशुओं के खून के प्यासे होते हैं; तो भला यह तो बतलाइये कि "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्" के अनुसार वे स्वयं (समर्थ होते हुए भी) पशुओं को पकड़कर क्यों नहीं खा लेते हैं ? ४—कबीर साहब कहते हैं कि इस अभक्ष्य-भक्षण को छोड़कर राम को भजिये। जिह्वा के स्वाद से जो घोर पाप (जीव-हिंसा) किया जाता है, उसके बदले में अपनी गरदन देनी पड़ेगी, और नर्क भी भोगना पड़ेगा। साखी—'खुश-खाना है खीचड़ी मांहिं पड़ा टुक नोन ! मांस पराया खायके, गला कटावे कोन ॥ तिलभर मच्छी खायके कोटि गऊ दे दान। काशी करवत लै मरे तौ भी नरक निदान"॥

(७१)

चात्रिक[1] ! कहा पुकारौ दूरी, सो जल जगत रहा भरपूरी।
जेहि जल नाद बिंदुका भेदा, षट-कर्म सहित उपाने बेदा।

जिहि-जल[२] जीव-सीव का बासा, सो जलधरनी अँमर प्रगासा।
जिहि-जल उपजल सकल-सरीरा, सो जल भेद न जाने कबीरा।

टि०—[चेतन की व्यापकता का विचार]

इस पद्य में तटस्थेश्वर (स्वविजातीयेश्वर) उपासकों का चातक (पपीहा) रूप से, तथा आत्म-देव का जल रूप से वर्णन किया गया है। १—हे उपासक रूप चातको ! आप लोग अतिनिकट रहने वाले आत्म-देव को भ्रम से दूर समझ कर क्यों पुकार रहे हैं। वह आत्म-जल तो सर्वत्र ही भरपूर है। "तज्जलानि शान्त उपासीत" यह श्रुति का वचन है। "नियड़े न खोजै बतावै दूरि, चहुँदिसि बागुरि रहलि पूरि" (बीजक) भजन—है नियड़े तेहि दूरि बतावै दूर की आस निरासी। सन्तो पानी में मीन पियासी। देखि देखि आवै मोहि हांसी। सन्तो। २—जिस शुद्ध-चेतन के आश्रित शबलित (औपाधिक) जीव और ईश्वर हैं। "मायाख्यायाः कामधेनो धेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ"। और जिस आत्मा से वियदादिक्रम से निखिल सृष्टि हुई है। "एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इत्यादि। और जिस आत्मा से षट्कर्मादिप्रतिपादक वेदों का आविर्भाव हुआ है। "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसित मेतदृग्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चेति" और जिस आत्मा से परस्पर विभक्त पवन तथा शरीरोपादान भूत रज और वीर्य्य की रसादिक क्रम से सृष्टि हुई है। एवं जिस आत्मा से पूर्वोक्त—क्रमानुयात निखिल कार्यों का निर्माण हुआ है; उस आत्म-देव के रहस्य (स्वरूप) को अज्ञानी (उपासक) नहीं समझते हैं। भावार्थ—"जा खोजत कल्पौ गये घट ही माहिं सो मूरि। बाढ़ो गरब गुमान ते, ताते परि गयो दूरि"। (बीजक)

(७२)

चलहु का टेढ़ो टेढ़ो टेढ़ो।
दसहूँ[१] द्वार नरक भरि बूड़े, तू[२] गंधी को बेढ़ो॥

फूटे[२] नयन हिदय नहिं सूझै, मति एकौ नहिं जानी।
काम क्रोध त्रिस्ना के माते, बूड़ि मुयहु बिनु[४] पानी॥
जो जारे तन होय भसम धुरि, गाड़े क्रिमि-किट खाई।
सीकर †स्वान कागका भोजन, तन की इहै बड़ाई॥
चेति न देखु मुगुध नल बौरे,[५] तोहिते काल न दूरी।
कोटिक जतन करहु यह तनकी, अन्त अवस्था धूरी॥
बालूके घरवा महँ बैठे, चेतन नाहिं अयाना।
कहाँह कबिर एक राम भजे बिनु, बूड़े बहुत सयाना[६]॥

टि०—शरीर की असारता और विनाशिता का वर्णन]

१—"झरना झरै दसौंदिसि द्वारा"। २—ऐ मनुष्य! तू सचमुच दुर्गन्धि का रक्षक कोट रूप ही है। ३—"ऊपर की दोऊ गई हियहु कि गई हिराय। कहँहि कबिर चारिउँ गईं ताकर काह बसाय"। ४—बिना पदार्थ के। (मिथ्या भ्रम से) मृत-शरीर भस्म, क्रिमि-कीट, और विड्रूप में परिणत हो जाता है। ५—ऐ प्रमादी अज्ञानियो!। "सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः शरीरकस्यापि कृते मूढाःपापानिकुर्वते"। ६—चतुर। "चतुराई चूल्हे परो जो नहिं शब्द समाय। कोटिन-गुन सूवा पढ़ै अन्त बिलैया खाय"। सीकर=सियार। मुगुध=अज्ञानी। मुग्धः सुन्दर-मूढयो (अमर)।

(७३)

फिरहु[१] का फूले फूले फूले।
जब दस-मास अउँध मुख होते, सो दिन काहे (को) भूले।
जौं माखी सहते* नहि बिहुरे,[२] सोंच सोंचि धन कीन्हा।
मुये पिछे लेहु[३] लेहु करैं सब, भूत रहनि कस दीन्हा।

+पाठा० मोर। †ग० पु० सूकर।
* क० पु० साठो।

जारे देह भसम होइ जाई, गाड़े माँटी खाई।
कांचे कुंभ उदक जौं भरिया, तनकी इहै बड़ाई।
दैहरि लौं बर-नारि संगि है, आगे संग सुहेला[४]।
अ्रितक[५]-थान लौं संग खटोला[६], फिरि पुनि हंस[७] अकेला।
राम न रमसि मोह के माते, परेहु काल बसि कूवा[८]।
कहँहिं[९] कबिर नल आपु बँधायो, जो ललनी-भ्रम सूवा।

टि०—[भारी-भ्रम]

१—अपने शरीर की सुन्दरता और यौवन के गर्व से प्रमत्त होकर क्यों फिर रहे हो, सुनो! भजन-"जोवन धन पाहुँना दिन चारा, याको गरब करै सो गँवारा। पशु-चाम की बनत पन्हैयां, नौबत मढ़त नकारा। नर तेरी चाम काम नहिं आवे, जर बर होसी छारा। जोबन धन। इत्यादि। २—बिहुरै=स्वयं नहीं खाती हैं। ३—मुर्दे को जल्दी उठा ले चलो। ४—सखा (इष्ट-मित्र) ५—श्मशान। ६—खटिया वगैरह (रथी) ७—जीव-आत्मा। ८—नर्क कूप में पड़ गया। ९—कबीर साहब कहते हैं कि हे अज्ञानी नर! तू अपनी अज्ञानता के कारण इस प्रकार बंध गया है, जिस तरह सूवा (तोता) धोके से ललनी में फँस जाता है। ललनी= बांस की बनी हुई चरखी।

(७४)

ऐसो[१] जोगिया बद करमी जाके, गगन अकास न धरनी।
हाथ[२] न वाके पाँव न वाके, रूप न वाके रेखा।
बिना हाट हटवाई लावै, करै बयाई—लेखा।
करम[३] न वाके धरम न वाके, जोग न वाके जुगुती।
सिंगि-पत्र किछुवी नहिं वाके, काहे को माँगै भुगुती।
मैं[४] तोहि जाना, तैं मोहि जाना, मैं तोहि-माँहि समाना।
उतपति परलै किछुवौ न होते, तब कहु कवन (ब्रह्म)कोध्याना।

जोगी[५]* एक आनि ठाढ़ कियो है, राम रहा भरि पूरी।
औषध-मूल किछौ नहिं वाके, राम सजीवनि-मूरी।
नटबट[६] बाजा पेखनि पेखै, बाजीगर की बाजी।
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, भई सो राज-बिराजी।

टि०—(जीव-आत्मा के स्वरूप का परिचय)

शब्दार्थ—योगिया=हीन-योगी (जीव-आत्मा)। बदकर्मी=कुचाली। हटवाई=बाजार। बयाई-लेखा=व्यापार का हिसाब। सिंगी=नाद बजाने के लिये मृग का सींग। पत्र=खप्पर। मूरी=जड़ा। नट-बट बाजा=नट के बाजे के समान। पेखनी=दृश्य को। बाजीखेल। सो=माया। राज-बिराजी=बेदखल।

व्याख्या—१-यह जीव आत्मा वस्तुतः ऐसा है कि जिसके न आकाश है न अन्तरिक्ष, और न धरणी आदिक ही है, अर्थात् यह अभौतिक है। २—जीवात्मा रूपी बनिये के रूप और आकार कुछ नहीं है। और न स्थायी बैठने को आधार भूत कोई हाट ही है, न हाथ और पैर ही हैं। तिसपर भी नाना-प्रपंच रूपी बाजार लगाया करता है। और हिसाब किताब [उधेड़-बुन] भी सदैव किया करता है। ३—यह जीव-आत्मा ऐसा विलक्षण योगी है कि इसके योग-कर्म और तज्जन्यफल (समाधि-लाभादिक) कुछ भी नहीं है, न कोई योग युक्ति ही रखता है। एवं सींगी और भिक्षापात्र इसके पास नहीं हैं, तिस पर भी यह कुचाली योगिया, भोग-भिक्षा मांगता फिरता है, यह कैसा आश्चर्य है। ४—मुक्ति के लिये तो केवल इतना ही पर्याप्त है कि "मैं" और "तू" की यथार्थता को जान लिया जाय। "मैं और तू" यही द्वैत और आवर्ण है, जो कि निजरूप पर

* ग० पु० जोगी आन एक ठाठ कियो है। जोगिया ने एक ठाढ़ कियो है।

भारी परदा है। "मैं अरु मोर तोर ते माया"। "मोर तोर की जेवरी बटि बाँधा संसार।"

५—इस योगिया ने अपनी अज्ञानता के कारण मिथ्या प्रपंच रूप यह महा व्याधि स्वयं उत्पन्न करली है, वस्तुतः नित्य-सिद्ध राम तो सर्वत्र ही भरपूर हैं। उक्त अज्ञानी योगिया, अतएव रोगिया जीव-आत्मा के भवरूप रोग की निवृत्ति के लिये परम-औषध रामरूप का परिचय ही है। यह निज रूपका बोध "अमृत संजीवनी" जड़ी है। ६—अब माया की निवृत्ति का उपाय बताते हैं—पेखनी = (दृश्य-प्रपंच) विषयों को नट के बाजे के समान (अपनी ओर आकर्षित करने वाले) समझे। और माया को बाजीगर की बाजी (खेल) के समान (मिथ्या) समझे। कबीर-साहब कहते हैं कि इस प्रकार समझने से वह माया राज-बिराजी (अधिकार-रहित) हो जायगी। भाव यह है कि माया रूपी ठगनी की ठगौरी को ठीक ठीक जान लेने से वह लज्जित हो जाती है, अतएव फिर कभी (ज्ञानियों के) सामने नहीं आती है। "माया तो ठगनी भई ठगत फिरै सब देस। जा ठगने ठगनी ठगी, ता ठग को आदेस"। "गई ठगौरी (जब) ठग पहिचाना"।

(बीजक)

(७५)

ऐसो[1] भरम-बिगुरचन भारी।
बेद कितेब दीन[2] औ दोजक[3], को पुरुषा को नारी।
माँटी के घट साज बनाया, नादे बिंदु समाना।
घट बिनसे का नाम धरहुगे, अहमक[4] खोज (त)भुलाना।
एकै तुचा हाड़ मल मूत्रा, एक रुधिर एक गूदा।
एक बूँद सों सिस्टि कियो है, को ब्राह्मन को सूद्रा।
रजगुन[5] ब्रह्मा, तमगुन संकर, सत्तगुना हरि सोई।
कहँहिं कबीर राम रहिये[6] रमि, हिन्दू तुरुक न कोई।

टि०—[एक-जाति (मनुष्य-जाति) वाद]

१—भ्रम रूपी भारी फन्दा लगा हुआ है। २—धर्म (स्वर्ग) ३—दोजख=नर्क। ४—मूर्ख-जन सत्य-पथ से विचलित हो गये। ५—वस्तुतः रजः-प्रधान-मनुष्य ही 'ब्रह्मा' हैं, क्योंकि "चलञ्च रजः" इस सिद्धान्त के अनुसार रजोगुण क्रिया शील है। और तमःप्रधान-नर शंकर हैं, क्योंकि तमोगुण कार्यों का लयकारी है। एव सत्व-प्रधान-मनुष्य हरि-रूप हैं, क्योंकि ज्ञान-प्रकाश और सुखादिकों की अभिवृद्धि सत्वगुणोद्रेक ही से होती है। ६—कबीर-साहब कहते हैं कि आप लोग इन दोनों जातियों में समान रूप से रमने वाले निज रूप "राम" का साक्षात्-करिये। वस्तुतः हिन्दू और तुरुक ये दोनों ही जातियाँ बनावटी हैं। "हिन्दू तुरुक कहाँ ते आया किन यह राह चलाई"। सच्ची तो एक मनुष्य जाति है, क्योंकि जो आकृति को देखते ही जान ली जाय वही जाति है। "आकृति-ग्रहणा जातिः" (वार्तिक)

(७६)

अपन[1] पौ आपुही बिसरो।
जैसे[2] सुनहा कांच मँदिल महँ, भरमते भूँसि मरो (रे)
जौं केहरि बपु निरखि कूप-जल, प्रतिमा देखि परो (रे)
वैसे ही गज फटिक सिला पर, दसनन्हि आनि अरो (रे)
मरकट मूँठि स्वाद नहि बिहुरै, घर घर रटत फिरो (रे)
कहँहिं कबिर ललनी के सुगना, तोहि कवने पकरो (रे)

टि०—[निज-भ्रम—विचार]

१—अपने आपको। २—जैसे काँच के महल में घुसा हुआ कुत्ता अपने प्रतिविम्बों को सच्चे कुत्ते समझ कर भूँकते भूँकते मर गया, और जैसे सिंह कुएँ में अपनी परछाहीं देखकर कूद पड़ा, और जैसे स्फटिक शिला पर बार बार आक्रमण करने वाला हाथी पराहत हो गया, और जिस

प्रकार तंग बरतन में फँसी हुई मूँठी को नहीं छोड़ने वाला बन्दर बन्धन में पड़ गया, और जिस तरह बाँस की नलिका पर बैठा हुआ तोता पकड़ा गया; इसी प्रकार यह जीव-आत्मा अपने ही भ्रम से आप ही माया के फन्दे में पड़ गया। "स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्वियुच्यते"। बिहुरै= छोड़ना। ललनी=बांस की नली, (फोंकी)

(७७)

आपन[1] आस* किजै† बहुतेरा, काहु न मरम पाव हरि केरा।
इन्द्री कहाँ करैं बिसरामा, (सो)[2] कहाँ गये जो कहत होते रामा।
सो कहाँ गये जो होत सयाना[3], होय अितक[4] वहि पदहिं समाना।
रामानन्द रामरस[5] माते, कहँहिं कबिर हम कहि कहि थाके।

टिप्पणी—[स्वावलम्बन-विचार]

१—'नात्मानमवमन्येत' (मनु) २—ज्ञानहीन-नामोपासक न जाने किस गति को पहुँचे।। अथवा दैष्टिक नर (प्रारब्धवादी)। ३—मिथ्या अभिमानी। ४—जीवन्मृतक (निरहंकार) होने से निजरूप की प्राप्ति होती है। ५—केवल राम नाम के उपासक रामानन्द-जन केवल राम-नाम के जपरूप-रस को पीकर मतवाले हो रहे हैं। कबीर साहब कहते हैं कि हम उनको उपदेश देते देते थक गये कि "राम के कहै जगत गति पावै खांड़ कहै मुख मीठा" तथा बिनु देखे बिनु अरस परस बिनु नाम लिये का होई। धन के कहै धनिक जो होवे, (तो) निरधन रहै न कोई। इत्यादि। सूचना—इस पद्य में स्वावलम्बन का मंडन और परावलम्बन खंडन किया गया है अतः 'रामानन्द' पद से उक्तार्थ ही विवक्षित है। श्रीयुत स्वामी रामानन्द जी इस प्रसंग में विवक्षित नहीं हैं। क्योंकि इस ग्रन्थ में माते पद सर्वत्र खंडन परक है। यथा "सबही मद-माते कोइ न जाग" इत्यादि।

---

* क० पु० आपन अस। † ख० पु० किये।

(७८)

अब[1] हम जानिया हो, हरि बाजी का खेल।
डंक बजाय दिखाय तमासा, बहुरि हुक* लेत सकेल।
हरिबाजी सुर-नर-मुनि जहँडे, माये चाटक लाया।
घरमहँ डारि सभै भरमाया, हृदया ज्ञान न आया।
बाजी[2] झूँठि बाजिगर साँचा, साधुन की मति ऐसी।
कहँहिं कबिर जिन्हि जैसी समुझी, ताकी गति भौ तैसी।

टि०—[ज्ञानोदय-दशा का वर्णन]

१—सद्गुरु द्वारा ज्ञान प्राप्त होने पर जिज्ञासु जन कहते हैं कि "अब हम जानियो हो'। "गुरू मिला तब जानिये, मिटै मोह तन ताप। १—हर्ष शोक व्यापै नहीं तब गुरु आपै आप"। बाजी (माया-खेल) डंक (डंका) सकेल (समेटना) जहँड़ें (भ्रम में पड़ गये) चेटक (तमाशा या जादू) २—"खेल झूठे है और खिलाड़ी सच्चा है यह सन्तों का निश्चय है। सद्गुरु कहते है—जो जैसा निश्चय करता है वह वैसा ही फल पाता है। फलतः जो माया को सत्य समझता है वह उसमें अनुरक्त होकर भव-धार में बह जाता है। "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः"।

(७९)

कहु हो अँमर[1] कासों लागा चेतनि हारे चेतु सुभागा।
अमर[2] मध्ये दीसै तारा इक चेतै दुजे चेतवनि हारा।
जो[3] खोजहु सो उहवाँ नाहीं सो तो आहि अमर-पद माहीं
कहँहिं कबिर पद बूझै सोई मुख[4] हृदया जाके एकै होई।

टि०—[शून्यवाद निराश तथा आत्मोन्मुखता]

१—हे अमर जीव ! तू किस अनात्म प्रपंच में लग गया है। दूसरे पक्ष में, तू अम्बर (आकाश, शून्य) को तत्व क्यों समझता है। कहँहिं

*पाठा०—ख० पु० बहुरि सो।

कबिर खोजै असमाना" २—जिस तरह आकाश में तारे दीखते हैं, इसी प्रकार हे अमर ! ये सब ज्योतिः प्रकाश आदिक तेरे (चेतन) ही अंतर्गत हैं। गुरु और शिष्य भाव भी तुझ ही में है। ३—जिस तत्व (निजरूप) को तू अनात्म पदार्थों में ढूँढ़ता है, वह वहाँ नहीं है; किन्तु अमर पद (आत्मा, अपने) में है। ४—"जैसी कहै करै पुनि तैसी' यह उत्तम-अधिकारी का लक्षण है। पद, (निजपद, स्वरूप)

(८०)

बन्दे करिले आपु-निवेरा[1]।

आपु जियत लखु आपु ठवर करु, मुये कहाँ घर तेरा॥
यहि अवसर नहिं चेतहु प्रानी, अंत कोई नहि तेरा।
कहँहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, कठिन काल का घेरा॥

टि०—(जीवित-मुक्ति-विचार)

१—अपरोक्ष ज्ञान। अन्वय—जियत आपु लखु। ठवर=स्थिति 'यहि अवसर (जीतेजी) "यावत्स्वस्थमिदंशरीरमरुजमित्यादि" घेरा=आक्रमण।

(८१)

ऊ तोरहु ररा ममा की भाँती हो।
सभ संत उधारन चूनरी[1]॥
बालमीकि* बन बोइया, चूनि लिया सुखदेव।
करम बिनौरा हो रहा, सुत कातहिं जैदेव[2]॥
तीनि[3] लोक ताना तनो, ब्रह्मा बिसुन महेस।
नाम लेत मुनि हारिया सुरपति सकल-नरेस॥
बिनु[4] जीभे गुन गाइया, बिनु बस्ती का देस
सूने[5] घरका पाहुना, कासों लावै नेह॥

* छन्द दोहा।

चारि-वेद कैंडा कियो, निरंकार कियो राछ।
बिनै कबीरा[1] चूनरी (मैं) × नान्हनि बाँधल बाछ ॥*

टि०—[सुगम—भक्ति (रामनामोपासना) का विचार]

१—सन्तों ने सबों के उद्धार के लिये रामनाम की चुनरी बनायी है; परन्तु उसको ओढ़कर वेही सुरक्षित रह सकते हैं जो रकार और मकार की तरह निज रूप (राम) से मिले जुले रहते हैं। "बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव इव सहज संघाती' (रामायण)। भाव यह है कि ज्ञानपूर्वक राम को भजने वाले ज्ञानी भक्त ही मुक्त होते हैं। २—अब राम नाम की चुनरी के बनने का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया जाता है। (बन) कपास की खेती। करमा बाई ने बिनोले अलग किये अर्थात् कपास को ओंटा और जयदेवजी भक्त ने सूत को काता।

३—अनन्तर ब्रह्मा विष्णु और महेश, अर्थात् राजसी, सात्विकी और तामसी सभी कोटि के लोग तीनों लोकों में, अर्थात् सर्वत्र रामनाम को जपने लगे। यह जापरूप ताना बाना सब जगह फैल गया। ४—उक्त मनुष्यों में अधिक संख्या तो ऐसे ही लोगों की है जो राम की बस्ती और देश को जाने बिना ही (अर्थात् राम के पूर्ण परिचय के बिना ही) केवल महिमा सुन सुन कर बिन जिह्वा के (अजपा जाप द्वारा) उसके गुणों का गान करते हैं। "अन्तर्जपन्ति ये नाम जीवन्मुक्ता भवन्ति ते (महारामायणे शिववाक्यम्) ५—"बिनु देखे जो नाम जपतु है सो तो रैनिका सपनाजी" इस कथन के अनुसार अज्ञानी नामोपासक सूने घर के पाहुँन हैं। ६—कबीरा = नामोपासक लोग विहित वैदिक क्रिया रूप कैंड़ा बनाकर अर्थात्

× क० ग० पु० मैं नहि बाँधल बारि।

*सूचना—इस शब्द में पाठ-भेद अधिक हैं। जैसे तूतो ररा ममा की भाँति हो। ऊतोरहु ररा ममा। तूतो ररा रमा की भाँति हो। वो ररा रामा की भाँति हो।

प्रथमतः शुभ क्रिया रूप सूत्र को व्यवस्थित करके और निराकार रूप मन का राछ (साधन) बनाकर रामनाम की चुनरी को बिनते हैं, परन्तु "नान्हनि बाँधल बाछी" चुनरी की दोनों किनारियों को अच्छी तरह नहीं बाँधते। भाव यह है कि बिना निर्विशेष ज्ञान के निर्गुण सगुण द्वैत और अद्वैत नहीं मिट सकते हैं।

(८२)

तुम[1] यहि बिधि समुझहु लोई, गोरी मुख मंदिर बाजै।
एक[2] सगुन षट-चक्रहिं बेधै, बिना त्रिषभ कोल्हु माँचै।
ब्रह्महि पकरि अगिनि महँ होमै, मच्छ गगन चढ़ि गाजै।
नितै[3] अमावस नितै ग्रहन हो(इ), राहु ग्रास नित दीजै।
सुरही-भच्छन करत बेद-मुख, घन बरिसे तन छीजै।
त्रिकुटि-कुंडल-मधि[4] मन्दिरबाजै, औघट अंमर छीजै।
पुहुमि के पनिया अंमर भरिया, ई अचरज को बूझै।
कहँहिं[5] कबीर सुनहु हो सन्तो, जोगिन सिद्धि पियारी।
सदा रहै सुख संजम अपने, बसुधा आदि कुमारी।

टीका

(योगी माते योगध्यान)

१—कबीर साहब कहते हैं कि जिज्ञासुओ! आप लोग योगियों की लीला को सुनकर समझिये। गोरी = कुंडलिनी-शक्ति के मुख रूपी मन्दिर में अर्थात् नाभी कमल में पराशब्द रूपी बाजा बजता रहता है। यही पराशब्द पश्यन्ती तथा मध्यमा रूप में परिवर्तित होता हुआ अन्त में बैखरी बन जाता है। २—त्रिगुण फाँस में पड़ा हुआ यह योगियों का मन अकेला प्राणायाम क्रिया से षट्-चक्रों को बेध देता है। अनन्तर सब चक्रों के मार्ग को तय करता हुआ ब्रह्मांड में पहुँच कर ज्योति का उद्घाटन कर देता है। षट्चक्र और उनके स्थान—

नाम।		स्थान।
१—आधार—चक्र।	—	गुदा—स्थान।
२—स्वाधिष्ठान—चक्र।	—	लिंग—स्थान।
३—मणिपूरक—चक्र।	—	नाभी—स्थान।
४—अनाहत—चक्र।	—	हृदय—स्थान।
५—विशुद्ध—चक्र।	—	कंठ—स्थान।
६—आज्ञा—चक्र।	—	भ्रुकुटी—स्थान।

इन योगियों की लीला विचित्र है, इनके यहाँ बिना बैल के कोल्हू (कुंडलिनी) का संचलन होता रहता है ये लोग सबके जनक ब्रह्मा [रजोगुण] को पकड़ कर योगाग्नि में जला देना चाहते हैं तथा संसार सागर में विहरने वाला इनका मन रूपी मत्स्य ब्रह्मांड में चढ़कर दश अनहद शब्द रूप से 'गाजै' गरजता रहता है। भाव यह है कि सार शब्दादिक नाम वाले सम्पूर्ण शब्द मिथ्या हैं, क्योंकि वे संघर्ष से पिंड तथा ब्रह्मांडान्तर्गत आकाश में होते रहते हैं, अतः वे सब विराट् चक्र के शब्द हैं। ब्रह्मांड से परे कोई शब्द नहीं होता, क्योंकि वह तो चेतन की सीमा है, जिससे कि नाना शब्द रूपी बाजे बजते रहते हैं। सुतरां इन सबों को बजाने वाला चेतन सत्य है और ये सब शब्द मिथ्या हैं, और मिथ्या के ग्रहण से मुक्ति नहीं हो सकती। "कहैं कबिर ते भये विवेकी जिन जंत्री से मन लाया"। जंत्री = बजाने वाला ३—ईडा (चन्द्र), पिंगला (सूर्य) और सुषुम्णा मध्य नाड़ी, ये तीन नाड़ियाँ हैं। जिस समय सुषुम्णा (मध्य की नाड़ी) चलने लगती है उस समय ईडा (चन्द्र) और पिंगला (सूर्य) दोनों का लय (अस्तभाव) हो जाता है। योगी लोग प्रतिदिन ही सुषुम्णा में ध्यान लगाया करते हैं, अतः उनके नित अमावस (चन्द्रलय-कुहू, "सा नष्टेन्दुकला कुहू") (अमरकोष) और नितही सूर्य-ग्रहण (सूर्य नाड़ी का लय) हुआ करता है। अतः रोज रोज राहु को ग्रास दिया जाता है। इसके अनन्तर खेचरी मुद्रा तथा अमृतपान की विधि का वर्णन किया

जाता है। हठ योगी लोग साधन विशेष से अपनी जिह्वा को ऐसी बना लेते हैं कि वह उलट कर तालु के ऊपर छिद्र में पैठ कर कुम्भक में सहायक हो जाती है। अनन्तर जिह्वा के संघर्ष से झरने वाले रस (अमृत) को अमर होने की इच्छा से पीते हैं। उक्त विधि को हठयोग के सांकेतिक शब्दों में क्रमशः सुरभी-भक्षण, तथा अमर-वारुणी पान कहा गया है, और इस विधि का माहात्म्य भी बहुत लिखा है। जैसे कि—

"गोमांसंभक्षयेन्नित्यं, पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये, चेतरे कुलघातकाः ॥४७॥
गोशब्देनोदिता जिह्वा, तत्प्रवेशोहि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥४८॥
जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु।
चन्द्रात् स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥४९॥
हठ योगदीपिका उपदेश २ ॥

अर्थात् जो योगी प्रतिदिन गोमांस (जो कि आगे लिखा है) भक्षण करते हैं। और अमर-वारुणी (जो आगे दिखाई जायगी) को पीता है, वह अपने कुल का पालक है। और लोग कुल-घातक हैं। गोमांस शब्द का यह अर्थ है कि गो नाम जीभ का है अतः जिह्वा को तालु के छिद्र में चढ़ा देना ही गो मांस भक्षण है। यह विधि महापातक को दूर करने वाली है। तथा अमर वारुणी शब्द का यह अर्थ है कि तालु के उर्ध्व छिद्र में जिह्वा के प्रवेश से उत्पन्न हुई जो वह्नि (ऊष्मा) उससे उत्पन्न हुआ जो सार चन्द्रमा से झरता है। (अर्थात् भ्रकुटियों के मध्य वाम भाग में स्थित चन्द्रमा से विन्दुरूप सार गिरता है उसको अमर वारुणी कहते हैं। शब्दार्थ—वेद मुख (श्रेष्ठ मुख से)"जेहि मुख वेद गायत्री उचरे "पूर्वोक्त सुरभी भक्षण हठ योगी करते हैं। तथा 'घन' (बंक नाल रूपी मेघ से) पूर्वोक्त जो अमृत बरसता है (उसको पीते रहते हैं) एवं योगियों का शरीर प्रतिदिन कृश होता चला जाता है।

शरीर का कृश होना तथा कान्ति का बढ़ना हठयोग सिद्धि का लक्षण है, यथा—

"वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता, नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले"।
अरोगता विन्दुजयोऽग्निदीपनं, नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्" ॥

[हठ योग दीपिका २ उपदेश ।]

अर्थात् देह की कृशता, मुख की प्रसन्नता, नाद की प्रकटता, नेत्रों की निर्मलता, रोग का अभाव और विन्दु (वीर्य) का जय अग्नि का दीपन तथा मल शुद्धि ये हठ योग सिद्धि के लक्षण हैं।

४—योगियों के त्रिकुटि (भ्रूमध्य से कुछ नीचे का भाग) कुंडल के बीच में मन्दर=मृदंग गरजता है, अर्थात् अनाहत—शब्द होता है और औघट घाट (बंकनाल=गगन गुफा) से अमृत (पूर्वोक्त) झरता है। और पृथ्वी के पानी (नाभी की वायु) को ब्रह्मांड में भर देते हैं। इस आश्चर्य को कोई कोई समझेगा।

५—कबीर साहब कहते हैं कि हठ योगी मुक्ति नहीं चाहते, किन्तु उनको तो सर्वभोगकरी अष्टसिद्धियाँ ही प्रिय हैं। क्योंकि "कच्चे सिद्धन माया प्यारी"। अपने मन के संयम से मनुष्य सदा सुखी रह सकता है। हठ योगी अपने मन को वासना-रहित नहीं कर सकते हैं, क्योंकि ये लोग तो राजा बन कर नाना भोग भोगना चाहते हैं। परन्तु यह नहीं विचारते कि यह वसुधा सदा से कुमारी ही है, क्योंकि "वसुधा काहू की न भई" भाव यह है कि हठ योगी आत्मज्ञान रूपी नौका के आरोहण से वंचित रहकर संसार सागर में डूब जाते हैं।

(८३)

*भूला बे[1] अहमक नादाना (तुम), हरदम[2] रामहिं ना जाना।
बरबस[2] आनिके गाय पछारिन्हि, गरा काटि जिव आपु लिया ॥

---

* छन्द ताटंक विशेष।

जीयत जी मुरदा करि डारिन्हि, तिसको कहत हलाल[४] हुआ।
जाहि माँसु को पाक कहतु हो, ताको उतपति सुनु भाई॥
रज बीरज सों माँसु उपानी[५], माँसु नपाकी तुम खाई।
अपनी देखि करत नहिं अहमक, कहत हमारे बड़न किया॥
उसकी[६] खून तुम्हारी गरदन, जिन्ह तुमको उपदेश दिया।
स्याही[७] गई सफेदी आई, दिल सफेद अजहूँ न हुवा॥
रोजा[८] बंग निमाज का कीजै, हुजै हुजरे[९] भीतर पैठि मुवा।
पंडित वेद पुरान पढतु हैं, मोलना पठहिं कुराना॥
कहँहिं कबिरदोउगयेनरकमहँ, (जिन्हि) हरदम रामहि ना जाना।

टि०—हिंसा और अभक्ष्य भक्षण-विचार]

१—मूर्ख। २—श्वासोच्छ्वास में। ३—जबरदस्ती से। ४—पाक (पवित्र) ५—उत्पन्न हुआ है। ६—जिसने तुमको कुरबानी की नसीहत की है, उसने सचमुच तुम्हारा खून कर डाला क्योंकि "बदल पराया देइयानी"। ७—जवानी बीत गई और बुढ़ापा चला आया, परन्तु हृदय से पापबुद्धि न गयी। ८—बाँग। ९—एकान्त-स्थान, गुफा आदिक। भाव यह है कि हृदय-शुद्धि के बिना रोजा और नमाज आदिक सब व्यर्थ हैं। "यदि हृदयमशुद्धं सर्वमेतन्न किञ्चित्"।

(८४)

काजी (तुम) कवन कितेब बखानी।
झंखत[१] बकत रहहु निसु बासर, मति एकौ नहिं जानी।
सकति[२] अनुमाने सुनति करतु हो, मैं न बदौंगा भाई॥
जो खुदाय तेरि सुनति करतु है, आपुहि कटि क्यों न आई।
सुनति[४] कराय तुरुक जो होना, औरति को का कहिये॥
अरध-सरीरी नारि बखानी, ताते हिन्दू रहिये।
घालि जनेऊ ब्राह्मन होना, मेहरिहिं का पहिराया॥
वै जनम की सुद्रि परोसै, तुम पाँडे क्यों खाया।

हिन्दू तुरुक कहाँ ते आया, किन यह राह चलाई ॥
दिल महँ खोजि देखु खोजा[1] दे, भिस्ति कहाँ किन्हि पाई ॥
*कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जोर[2] करतु है भाई ।
कबिरन्ह ओट राम की पकरी, अन्त चलै पछिताई ॥

टि०—[हिन्दू जाति और तुरुक जाति का विचार]

१—बकते झकते । २—मुसलमानी (खतना) की प्रथा प्रचलित होने के विषय में यह किम्वदन्ती है कि किसी अति प्राचीन बादशाह ने या मुहम्मद साहब ने अपनी प्रियतमा की आज्ञा से मूछों के बीच के बाल और खतना करवाया था । अतः शक्ति (स्त्री) की आज्ञा से यह घृणित कार्य प्रचलित हुआ है, खुदा की प्रेरणा से नहीं । ३—सुन्नत, मुसलमानी । ४—मुसलमान लोग जन्म से हिन्दू ही पैदा होते हैं । अनन्तर मुसलमानी कराने पर भी पूरे मुसलमान नहीं हो सकते हैं, क्योंकि स्त्री अर्धाङ्गिनी मानी गयी है, और उसकी सुन्नत होना असम्भव है । अतः 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तोव्याधिः" इस कहावत के अनुसार मुसलमान लोग अङ्ग भङ्ग होकर भी पूर्ण मनोरथ न हो सके । "न इधर के रहे न उधर के रहे ।" इससे तो यही अच्छा था कि ये लोग सुन्नत न कराते और हिन्दू ही रह जाते । ५—स्त्री को, (ब्राह्मणी को) यही दशा ब्राह्मणों की भी है । भाव यह है कि ईश्वरीय जाति एकही है, और वह मनुष्य जाति है । "करि मत सुन्नति और जनेऊ । हिन्दू तुरुक न जाने भेऊ" । ये सब अनेक जातियाँ मनुष्यों ने स्वयं बनायी हैं और बनाते रहेंगे । ६—अत्यन्त गवेषणापूर्वक अपने हृदय में विचार कर देखिये कि निरपराध और परमोपयोगी गौ आदिक पशुओं की हिंसा (कुर्बानी) से किसने झूठी विहिश्त (स्वर्ग) पायी है । "यही खून वह बन्दगी क्यों कर खुसी खुदाय" । ७—हठ, दुराग्रह । ८—इसी प्रकार अज्ञानी हिंसक

* क० पु० छाड़ु पसार राम भजु बौरे ।

—हिन्दू लोग राम को अपना रक्षक समझ कर महा अनर्थ करते चले जाते हैं यह उनकी भारी मूर्खता है। "जब जम ऐहै बान्ध चलै हैं नैन भरी भरि रोया"।

(८५)

भूला[1]—लोग कहैं घर मेरा।
जा घरवा महँ भूला डोलै, सो घर नाहीं तेरा॥
हाथी घोड़ा बैल बाहनो,[2] संग्रह कियो घनेरा।
बस्ती महँ से दियो खदेरा,[3] जंगल कियो बसेरा॥
गाँठी[4] बाँधि खरच नहिं पठयो, बहुरि कियो नहिं फेरा।
बीबी[5] बाहर हरम[6] महल में, बीच मियाँ का डेरा॥
नौ[7] मन सूत अरुझि नहिं सुरझै, जनम जनम अरुझेरा।
कहँहि कबीर सुनहु हो संतो, पदका[8] करहु निबेरा॥

टि०—[धन और धाम की ममता का विचार]

१—अज्ञानी लोग। २—सवारियाँ। ३—मरने पर बस्ती से निकाल दिया गया। ४—मृत-मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये न किसी ने खरचा भेजा, और न किसी ने सुधिही ली। भाव यह है कि सुकृत के सिवाय परलोक का संगी कोई नहीं है। ५—विवाहित स्त्री। ६—साधारण स्त्रियाँ। अथवा माया और वासना के बीच में जीवात्मा का निवास हो गया। ७—पंच विषय तीन गुन और मन। अथवा नाना सकाम कर्म रूप नौ मन सूत का ताना बाना उरझ गया है। भाव यह है कि अनेक कर्मजन्य अनेक वासनाओं से अनेक शरीर धरने पड़ते हैं। ८—निजपद (स्वरूप) को पहिचान कर प्राप्त करिये।

(८६)

कबिरा[1] तेरो घर कँदला मे, या जग रहत भुलाना।
गुरु की कही करत नहिं कोई अमहल-महल दिवाना॥
सकल ब्रह्म महँ हंस,[2] कबीरा, कागन्हि चौंच पसारा।

मनमथ-करम धरैं सभ देही, नाद[४]-बिंद-बिस्तारा ॥
सकल-कबीरा[५] बोलैं बानी, पानी में घर छाया।
अनँत लूटि होती घट भीतर, घट का मरम न पाया ॥
कामिनि रूपी सकल कबीरा, मृगा चरिंदा[३] होई।
बड़ बड़ ज्ञानी मुनिवर थाके, पकरि सकै नहिं कोई ॥
ब्रह्मा बरुण कुबेर पुरंदर, थीपा औ प्रहलादा।
हिरणाकुस नख बोद्र बिदारा, तिनहुँ को काल न राखा ॥
गोरख ऐसो दत्त दिगंबर, नामदेव जैदेव दासा।
उनकी खबरि कहत नहिं कोई, कहाँ कियो है बासा ॥
चौपरि[७] खेल होत घट भीतर, जन्म के पासा ढारा।
दम दमकी कोई खबरि ना जानै, करि न सकै निरुवारा ॥
चारि-दिग महि मंडल रचो है, रूम साम बिच डीली[८] ॥
ता ऊपर किछु अजब तमासा, मारो है जम कीली ॥
सकल[६]-अवतार जाके महि मंडल, अनँत खड़ा कर जोरै।
अदबुद अगम अगाह रचो है, ई सभ सोभा तोरे ॥
सकल कबीरा बोलै बीरा, अजहूँ हो हुसियारा।
कहँहि कबिर गुरु सिकली-दरपन, हरदम करहिं[१०] पुकारा ॥

टि०—[वासना-विचार-और स्वरूपस्थिति]

१—हे अज्ञानी जीव ! तेरा घर आनन्द-कन्द (शुद्ध स्वरूप) है। उसको भूलकर तू जगत में पड़ा हुआ है। अथवा संसार रूपी कीचड़ में पड़ा है तो भी प्रसन्न रहता है। २—नाना कल्पित-लोकों की प्राप्ति के लिये प्रमत्त हो रहा है। ३—'हंस' विवेकी जन शुद्ध-मानस सरोवर में विहार करते हैं और सद्गुण रूपी मोतियों को ग्रहण करते हैं। और अज्ञानीजन रूपी कौवे विषय रूप मलिन वस्तुओं में अपनी मनसा-रूपी चौंच को चलाते (फैलाते) रहते हैं। ४—संसार को बढ़ाते रहते हैं। ५—वंचक-गुरु

दूसरों को तो मुक्ति का उपदेश देते हैं, और स्वयं संसार-सागर में डूबे रहते हैं। ६—आध्यात्मिक-सद्गुण-शस्य (खेती) को चर जानेवाला (स्थलचर पशु) सोरठा—"जो नहिं होती नार, तो जग में तरिबो सुगम। यह लंबी तरवार मार लेत अध बीच में"। ७—जीवात्मा मन के साथ चौपड़ या चौंसर (जूवा, दाव पेंच) खेलता रहता है, इस कारण अच्छे और बुरे—जन्मरूपी पासे पड़ते रहते हैं। (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चौपड़ के चार भाग हैं) दमके दम में (क्षण भर में) क्या अनर्थ हो जायगा यह कोई नहीं बता सकता है।" "पावपलक तो दूर है मोसे कहा न जाय। ना जाने क्या होयगा पल के चौथे भाय"। "पल में परले बीतिया लोगन लागु तवांरि" (बीजक)। ८—दिल्ली की किल्ली का वृत्तान्त। यह ऐतिहासिक-किंवदन्ती है कि, भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली के किसी हिन्दू राजा ने राज्य की सुचिरस्थिति के लिये किले की भूमि में शुभ मुहूर्त में लोहे का एक भारी कीला (स्तम्भ) गड़वाया था। अनन्तर किसी अज्ञानी राजा ने उसको उखड़वाकर अपने नाम का स्तम्भ (कीला) गड़वा दिया, तबसे हिन्दू राज्य नष्ट होगया। इस पद्य में यह घटना रूपकातिशयोक्ति से दिखायी गयी है। अर्थ—शरीर-रूपी पृथ्वी मंडल में नाभी, कठ हृदय, और त्रिकुटी रूपी चार दिशाएँ बनी हुई हैं और 'रूम' 'शाम' अर्थात् पूर्व-देश और पश्चिम देश (शरीर का पूर्व भाग और पश्चिम भाग) इन दोनों के बीच में दिल्ली स्थानीय हृदय-नगर आत्म-देव की राजधानी है। "गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।" "ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" "हृदय बसे तिहि राम न जाना"। जिसमें कि ऋषियों के द्वारा बड़े प्रयत्न से आध्यात्मिक ज्ञानरूपी विजय'स्तम्भ (कीला) गाड़ा गया था। बड़े ही खेद का विषय है कि विषयी और पामरों की प्रमादता के कारण यमराज से अवसर पाकर उस स्तम्भ को उद्ध्वस्त (मटियामेट) कर डाला, और उसकी जगह अपना सन्तप्त स्तम्भ (भोगवासना और अज्ञानता रूप) गाड़ दिया। अथवा शरीर का मध्य-केन्द्र नाभी स्थल दिल्ली

है और उसके ऊपर रहने वाले हृदयरूपी किले में यमराज ने अज्ञानता रूपी कीला गाड़ दिया है। ६—जीव आत्मा यदि निजरूप को पहचान ले तो यह स्वयंसिद्ध (बना बनाया) ऐसा सम्राट् है कि सारे अवतार इसके मांडलिक राजा हैं। और अनन्त = शेष सदैव इसके रूप की स्तुति किया करता है। इसके ऐश्वर्य की महिमा अपार है। १०—कबीर साहब कहते हैं कि ऐ अज्ञानियो ! सद्गुरु पुकार पुकार कर सदैव कह रहे हैं कि "अजहूं लेहु छुड़ाय काल से जो करु सुरति संभारी" इस कारण सावधान होकर अपने हृदय को सैकल किये हुए दर्पण के समान बना - नो ! सद्गुरु रूपी सिकलीगर बड़े भाग्य से मिलता है। "गुरु तो ऐसा चाहिये ज्यों सिकलीगर होय। जनम जनम का मोरचा पल में डारै धोय" (कबीर-साखी)। नोट—यदि" हरदमकरो पुकारा" ऐसा पाठ हो तो यह अर्थ है —मुक्ति के लिये सद्गुरु से सदैव प्रार्थना करते रहो। दिल्ली भूमध्यरेखा के पास है। "यल्लङ्कोज्जयनी पुरोपरि कुरु क्षेत्रादि देशान् स्पृशत्। सूक्तं मेरु गतं बुधैर्निगदिता सामध्य रेखा भुवः। (सिद्धान्तशिरोमणौ)

(८७)

कबिरा[1] तेरो बनकँदला में, मानु अहेरा खेलै ॥
बफु*-बारी आनंद-मीरगा, रूचि रूचि सर मेलै ॥
चेतन[2] रावल पावल† खेड़ा, सहजै मूल[3] बाँधे।
ध्यान-धनुष ज्ञान-बान, जोगेसर साधै ॥
षट-चक्र बेधि कमल बेधि, जा उजियारी कीन्हा।
काम क्रोध लोभ मोह, हाँकि सावज[4] दीन्हा ॥
गगन मध्ये रोमिन्हि द्वारा[5], जहाँ दिवस नहि राती।
दास[6] कबीरा जाय पहूँचे, बिछुरे[7] संग रु साथी ॥

टि०—[मनरूपी शिकारी और हठयोगियों का वर्णन]

१—हे संसारी जीव ! तेरे हृदय-कानन में मनरूपी शिकारी

* छन्द सरसी और शुभ गीता। † क० पु० पवन खेडा।

खेलता रहता है। "घरघर साबुज खेलै अहेरा, पारथ ओटा लेई"। उक्त शिकारी इन्द्रियरूपी बाड़ी में चरने वाले विषयानन्दी मृगों को उत्कट भोगेच्छा रूपी तीक्ष्ण बाणों से मार मार कर गिराता रहता है। २—यह हठ योगियों का कथन है—जो योगी-राजा सावधान रहता है वह अपने योग राज्य को सुरक्षित रखता है। रावल=राजा। खेड़ा=गांव। भजन—"योगी जन जागत रहियो भाई। २—सबसे पहले मूल-चक्र (आधार चक्र) को जीते। भजन—प्रथमें मूल सुधार काज हो सारा हैं। कर नैनों दीदार महल में प्यारा है। ४—वन के पशु। ५—दशम-द्वार (सहस्रदल-कमल) ६ योगी-उपासक। ७—समाधिकाल में कुछ काल के लिये बाह्यप्रपंच छूट गया। सूचना—सहस्रार और सुरति कमल तथा षट् चक्र रूप छः कमल ये आठ कमल हैं।

(८८)

सावज न होय भाइ सावज न होय, वाकी माँसु भखैं सभकोय॥
सावज एक सकल संसारा, अबिगति वाकी बाता।
पेट[२] फारि जो देखियरे भाई, आहि करेज न आँता॥
ऐसी वाकी माँसु रे भाई, पल[३] पल माँसु बिकाई।
हाड़[४] गोड ले घूर पँवारै, आगि धुवाँ नहिं खाई॥
सीर सींग किछुवो नहिँ वाके, पूँछ कहाँ वै पावै।
सभ-पंडित[६] मिलि धंधे परिया, कबिरा बनौरी गावैं॥

टि०—[मनमाया रूप मृग-मांस के लोलुपों का वर्णन]

१—हे भाइयो! मन और माया वस्तुतः (मिथ्या होने के कारण) सावज=शिकार नहीं है। आश्चर्य है, फिर भी उसके मिथ्या माँस (भोगों) को सब कोई खाते रहते हैं। २—मन अनुमित है और माया तो अनिर्वचनीय है ही, अतः दोनों मिथ्या हैं। ३—भोगेच्छा सदैव रहती है। ४—इस भोगामिष ने तो पारे को भी परास्त कर दिया, अग्नि की तो

कथा ही क्या है, यह तो धुएँ को भी सहन नहीं कर सकता है। भाव यह है कि "ई तन रहत असाधा" इस कथन के अनुसार मन और माया सदैव असिद्ध (कच्चे) ही रहते हैं। "पूरा किनहु न भोगिया इसका यही वियोग"। अथवा ज्ञानाग्नि के धुएँ तक को माया नहीं सहती है। ५—अन्ततः सब लोग जरा-जर्जरित होकर और नीरस सांसारिक भोगरूपी सूखी हड्डी और पैरों को घूर रूपी संसार में ही फैंक फैंक कर निराश होकर यह कहते हुए चले जाते हैं "भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः"। ६—बड़े बड़े आविष्कारक लोग माया रूपी शिकार की खोज में पागल हो रहे हैं, परन्तु यह ऐसा विलक्षण हरिण है कि इसके न शिर है न सींगही है जिसके कि वश में आ सके, या पहचाना जा सके। "बिना सीसका चोरवा परा न काहु चीन्ह"। और इस की पूंछ को तो संसारी लोग किसी तरह पकड़ ही नहीं सकते। यह तो पंडित और आधे पंडितों के गोरखधन्धे का वृत्तान्त है। और "खर घूघू मूरखजना, सदा सुखी ब्रजराज" इस कथन के अनुसार पूरे मूर्ख तो विनौरी = विवाह के गीत (मंगल-गान) गाते रहते हैं। भावार्थ—माया अनादि होने के कारण सिर रहित है और बिना ज्ञान के माया का अन्तरूपी पूंछ भी मिलना असंभव है। अथवा "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इस छांदोग्य श्रुति के अनुसार पुच्छ स्थानीय ब्रह्म की प्राप्ति भी नहीं हो सकती है। छान्दोग्य में यह प्रसङ्ग मनोमय कोष को पक्षी के रूपक से वर्णन के अवसर में बताया गया है। और "बिनु मारे मिरगला भागा जाय" इत्यादिक बहुत से भजनों में इस प्रसङ्ग का उल्लेख है।

(८६)

सुभागे[1] काहि कारन लोभ लागे, रतन जन्म खोयो;
पूरुब जन्म भूमि कारन, बीज[2] काहे को बोयो॥
बूंद[3] से जिन्हि पिंड सँजोयो, अगिनि[4]-कुंड रहाया।
दसै मास माता के गरभे, बहुरी लागल माया॥

बारहु ते पुनि बिरध हुआ है, होनि रहा सो हूवा।
जब जमु ऐहैं बांधि चलै हैं, नैन भरी भरि रोया॥
जीवन की जनि राखहु आसा, काल धरे हैं सांसा।
बाजी है संसार कबीरा,[६] चित चेति ढारो पाँसा॥

टि०—[चेतावनी]

१—हे सज्जनो! २—पहिले जन्म के संस्कार रूपी पृथ्वी में फिर दोबारा वैसा ही बीज तुमने क्यों बोया। अर्थात् फिर जन्म देने वाले कर्मों को क्यों किया। ३—पिता के वीर्य से। ४—जठराग्नि (गर्भाशय में) ५—तुम्हारी श्वासा रूपी डोरी को पकड़ कर काल खेंच रहा है। ६—हे जिज्ञासुओ! इस संसार में कर्मों की बाजी [जूवा, खेल] लगी हुई है। "पासा पड़े सो दाव" इस कहावत के अनुसार जैसा कर्म वैसा फल। इसलिये तुमको उचित है कि खूब समझ बूझ कर कर्मों को करो, जिससे कि—"अब के गवना बहुरि नहिं अवना यही भेंट अँकवारी हो"। यह सत्य हो जाय।

(६०)

संत महंतो सुमिरहु सोई, काल-फाँस सो बाँचा होई।
दातात्रेय मरम नहिं जाना, मिथ्या-स्वाद[१] भुलाना॥
सलिता मथिके घृत को काढिन्हि, ताहि समाधि समाना।
गोरख पवन राखि नहिँ जाना, जोग जुगुति अनुमाना॥
रीधि सीधि संजम बहु तेरे, पार[२]—ब्रह्म नहिं जाना।
वसिस्ट सिस्ट विद्या संपूरन, राम ऐसे सिख[३]-साखा॥
जाहि[४] रामको करता कहिये, तिनहुँ को काल न राखा।
हिंदू कहैं हमहि ले जारब, तूरुक कहैं हमारे पीर॥
दोनौं आय दीन महँ झगरैं, ठाढ़े देखैं हँस-कबीर[५]।

टि०—[स्मरणीय वस्तु 'तत्व']

१—मन की कल्पनाओं में पड़ गये। २—निर्विशेष आत्मा [शुद्ध चेतन, निजरूप] सूचना—कबीर-पन्थी ग्रन्थों में निज पद का स्मरण पारब्रह्म-शब्द से बाहुल्येन किया गया है। यथा 'पारब्रह्म सो न्यारा"। इत्यादि ३—शिष्य—प्रशिष्य ४—जिन (अवतार) राम को संसार का कर्ता मानते हैं उनका भी अयोध्या के "गुप्तार घाट' पर शरीरान्त हो गया, साधारण मनुष्यों की तो कथा ही क्या है। ५—ज्ञानी—पुरुष। "राम मरैं तो हमहूँ मरिहैं, हरि न मरैं हम काहे को मरिहैं," इस निश्चय के अनुसार कबीर साहब ने यह भविष्यद् घटना का उल्लेख किया है। ऐसा मालूम पड़ता है।

(६१)

तनधरि सुखिया काहुँ न देखा, जो देखा सो दुखिया।
उदै अस्त[1] की बात कहतु हौं, ताकर करहु विवेका॥
बाटे बाटे[2] सभ कोइ दुखिया, का गिरही बैरागी।
सुखाचार्ज[3] दुख ही के कारन, गरभहिं माया त्यागी॥
जोगी जंगम[4] ते अति दुखिया, तपसी को दुख दूना।
आसा त्रिस्ना सभ घट व्यापै, कोइ महल नहि सूना॥
साँच कहौं तो सभ जग खीझै, झूठ कहा नहि जाई।
कहँहिं कबिर तेई भौ दुखिया, जिन्हि[5] यह राह चलाई॥

टि०—[दुःखमय-जगत]

१—आदि अन्त तथा उत्पत्ति और प्रलय। २—कर्मादिक मार्ग। ३—शुकदेवजी। ४—शैवमतावलम्बी। ५—जिन ब्रह्मादिकों ने इन सकाम कर्मों का विधान किया है।

(६२)

ता मनको चीन्हहु* मोरे भाई तन छूटे मन कहाँ समाई।

* क० पु० ढूँढहु।

सनक सनंदन जैदेव नामा भक्ति-हेतु[1] मन उनहुँन जाना।
अंबुरीषि[2] प्रहलाद सुदामा भगति सही मन उनहुँ न जाना।
भरथरि गोरख गोपीचंदा ता मन मिलि मिलि कियो अनंदा।
जा मनको कोइ जाने न भेवा ता मन मगन[3] भये सुख देवा।
सिव[4] सनकादिक नारद सेसा तनके भितर मन उनहुँ न पेखा।
एकल निरंजन[5] सकल सरीरा तामहँ भ्रमिभ्रमि रहल कबीरा।

टि०—[मनो-विज्ञान]

१—मन के निरोध के लिये उपासना की जाती है परन्तु उपासना का जनक मनही है। "यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतं तदेव ब्रह्म त्वं विद्धिनेदं यदिदमुपासते" २—अम्बरीष-राजा। ३—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन" यह समझते हुये विलक्षण मानसिक आनन्द का अनुभव किया। ४—अधिकारी पुरुषों को अधिकार रक्षा के लिये मन का अनुसरण करना अनिवार्य्य होता है। ५—समष्टि सूक्ष्म शरीर में मन की प्रधानता है, और उसका अभिमानी हिरण्य-गर्भ है अतः वह सूत्रात्मा सब शरीरों में सूत्र रूप से अनुस्यूत है। "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे"। समष्टिमनोभिमानी का नाम पारिभाषिक निरंजन है, यह पहले सविस्तर लिखा जा चुका है। फलतः सारे शरीर में एक मन है और उसी के भोगस्वाद में पड़ कर कबीरा=जीवात्मा अनेक योनियों में भटक रहा है।

(६३)

(बाबू[1]) ऐसो है संसार तिहारो, ई है कलि बेवहारो।
को अब अनुख[2] सहै प्रति दिनको, नाहिं न रहनि[3] हमारो॥
सुम्रिति[4] सुहाय सभै कोई जानै, हृदया ततु ना बूझै।
निरजीव आगे सरजिव थापै, लोचन किछुवो न सूझै॥
तजि अम्रित[5] विष काहे को अँचवै, गाँठी बाँधै खोटा।
चोरन[6] दीन्हौ पाट सिंघासन, साहुन से भौ ओटा॥

कहँहिं कबिर झूठे मिलि झूठा, ठगहीं ठग बेवहारा।
तीनि लोक[७] भरि पूर रहो है, नाहीं है पतियारा॥

टि०—[संसार-व्यवहार]

तीन-लोक (त्रिगुणात्मक-भव-सागर) में मन का आधिपत्य होने के कारण संसार का राजा मन ही है। "तीन लोक में हैं जमराजा चौथे लोक में नाम निसान" स्वभावतः दुःखदायी होने के कारण मन यम कहा जाता है। यह पद्य मन राजा को उद्देश्य करके कहा गया है (इसी प्रकार के वचन "निरंजन-गोष्ठी" नाम से प्रसिद्ध हैं) १—हे बाबू ! (मन !)। २—भ्रम-जन्य-दुःख। ३—हमारे अनुकूल नहीं हैं।—मांसाहारी शास्त्रव्यवसायियों को केवल शब्द दृष्टि है, अर्थ-दृष्टि (आत्म-दृष्टि) नहीं, इसी कारण अपने अनुकूल होने से हिंसा विधायक आधुनिक स्मृति वचनों का तो "यः शब्द आह" यह कहते हुए अक्षरशः पालन करते हैं, और "मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि" इत्यादिक श्रुति वचनों की अवहेलना करते हैं। इसके अतिरिक्त यह महा अनर्थ किया जाता है कि मुरदे (जड़-मूर्तियों) की प्रसन्नता के लिये जिन्दे (बकरा आदिक बलिपशु) को मार कर उसके चरणों में रख देते हैं। स्वार्थियों को मुरदा और जिन्दा भी नहीं सूझता है। सच्ची बात तो यह है कि "जिभ्या स्वाद के कारने (नर) कीन्हें बहुत उपाय"। ५—आत्म-प्रीति को छोड़कर आत्मद्वेष क्यों करते हो। और कुकर्म रूपी खोटा 'दाम' (रुपयादिक) पल्ले क्यों बाँधते हो। ६—ऐ अज्ञानियो ! ज्ञान रत्न को चुराने वाले वंचकों को तो तुम गुरु बनाकर पूजते हो और सच्चे वीतराग-महात्माओं से मुँह छिपाते हो, यह महा अन्याय है। ७—निरंजन देव ! तीनों लोकों में तुम्हारा अप्रतिहतशासन है। हमारे वचनों का तो किसी को विश्वास ही नहीं है।

(६४)

कहहु निरंजन[१] कवने बानी।
हाथ पाँव मुख स्रवन जीभि नहिं, का कहि जपहु[२] हो प्रानी॥

जोतिहिं[२] जोति-जोति जो कहिये, जोति कवन सहिदानी।
जोतिहिं जोति-जोति दै मारै, तब कहाँ जोति समानी॥
चारि-बेद ब्रह्मा जो कहिया, तिनहुँ न या गति[४] जानी।
कहँहिं कबीर सुनहु हो संतो, बूझहु पंडित ज्ञानी॥

टि०—[ब्रह्मज्योति के उपासकों से प्रश्न]

१—निरंजन (मन) का क्या परिचय है। २—उसके स्वरूप का क्या वर्णन है। ३—"दूरंगमंज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" इस यजुः श्रुति के अनुसार ज्योतिस्वरूप मन को आप लोग ज्योतियों का ज्योति (प्रकाशक) कहते हैं तो उसकी नित्य प्रकाशता की क्या पहचान है। अथच प्रतिसंचरावसर में जब उक्त भौतिकज्योति, स्वप्रकाश स्वयं ज्योति (चेतन) में विलीन हो जाती है, तब कहिये उक्त ज्योति कहाँ रही? ४—वह स्वयं ज्योति स्वसंवेद्य है, अतः वेदादिक का विषय नहीं। "यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह" अतः वही ज्ञातव्य है।

(६५)

को[१] असकरइ नगर कोटवलिया मांसु फैलाय गोध रखवरिया।
मुस[२] भौ नाव मँजार कँडिहरिया सौवै दादुल सरप पहरिया॥
बैल[३] बियाय गाय भै बंझा बछवहि दूहहिं तिनितिनि संझा।
निति[४] उठि सिंघ सियारसों जूझै कबिर का पद जन बिरला बूझै॥

टीका

("ये कलि गुरू बड़े परिपंची डारि ठगौरी सभ जग मारा")

१—कबीर साहब कहते हैं कि ऐसे महा विकट इस नटखट संसार नगर की कौन कोतवाली (ज्ञानोपदेश, रक्षा) करे, जिसकी यह दशा है कि 'साँच कहै तो मारा जावै, झूँठहि जग पतियाई हो'। इसकी नगरी की तो सारी ही चालें उलटी हैं, "गोकुल गाँव को पैंड़ोहि न्यारो"।

'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः"। देखिये मांस (नाना विषय) फैला हुआ है और गिद्ध (मन) उसका रखवार बनाया गया है। भाव यह है कि पूर्वोक्त नाना प्रपंच रूपी पंक से सना हुआ अज्ञानियों का मन बिना आत्म-ज्ञान रूपी जल के कभी निर्मल नहीं हो सकता है, जिस प्रकार कीचड़ से कीचड़ नहीं धुल सकता है, उसी प्रकार वंचकों के प्रपंचोपदेश से अज्ञानियों का प्रपंच भी दूर नहीं हो सकता है। "विष के खाये विष नहिं जावे, गारुड़ सो जो मरत जियावे"। २—यह भी एक अचरज ही है कि मूस (अज्ञानी) तो बेचारे नाव (दूसरों के चलाने से चलने वाला) बने बैठे हैं। और मंजार (वंचक गुरु) इनके कँडिहार, कर्णधार, (नाव चलाने वाले मल्लाह) बने हुए हैं। भाव यह है कि वंचक गुरु अन्ध श्रद्धा वालों को भटका कर अपना स्वार्थ बना रहे हैं। एवं दादुर=मेंडक (अज्ञानी) अपने उक्त गुरुओं के भरोसे सो रहे हैं। और सर्प (अहंकार) उनका पहरेदार बना हुआ है। भाव यह है कि अज्ञानियों के वचनों को मानकर अपने आपको जीवन्मुक्त मान लेना केवल मिथ्या अहंकार है। ऐ भाइयो ! जो स्वयं सत्य मार्ग पर नहीं चलते उनके वचनों में पड़कर अपना सर्वनाश क्यों करते हो "लोग भरोसे कवन के बैठ रहे अरगाय। ऐसे जियरहिं जमु लुटै, (जस) मटिया लुटै कसाय"। ३—अज्ञानियों के घर में तो सदैव बैल (अज्ञान) ही बियाया करता है। और निरन्तर भूखी रहने वाली बेचारी गाय (सात्विक बुद्धि) तो बाँझ (बन्ध्या) ही हो गई है। "सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई"। (रामायण उत्तर कांड) तथा उक्त बैल से पैदा हुए मन के संकल्प रूपी बछड़े को तीनों बेर दुहने लगे। अर्थात् असत्योपदेश से अज्ञानी लोग नाना संकल्प विकल्पों में पड़ गये। ४—कबीर साहब कहते हैं कि यह सिंह [जीवात्मा] प्रति दिन सबेरे उठकर सियार [मन] से युद्ध करता है। और मेरे बताये हुए निज पद [आत्म-तत्व] को तो कोई बिरलाही समझता है।

भावार्थ—इस अज्ञानी सिंह को मन मदारी खूब ही नचाया करता है।

"बाजीगर का बाँदरा ऐसा जिउ मन साथ। नाना नाच नचाय के राखे अपने हाथ" (बीजक)।

(९६)

काको रोउँ गयल बहुतेरा बहुतक मुवल[1] फिरल नहिं फेरा।
जब[2] हम रोया तैं न सँभारा गरभ बास की बात बिचारा ॥*
अब[3] तैं रोया का तैं पाया केहि कारन तैं मोहि रुवाया।
कहँहिं कबीर सुनहु नरलोई[4] काल[5] के बसी परै मति कोई ॥

टि०—[काल की प्रबलता का विचार]

१—मर गये, और किसी के लौटाने से नहीं लौटे। "वहाँ के गये बहुरि नहि आवे ऐसो है वह देसवा"। २—जवानी में। ३—अन्त समय। ४—लोगो! (इसी लोई, शब्द के आधार से अज्ञानी लोग लोई माई की कल्पना करते है]। ५—निज रूप को न भूलो तथा कामना रूपी जाल में न पड़ो।

(९७)

अल्लह राम जिवो तेरि नांई, जन पर मेहर† होहु तुम साँई[1]।
का मूंडी भूमी सिर नाये, का जल देह नहाये ॥
खून करै मसकीन[2] कहावै, अवगुन रहै छिपाये।
का ऊजू[3] जप मंजन[4] कीन्हे, का महजिद सिर नाये ॥
हिदया कपट निमाज गुजारै, का हज मंका[5] जाये।
हिंदु एकादसि करै चोबीसों, रोजा मूसलमाना ॥
ग्यारह मास कहो किन टारे § एकहि माह नियाना।
जो खोदाय महजीद बसतु है, अवर मुलुक केहिकेरा ॥

---

* पाठा०—बिसारा। † क० पु० जनके मेहर। § ग, पु, एक महीना आना।

तीरथ मूरति राम निवासी, दुइ महँ किन्हहु न हेरा।
पूरब दिसा हरी को बासा, पच्छिम अलह मुकामा॥
दिल[३] महँ खोजु दिलहि महँ खोजो, इहैं करीमा रामा॥
वेद[७] कितेब कहो किन झूंठा, झूंठा जो न बिचारै।
सभ घट एक एक करि जानै, वैसे दूजा केहि मारै॥
जे ते औरति मरद उपाने, सो सभ रूप तुम्हारा।
कबिर[८] पोंगरा अलह रामका, सो गुरु-पीर हमारा॥

टि०—[राम और रहीम की एकता तथा पाखंड विचार]

१—ऐ साईंजी! ये सब (हिन्दू और गाय वगैरहः) आपही की तरह अल्लाह और राम के पैदा किये हुए जीव (प्राणी) हैं। और आप कहलाते भी साईं (स्वमी, रक्षक) हैं, इस लिये सबों पर दया करिये। याद रखिये दीन की दुहाई देकर बेगुनाहों का खून करने वाले जाहिल मुसलमानों का रोजा और नमाज हराम हैं। और इसी तरह हज़ करने के लिये मक्का और मदीने में जाना भी फिजूल है, क्योंकि दिलही की सफाई से बिहिश्त मिलती है "यदि हृदयमशुद्ध ही सर्वमेतन्न किञ्चित्"। २—ग़रीब (फकीर) ३—इन्द्रिय शुद्धि। ४—मज्जन (स्नान) ५—मक्का शरीफ। ऐ मुसलमानो! आप लोग सिर्फ रमजान माह [महीना] को पाक समझ कर रोजा रखते हैं। भला यह तो बतलाइये-बाकी के मुहर्रम वगैरह ग्यारह महीनों को किसने नापाक बतला कर अलग कर दिया है? नियाना = निदान। फलतः 'नियाना' यह प्राकृत शब्द संस्कृत निदान शब्द का तद्भव रूप है। ६—यदि सचमुच अल्लाह और राम के दर्शन करना है तो बड़ी सावधानी नम्रता और प्रेम के साथ सब प्राणियों के हृदय निकेतनों को ढूँढो। अर्थात् सर्वप्रिय [विश्व-बन्धु] बनो। "इस बोलते का खोज करो जिसका इलाही नूर है, जिन प्राण पिंड

* ग० भय दूजा के मारे।

सवारिया सो तो हाल हजूर है। कहैं कबीर पुकारि के साहब घट २ पूर है"। ७—वेद और कुरान के 'एकात्म तत्व' को जो नहीं जानता है, वह अपराधी है। ८—कबीर साहब कहते हैं कि सब जीव अल्लाह और राम के पौंगरा=(बच्चे) हैं। क्योंकि एक ही मालिक के वे सब नाम हैं। और वह "साहब" हमको भी मान्य है।

(६८)

आव*बे आव (मुझे) हरि को नाम, अवर सकल तजु कवने काम कहँ तब आदम कहँ तब हव्वा, कहँ तब पीर पेगंबर हूवा कहँ तब जिमीं कहां असमान, कहँ तब बेद कितेब कुरान जिन्हि दुनियाँ महँ रची मसीद[1] झूंठा रोजा झूंठी ईद सांचा एक अलह[2] को नाम, जाको नै नै करहु सलाम कहु धौ भिस्त[3] कहाँ ते आई, किसके कहे तुम छुरी चलाई करता किरतम[4] बाजी लाई, हिन्दु तुरुक की राह चलाई कहँ तब दिवस कहाँ तव राती, कहँ तब किरतम किन उतपाती नहिँ वाके जाति[4] नहिँ वाके पांती, कहँहिँ कबिर वाके दिवस न राती

टि०—[नाम चर्चा और आदि कथा]

१—मस्जिद। जिन उल्माओं ने ये सब झूठे खेल रचे थे वे भी आरम्भ काल में न थे। २—केवल एक मालिक का नाम सच्चा है जिसको तुम लोग अल्लाह कहते हो, और झुक २ कर सलाम करते हो। ३—भला यह तो बतलाइये कि ऐसी बिहिश्त को किसने बताया है, और कहाँ पर है, जो कि निरपराधों के खून से मिलती है। ४—वे सब मालिक की माया के खेल हैं, जिससे कि हिन्दू और मुसलमान अपने आप को भिन्न २ देशों (पूर्व और पश्चिम) के पथिक समझ रहे हैं ५—तत्व

*इस में चौपई और चौपाई छन्द है। चौपाई में १५ मात्रा और अंत में गुरु लघु होते हैं। तिथिकल पौन चौपई माहिं"

तो यह है कि वह मालिक न हिन्दू है न मुसलमान, अतः किसी भी श्रेणी का पक्षपाती नहीं है। खेद है कि इस तत्व के न जानने से हिन्दू और मुसलमान कल्पित नाना पाखंडों में पड़ कर एक दूसरे को मिटा देने पर उद्यत हो रहे हैं।

(९९)

अब कहँ चलेहु अकेले मीता उठहु न करहु घरहु की चिता।
खीरि खांड घ्रित पिंड सँवारा सो तन लै बाहरि करिडारा।
जिहि-सिर रचि[1] रचि बांधेउ पागा सो सिर-रतन[2] बिडारत कागा।
हाड जरैं जस लकरी भूरी[3] केस जरैं जस घास* की पूरी।
आवत संग न जात सँगाती काह भये दल बाँधल हाथी।
माया के रस लेन न पाया अंतर[4] जमु बिलारि होय धाया।
कहँहिं कबिर नल अजहु न जागा जमका मुद्गर मँझ-सिर लागा

टि०—[अन्तिम अवस्था का विचार]

१—खूब सँवार सँवार के। २—उस सुन्दर—सिर को कौवे नोचते हैं या अलग करते हैं। (छिन्न-भिन्न करते हैं)। ३—सूखी हुई। ४—अन्त समय। "इत उत मुस फिरे ताकि रहे मिनकी" (सुन्दर विलास)

(१००)

देखहु[1] लोगा हरिकि सगाई माय धरै पुत धिय संग जाई।
सासु[2]-ननँद मिलि अदल† चलाई मादरिया ग्रिह बैठी जाई।
हम[3] बहनोई राम मोर सारा हमहिं बाप हरि पूत हमारा
कहहि कबिर ई हरि के बूता राम रमे तैं कुकरिके पूता॥

* पाठा०—क० पु०जस त्रिन की कूरी।

† क० पु० अचल चलाई, मादरिया ग्रिह बेटी जाई।

टीका

(राम न रमसि कवन दँड लागा, मरि जैबे का करब अभागा)

१—कबीर साहब कहते हैं कि हे विवेकी लोगो ! सर्व-पापों के हरण करने वाले शुद्ध चेतन को जान कर आप सब उसी से अपना प्रेम सम्बन्ध (अभेद-बुद्धि, आत्मचिन्तन) जोड़िये। यह पवित्र सम्बन्ध आपको संसार सागर से पार कर देगा। अज्ञानियों ने तो बड़ा ही अनुचित और घृणित सम्बन्ध जोड़ा है। सुनिये ! पूत=पुत्र (अज्ञानी) माया=माता (ममता) को धरता है, और असद्बुद्धि रूप धी (निज कन्या) के साथ भी गमन करता है। भाव यह है कि जीवात्मा ममता में पड़ कर बार बार संसरण करता हुआ मिथ्या कल्पना में पड़ा रहता है।

२—अविद्या पति जीवआत्मा की सासु (माया) और अविद्या की ननँद (कुमती) ने मिल कर सारे संसार में अदल (अधिकार) जमा लिया है। इतना ही नहीं उन दोनों ने तो मदारी ईश्वर के रहने के घर (हृदय) में भी जाकर अपना दखल जमा लिया है। "नट मरकट इव सबहि नचावत, राम खगेश बेद अस गावत"। "नाना नाच नचाय के नाचे नट के भेख। घट घट अविनासी अहै सुनहु तकी तुम सेख"। अर्थात् अज्ञानियों के हृदयों में कुमति और माया बैठ गई है। कैसा अनर्थ हुआ ईश्वर का भी घर छिन गया।

३—इस प्रकार माया की प्रबलता हो जाने से निज रूप राम में भी भेद मूलक नाना सम्बन्धों की कल्पना करते हुए भेद बुद्धि वाले कहने लगे कि "हम बहनोई राम मोर सारा, हमहिं बाप हरि पुत्र हमारा"।

४—कबीर साहब कहते हैं कि यह सब हरि के बूता (रचना, माया) हैं, इसलिये इसको पीठ देकर कुकरी (माया) के पूतो ! ऐ जीवो ! तुम लोग राम में [सब में रमने वाले शुद्ध चेतन में] रमो अर्थात् अपने को पहचानो।

यहाँ पर ऐसा भी पाठ है कि "सासु ननद मिलि अचल चलाई, मादरिया गृह बेटी जाई" शब्दार्थ—जब मदरिया [मन] के घर में बेटी इच्छा पैदा हुई, तब सासु ननद ने मिल कर अचल को चलाया।

भावार्थ—वस्तुतः कूटस्थ (अचल) जीवात्मा भी माया और कुमति के चक्र में पड़ कर नाना योनियों में दौड़ सा रहा है। यह जीव का संसरण अभ्यास जन्य भोगेच्छा के कारण होता है। "भरमक बाँध लाई जग, यहि बिधि आवे जाय"। अज्ञान दशा में मन भी मदारी बन कर जीवात्मा को नचाया करता है, इससे मन को भी मदारी कहा है। " बाजीगर का बाँदरा, ऐसा जीव मन साथ"। इस पद्य में भी "हम बहनोई राम मोर सारा" का वही अर्थ है कि हम बहनोई (सुमति के धारण करने वाले हैं) इस नाते से राम हमारे सारे हैं, तथा राम हमारे पुत्र [पूत्=नर्क से त्र=रक्षा करने वाले] हैं, इस नाते से हम हरि के पिता हैं। कबीर साहब कहते हैं कि भक्तों का यह कथन हरि के बूता (बल या भरोसे) से है, परन्तु हरि में रम रहने वालों को ये (भेद बुद्धिमूलक) सम्बन्ध नहीं भासते हैं। अतः हे भक्तो! आप भी राम में पूर्णतया रम जाइये।

(१०१)

देखि[1] देखि जिय अचरज होय, ई पद बूझै बिरला कोय।
धरती[2] उलटि अकासहिँ जाय, चिउँटी के मुख हस्ति समाय।
बिनु[3] पवने जो परबत ऊड़े, जिया.जंतु सभ बिरछा बूड़े।
सूखे[4] सर-वर उठै हिलोर, बिनु जल चकवा करै किलोल।
बैठा[5] पंडित पढ़ै पुरान, बिनु देखे का करै बखान।
कहँहिं[6] कबिर जो पदको जान, सोई संत सदा परवान।

टीका

योगियों के ये दो मार्ग बहुत प्रसिद्ध हैं एक पिपीलिका मार्ग और

दूसरा विहंगम मार्ग। प्राणायाम द्वारा षट्चक्रों को बेध कर धीरे धीरे प्राणों को ब्रह्माण्ड में चढ़ाना पिपीलिका मार्गी हठ योगिया का काम है। और जिस प्रकार पक्षी एक पेड़ से उड़ कर दूसरे पेड़ पर बिना ही अधिक परिश्रम के बैठ जाता है, इसी प्रकार सुरति (वृत्ति) द्वारा मनोनिग्रह करके सत्य लोक में पहुँच जाना, सन्त मत के अनुसार अभ्यास करने वाले विहङ्गम मार्गियों का काम है। हठ योगियों की अपेक्षा सुरति योगियों का अभ्यास-मार्ग अच्छा है। क्योंकि इससे साधन-सम्पन्न अधिकारियों का थोड़े से परिश्रम से ही मनो-निग्रह हो जाता है। निरक्षर—सार शब्द का अभ्यास (अर्थात् नादोपासना रूप सहज योग) को केवल साधन मात्र समझ कर आत्म-परिचय रूप साध्य की प्राप्ति के लिये यदि किया जाय तो कोई हानि नहीं है; परन्तु आज कल तो सहज योग के अभ्यासी पूर्वोक्त साधन को ही साध्य समझ कर "तत्व" की ओर तो पीठ ही कर बैठे हैं। और दिनों दिन नाना कल्पित लोक और धामों का सन्देशा सुनाते हुए अन्धकार में पड़े हुए अज्ञानियों को अधिक अन्धकार में ढकेलते जा रहे हैं। सन्त मत के प्रवर्तक कबीर साहब आदिक सन्त महात्माओं की यह आज्ञा कदापि नहीं है कि अधिकारियों की आँखों पर अज्ञानता की पट्टी बाँध कर कल्पित नाना लोक और धामों में उनको घुमाते हुए आत्मतत्व से वंचित कर दिया जाय। जीव के स्वरूप को ही कबीर साहब तथा अन्य महात्माओं ने अमर पद, पद, अमर लोक, और सत्यलोक आदिक नामों से निर्दिष्ट किया है। और उक्त लोक की प्राप्ति का एक मात्र साधन आत्मज्ञान को बतलाया है। अतः ज्ञानातिरिक्त अन्यान्य पाखण्डों से (जो कि जीवात्मा को सत्य मार्ग से गिराने वाले हैं) उक्त सत्यलोक की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है क्योंकि सत्य लोक (आत्मा) तो अत्यन्त समीप है और ये पाखण्ड तो जीवों को बवंडर (बबूला) की तरह सोरह असंख्य योजन दूर आकाश में फेंक देते हैं। इसी बात को श्रुति ने स्पष्ट ही कर दिया है कि "तस्यायमात्माऽयं लोकः"

इस जीव की आत्मा (शुद्ध चेतन) ही लोक है। तथा "एतमेव लोक-मभीप्सन्तः प्रव्राजिनः प्रव्रजन्ति" इसी आत्मलोक को पाने के लिये महात्मा संसार को त्याग देते हैं। और कबीर साहब ने भी कहा है कि 'ज्ञान अमर पद बाहिरे नियरे ते हैं दूर। जो जाने तेहि निकट है, रहा सकल घट पूर"। अमर लोक फल लावैं चाव। कहहिं कबीर बूझै सो पाव। नियरे न खोजै बतावै दूरि। चहुंदिसि आगुलि रहलि पूरि।

[टि० सहज योग विहङ्गम मार्ग]

१—व्याख्या—कबीर साहब कहते हैं कि यह देख कर मुझको बड़ा आश्चर्य होता है कि सब प्रकार के योगी लोग मन के कल्पित नाना लोक और धाम रूपी सराय में ही पड़े रह जाते हैं, और इस निजपद, अपना घर (अमर पद) अमर लोक आत्म-तत्व को तो कोई कोई बूझता है। २—अब सुरति योग की प्रक्रिया बतलाते हैं। अभ्यास के बल से। धरती (सुरती) उलट कर = अन्तरङ्ग होकर आकाश में ऊर्ध्व गमन करती हुई अष्टम सुरति कमल से पार होकर सारशब्द में समा जाती है। "सार शब्द है शिखर पर, मूल ठिकाना सोय। बिन सतगुरु पावे नहीं लाख करे जो कोय॥ धरति अकाश के ऊपरे, जोजन अष्ट प्रमान। तहाँ सुरति ले राखिये देह धरै नहिं आन। और भी सुनिये—

३—'चिऊँटा' (सुरति) के मुख 'सुरति' कमल में 'हस्ति' (मन) समा जाता है। भाव यह है कि उक्त अभ्यास से मन का बाह्य जगत् से तो निरोध हो जाता है, परन्तु बिना आत्मपरिचय के आन्तरजगत् (नाना-कल्पना तथा वासनाओं) से छुटकारा नहीं होता है, क्योंकि यह तो तेली के बैल की तरह भीतर ही दौड़ लगा लगा कर पूरी मिहनत (व्यायाम) कर लेता है। "तेली केरे बैल ज्यों, घरहीं कोस पचास।" इसी बात को आगे स्पष्ट करते हैं। बिना 'पवन' (प्राणों) के पर्वत की तरह फैला हुआ

योगियों का मन उड़ जाता है। और नाना जीव जन्तु वृक्ष रूप बाह्य जगत् बूड़ जाता है। भाव यह है कि मन और पवन (प्राणों) का अत्यन्त ही सम्बन्ध है, यहाँ तक कि मन की चंचलता और स्थिरता से प्राण भी चंचल और स्थिर हो जाते हैं और मन की चंचलता तथा स्थिरता का भार प्राणों की चंचलता एवं स्थिरता पर रहता है, यह बात योग के ग्रन्थों में स्पष्ट है कि "चले वाते चलं चित्तं, निश्चले निश्चलं भवेत्। योगी स्थाणुत्वमाप्नोति; ततो वायुं निरोधयेत्"। इसका अर्थ पहले लिख दिया गया है। विहंगमार्गी केवल सुरति योग द्वारा मन को अन्तरङ्ग करते हैं इस लिये (बिना पवन बिना प्राणायाम) के कहा है। ४—इस प्रकार सुरति-शब्द के मेल से सुखे सरोवर रूपी कल्पित अकह और अगम लोक में कल्पित आनन्द की तरंगें उठती हैं, और बिना ही आत्म रूप जल के उक्त अनात्म (मिथ्या) सागर में चकवा=जीवात्मा (अज्ञानान्धकार से दुखी होनेवाला) प्रमत्त होकर अविद्या रूपी चकई के साथ बिहार करता है। भाव यह है कि उक्त योग द्वारा होने वाले क्षणिक मनोनिग्रह से जो कुछ आन्तरसुख झलक जाता है उसको भ्रम से लोक और धामों का सुख समझते हुए विहंगमी, सदैव उसी चक्र में पड़े रहते हैं। ५—उक्त प्रकार से अभ्यास करके मनो-निग्रह द्वारा आत्मकैवल्य ज्ञान से मुक्ति पद प्राप्त करने वाले सुरतियोगी (विहंगममार्गी) तो बहुत थोड़े होते हैं अधिकतर तो सुनी सुनायी ही कहने वाले होते हैं, ऐसे लोगों को मिथ्या-पुराण पाठी कहना चाहिये जो कि स्वयं अनुभव न रखते हुए दूसरों को उपदेश देकर भटकाते हैं। ६—कबीर साहब कहते हैं कि जो इस पद (निज पद आत्म-तत्व) को साक्षात् रूप से जानते हैं, वे उक्त सम्पूर्ण प्रपंचों से रहित होकर जीवन्मुक्त हो जाते हैं ऐसे ही सज्जनों को "सन्त" कहना चाहिये यथा—"साधु सन्त तेई जना (जिन्ह) मानल बचन हमार"।

(१०२)

(होदारीके[1]) ले देऊँ तोहि गारी, तैं समुझि सुपंथ-बिचारी।
घरहु के नाह[2] (जो) अपना, तिन्हहुँ से भेंट न सपना॥
ब्राह्मन* छत्री बानी,[3] तिन्हहुँ कहल नहिं मानी।
जोगी जंगम जेते, आपु[4] गहे हैं तेते।
कहँहि कबिर एक[5] जोगी, (ते) भरमि भरमि भौ भोगी॥

टि०—(प्रेमोपालम्भ और दयापूर्वक उपदेश)

१—ऐ दारी के ! (कुलटा के पुत्र ! माया को माता की तरह पूजने वाले—अज्ञानी जन !) "राम रमे तैं कुकुरि के पूता"। "सतगुरु ऐसे चाहिये गढ़ि गढ़ि काढ़ें खोट, भीतर रच्छा प्रेम की ऊपर मारै चोट"। (कबीर—साखी)। इस कथन के अनुसार यह "दारी के" शब्द प्रेम बचन हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। २—अपने स्वामी, "साहब" ३—बनिये (वैश्य) ४—अपने २ अहंकार में पड़े हुए हैं। ५—कबीर साहब कहते हैं कि जीवात्मा वस्तुतः स्वयं सिद्ध एक विलक्षण योगी है परन्तु सम्प्रति तो भ्रमवश योग भ्रष्ट होकर यह भोगी बन गया है। अतएव संसारोद्यान में घूम २ कर प्रमत्त-भँबरे की तरह "कली कली रस लेत"

(१०३)

लोगा तुमहीं मति के भोरा।
जौं पानी पानी महँ मिली गौ, त्यौं धुरि मिलै कबीरा[1]।
जो मैं थीको[2] साँचा ब्यास, तोर मरन हो मगहर पास।
मगहर[3] मरै सो गदहा होय, भल परतीति राम सों खोय।

---

* छन्द दिगपाल—विशेष। (अर्थात् २४ मात्रात्मक 'अवतारी' जात्यन्तर्गत छन्दोविशेष)। "दिगपाल छन्द सोई, सविता विराज दोई"।

मगहर[४] मरे मरन नहिं पावे, अनते[५] मरे तो राम लजावे।
का कासी का मगहर ऊसर, हृदय राम बस मोरा।
जो कासी[६] तन तजइ कबीरा, रामहिँ कबन निहोरा।

टि०— [सम्वाद]

मालूम होता है काशी से मगहर जाते समय किसी मिथिला निवासी व्यासजी से कबीर साहब का सम्वाद हुआ था उसी सम्वाद का परिचायक यह पद्य है। १—जीव-आत्मा। अज्ञानियों की यह धारणा नितान्त ही भ्रम मूलक है कि शरीर की पंचत्व प्राप्ति की तरह जीवात्मा भी भूतों में विलीन हो जाता है। २—थिको=हूँ। यह मिथिला भाषा है। इस स्थल पर "जौं मिथिला का सांचा वास। तौंहि मरन हो मगहर पास"। ऐसा पाठान्तर नूतन पुस्तकों में है। अर्थ—जिस प्रकार जानकी जी की जन्म भूमि होने के कारण मिथिला मुक्तिदायिनी है इसी प्रकार ज्ञानी के लिये मगधादि निषिद्ध प्रदेश भी मुक्ति दायक हैं। ३—कबीर साहब का कथन। ४—ज्ञानी पुरुष आत्माराम होते हैं अतः निषिद्ध प्रदेश में शरीरान्त होने पर भी वे मुक्त हो जाते हैं अतएवः पुन 'मरन नहिं पावै' क्योंकि "न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते" यह श्रुतिवचन है। "यदगत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम" (गीता)। ५—यदि कोई राम भक्त "काश्यां मरणान्मुक्तिः" इस अर्थ-वाद को सुन कर मुक्ति की इच्छा से काशी आदिक क्षेत्रों में शरीर त्यागता है, तो वह क्षेत्र से राम को न्यून समझता हुआ उसका तिरस्कार करता है। ६—काशी में मिलने वाली मुक्ति में मुझको कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, परन्तु मैं तो अपने राम (निज रूप) से मुक्ति लेने का इच्छुक हूँ। क्योंकि रामद्वार (निज पद) पर आरूढ़ रहने वालों को वह अवश्य ही मिलती है। "द्वारे धनी के पड़ि रहो धका धनी का खाय। कबहुंक धनी निवाजई जो दर छाँड़ि न जाय"।

(१०४)

कैसें तरो नाथ कैसे तरो, अब बहु कुटिल भरो।
कैसी तेरी सेवा पूजा, कैसो तेरो ध्यान।
ऊपर उजर देखो, बग अनुमान॥
भावतो भुजंग देखो, अति बिभिचारी।
सुरति सचान[1] तेरीक्ष मति तो मँजारी॥
अतिरे विरोधि देखो, अति रे दिवाना†।
छब—दरसन देखो, भेष लपटाना॥
कहँहिँ कबीर सुनहु नल बंदा, डाइनि[2] डिंभ सकल जग खंदा।

टि०—[सम्वाद या उपदेश] यह केवल वेषधारी किसी नाथ (गोरख नाथानुयायी के साथ सम्वाद है। अथवा वंचक भक्तों को उपदेश है। १—बाज। २—माया डाकिनी ने अज्ञानी जन रूपी बालकों को खा डाला।

(१०५)

यह[1] भ्रम-भूत सकल-जग खाया जिनिजिनि पूजातिनि जहँ[2] डाया[3]।
अंड[4] न पिंड न प्रान न देही काटि काटि जिव कौतुक देही।
बकरी मुरगी कीन्हेउ छेवा[5] अगिलि जनम उन[6] अवसर लेवा।
कहँहिँ कबीर सुनहु नर लोई भुतवा (के) पुजले भुतवा[7] होइ।

टि०—[भ्रमभूत—विचार]

१—भूत प्रेतों तथा मिट्टी आदि के बने हुए तामसी देवी देवताओं को अपना रक्षक समझना। २—धोंका खायगा। जड़ मूर्तियों के प्राणादिक नहीं होते। ४—प्रहार (बध) ५—वे मारे हुए पशु बदला लेंगे। ६—उपासक को उपास्य रूपता प्राप्त हो जाना ही उपासना-सिद्धि है, इस सर्वतंत्र सिद्धान्त के अनुसार "भुतवा के पुजले भुतवा होई"। ठीकही है

* क० पु० देखो, † ग० पु० सयाना।

"यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी"। यहाँ पर भूत शब्द अनात्म परक है जैसा कि गीता का वचन है कि "भूतानि यान्ति भूतेज्या मद्भक्ता यान्ति मामपि"। "जो तन त्रिभुवन मांहिँ छिपावै, तत्तहिँ मिलै तत्त सो पावै (बीजक)

(१०६)

भँवर[1] उड़े बग बैठे आया, रैनि[2] गई दिवसौ चलि जाय।
हल हल काँपे बाला[3] जीव, ना जानौं का करिहैं पीव।
काँचे[4] बासन टिकै न पानी, उड़ि गौ हंस[5] काया कुँभिलानी।
काग[6] उड़ावत भुजा पिरानी कहँहिं कबिर यह कथा सिरानी[7]।

टि०—[अनात्मोपासकों का अन्तिम पश्चात्ताप]

१—स्याही गई सफेदी आई। २—जवानी बीत गयी और बुढ़ापा भी कच्छप-चाल से जा रहा है। ३—प्रिय प्राण काँप रहे हैं, 'पीव' स्वामी (पति) ४—क्षण भंगुर शरीर में जीवात्मा चिरस्थायी नहीं हो सकता है। ५—जीवात्मा। ६—मिथ्या आशा में पड़कर इष्ट-सिद्धि की प्रतीक्षा करते करते सारे प्रयत्न विफल हो गये और आशा निराशा में परिणत हो गई। "प्रातः काणवराटकोपि न माया तृष्णेऽधुना मुंच माम्"। (प्रोषितपतिका प्रिय आगमन की जिज्ञासा से काग को उड़ाने के लिये चेष्टा किया करती है)। ७—ठंडी पड़ गयी, अर्थात् जीवन-नाटक का अन्तिमजवनिकापात हो गया। (जीवन-कथा समाप्त हो गयी)।

(१०७)

खसम बिनु तेलीको[1] बैल भयो।
बैठता नाहिं साधु की संगति, नाधे[2] जनम गयो।
बहि बहि मरहु पचहु निज स्वारथ, जम को डंड सहौ।
धन दारा सुत राज-काज हित, माथे भार गह्यो।

खसमहिं छाँड़ि विषय रंग राते, पापके बीज बयो।
झूठि-मुकुति[3] नल आस जिवन की, प्रेत[4]को जूठ खयो।
लख-चौरासी[5] जीव-जंतु में, सायर जात बह्यो।
कहँहि कबीर सुनहु हो संतो, स्वान कि पूँछ गह्यो।

टि०—[कर्म और कामनाओं का विचार]

१—आत्म-विस्मृति के कारण देव पशु बन गया। २—नाना सकाम कर्म रूपी जुये में जुते हुए। ३—स्वर्ग की प्राप्ति मिथ्या मुक्ति है, क्योंकि वह तो चिर भोगेच्छा का रूपान्तर है। "क्योंकि "अपाम सोम ममृता अभूम" यह श्रुत्युक्त देव-वचनानुवाद हैं। ४—भूत की लाई हुई जूठी मिठाई! (अपवित्र-वस्तु) भाव यह है कि स्वर्ग सुख कोई अभुक्त और अयातयाम वस्तु नहीं है कि जिसके लिये इस प्रकार घोरातिघोर भगीरथ प्रयत्न किया जाय। हाँ मुक्ति सुख अवश्य अभुक्तपूर्व और सुसाध्य है। ५—कबीर साहब कहते हैं कि पुण्यक्षय के कारण अतिप्रयत्न से प्राप्त हुए स्वर्ग रूपी तृणावलम्बन के छूट जाने पर पुनः प्रारब्धानुसार चौरासी धारा में बहते हुए अज्ञानी लोग कुत्ते की पूँछ पकड़ कर भवसागर से पार होना चाहते हैं। भाव यह है कि, 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इस श्रुति के अनुसार बिना ज्ञान के केवल सकाम योगादिकों से मुक्त नहीं हो सकते हैं। ठीक ही है 'भादों-नदी औ भेड़-पूँछी, कैसे उतरै पार। कहँहिं कबीर सुनों हो सन्तो, बूड़ि गये मँझधार'।

(१०८)

अब हम भइलिं बाहिरि जलमीना पुरब जनम तपका मद कीन्हा।
तहिया (मैं) अछलौं[1] मन बैरागी तजलौं लोग कुटुम रामलागी।
तजलौं कासी[2] मति भइ भोरी प्राननाथ कहु का गति मोरी।
हमहिं कुसेबक (कि) तुमहिं अयाना दूइ महँ दोष काहि भगवाना?

हम चलि अइलीं तुहरे सरना कतहुँ न देखौं हरिजि के चरना।
हम चलि अइलीं तुहरे पासा दास[३] कबिर भल कयल निरासा।

टि०—[काशी-काया-वियोग (उपासकों की अन्तिमावस्था)]

इस पद्य में भक्तों की भगवद्दर्शनोत्कंठा तथा अधीरता विरह-कातरता और करुणा का वर्णन है। १—मैं था। २—सुप्रसिद्ध काशी और काया-काशी। "मन मथुरा दिल द्वारिका काशी जान। दसौं द्वारका देहरा ता में जोति पिछान" ३—आपने अपने भक्तों को अच्छा निराश किया। अर्थात् यह कार्य आपकी दीनदयालुता और भक्तवत्सलता के अनुरूप नहीं था।

(१०६)

लोग बोलैं दुरि गये कबीर[१], यो मति कोई कोई जाने गा धीर।
दसरथ-सुत[२] तिहुँ लोकहिं जाना, राम-नाम का मरम है आना।
जिहि-जिव[३] जानि परा जस लेखा, रजुका कहै उरग सम पेखा।
जदपी[४] फल उत्तिम-गुन जाना, हरि छोड़ि मन मुकुती उनमाना*
हरि[५] अधार जस मीनहिं नीरा, अबर-जतन किछु कहँहिं कबीरा।

टि०—[अवतारोपासना का विचार]

१—यहाँ पर कबीर शब्द 'काया बीर कबीर' इस कथन के अनुसार जीवात्मपरक है। प्राकृत जन कहते हैं कि अवतारों के उपासक भक्त दूर पहुँच गये, अर्थात् मुक्त हो गये, परन्तु इस रहस्य को कोई परीक्षक ही जानेगा। भाव यह है कि मायिक औतारों की उपासना से मुक्ति नहीं मिल सकती है। "दस अवतार ईसरी माया करता कै जिन पूजा, कहँहि कबीर सुनहु हो संतो उपजै खपै सो दूजा"। अथवा दुरिगये (छिप गये) २—प्रायः सब लोग "राम" का अर्थ दशरथ-सुत रामचन्द्र जानते हैं

* पाठा०—नहिं माना।

परन्तु राम का रहस्य कुछ और ही है। "रमन्ते योगिनो यस्मिन्निति रामः" इस निरुक्ति से राम का मुख्य-अर्थ शुद्ध चेतन है। "एको देवः सर्व भूतेषु गूढः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" "हृदय बसे तिहिं राम न जाना"। ३—यह ठीक है कि भ्रमादि के कारण जो जैसा देखता और जानता है वह वैसा ही कहता है। "जैसी जाकी बुद्धि है, वैसी कहै बनाय, ताहि दोष नहिं दीजिये, लेन कहाँ को जाय"। भ्रम से तो रस्सी को भी साँप समझ लेते हैं परन्तु वह सर्प नहीं हो सकती है। ४—यद्यपि पुरुषोत्तम होने के कारण अवतार (रामचन्द्रादिक) हमारे आदर्श हैं अतः उन्हीं के सत्पथ का अनुसरण और सद्गुणों का धारण करना सर्वोत्तम-फलदायक है; तथापि हृदय निवासी राम (निज पद) से विमुख हो कर मुक्ति का चाहना केवल कल्पना मात्र ही है। ५—ज्ञानी-भक्तों की तो यही स्थिति है कि "हरि अधार जस मीनहि नीरा।" परन्तु कबीरा—कर्मी और साधारण उक्त उपासक इस मत से सहमत नहीं है इसलिये वे मुक्ति के साधन कुछ और ही और बतलाया करते हैं। ठीक ही है "जल परिमानै मांछली, कुल परिमानै शुद्धि। जैसा जाको गुरु मिला, तैसी ताकी बुद्धि"।

(११०)

अपनो करम[1] न मेटो जाई।
करमक लिखल मिटै धौं कैसे, जो जुग कोटि सिराई[2] ॥
गुरु-बसिष्ठ मिलि लगन सुधायो, सुरज-मंत्र एक दीन्हा।
जो सीता रघुनाथ बिआही, पल एक संचु[3] न कीन्हा॥
तीनि लोक के करता कहिये, बालि बध्यो बरियाई[4]।
एक समै ऐसी बनिआई, उन हूँ[5] अवसर पाई॥
नारद-मुनि[6] को बदन छिपायो, कीन्हो कपि सो रूपा।
सिसुपालहु की भुजा उपारी, आप भयो हरि ठूठा[7]॥
पारबती[8] को बाँझ न कहिये, इसर न कहिये भिखारी।
कहँहिं कबिर करता[9] की बातें, करमकि[10] बात निनारी॥

टि०—[प्रारब्ध-फल-विचार]

१—"ना भुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि"। "ज्ञानाग्निः सर्व-कर्माणि" इत्यादि कथन तो प्रारब्धेतरकर्मपरक है, अतः विरोध नहीं है। २—अनेक कोटि युगों के बीतने पर भी। ३—सुख। (यौवराज्य-सुख)। ४—छलपूर्वक बलात्कार से। "धरम हेतु अवतरेहु गुँसाई। मारेहु मोहि व्याध की नाँई"। ५—बाली को भी कृष्णावतार में (भील रूप से) अपना बदला लेने का अवसर मिल गया। ६—विष्णु ने परम-सौन्दर्याभि-लाषी नारद जी का मुख वानर के समान बना दिया, इस कारण उन्होंने क्रुद्ध होकर शाप दे दिया। ७—जगन्नाथ में (बुद्ध रूप से) ८—(यह पौराणिक-कथा है) इसर=ईश्वर, (शिवजी) "ईश्वरः शर्वईशानः शांकरश्चन्द्रशेखरः" (अमर)। ९—कर्ता कर्म करने में स्वतन्त्र है। "स्वतन्त्रः कर्ता १।४ ५४।" इसलिये विमर्श पूर्वक (विवेक और विचार से) कार्य करना चाहिये। "सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदाम्पदम्"। (भारवि) १०—"तथा पूर्वकृतं कर्तारमनुगच्छति" इस कथन के अनुसार किये हुए शुभाशुभ कर्मों का यह नियम है कि वे फल रूप को धारण करके दीवार में मारे हुए पत्थर की तरह कर्ता ही को लग जाते हैं। क्योंकि "यः कर्त्ता स एव भोक्ता" यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।

(१११)

है[१] कोई गुरुज्ञानी जगत (महँ) उलटि बेद बूझै।
पानी महँ पावक बरै, अंधहि आँखि न सूझै॥
गाय[२] तो नाहर खायो, हरनै खायो चीता।
काग लगर फांदिके बटेर बाज जीता॥
मूसे[३] तो मंजार खायो, स्यार खायो स्वाना।
आदिको ऊ* देस जाने, तासु बेस बाना॥

---

* ख० पु० उपदेश।

एकही[४] दादुल खायो, पाँचहूँ भुवंगा।
कहँहिं कबीर पुकारिके, हैं दोऊ एक संगा॥

टीका

(जीव पर मन की सेना का आक्रमण)

१—कबीर साहब कहते हैं कि कोई ऐसा ज्ञानी-गुरु है कि जो इस उल्टे वेद (ज्ञान, समझ) को समझे। भाव यह है कि अज्ञानियों की समझ उल्टी होती है, इस कारण वे हित को अहित और अहित को हित समझ लेते हैं। अतएव उनको समझा बुझाकर सुमार्ग पर लाना चाहिये "सोई हितु बन्धू मोहिं भावै ! जात कुमारग मारग लावै"। अब अज्ञानियों की मति का उल्लेख करते हैं। अज्ञानी लोग अपनी विवेक-दृष्टि को खोकर इतने अन्धे हो गये हैं कि पानी में (उनके हृदय में) पावक (त्रितापाग्नि) सदैव जलती रहती है, परन्तु उनको नहीं सूझता है। भाव यह है कि अविवेकी लोग अज्ञान वश अनेक अनर्थ करते हुए उनके सन्ताप कारक फलों को भोगते रहते हैं। २—यह देखिये कैसा आश्चर्य है कि गाय (माया)ने नाहर=सिंह (जीव) को खा डाला। और हिरण (तृष्णा) ने चीता (सन्तोष) को पछाड़ मारा। अविद्या मलिन सत्व प्रधान होती है और माया शुद्ध सत्व प्रधान होती है इस अभिप्राय से "सिंहोमाणवकः" की तरह गौणीलक्षणा द्वारा माया को गाय कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी गौणीलक्षणा जानना चाहिये। और भी सुनिये कौवे ने, अर्थात् अविवेक ने लगर (एक शिकारी पक्षी) अर्थात् विवेक को अपने पंजे में फँसा लिया। तथा बटेर (अज्ञान) ने बाज (ज्ञान) को जीत लिया। ३—मूस (भय) ने बिलाव (निर्भयता) को खा डाला। और सियार (मन) ने श्वान (अज्ञानी) को खा लिया। कबीर गुरु कहते हैं कि अज्ञानता के कारण ये सब अनर्थ हो रहे हैं, अतएव "जासे नाता आदिका, बिसरि गयो सो ठौर" इस कथन के

अनुसार (आत्म-तत्व) अपने सच्चे—बन्धु "आत्मा" के उपदेश को जो जानता है और मानता है उसी पुरुष का बाना (झंडा) 'बेस' अच्छा है। भाव यह है कि ऐसे ही पुरुषों को धर्म का बाना धारण करना शोभा देता है कि जो "अविभक्तं विभक्तेषु यः पश्यति स पश्यति" अर्थात् देहों की विभिन्नता होने पर भी एक रूप से सबों में मिले हुये "आत्म-तत्व" को समझ कर सबों के साथ आत्मीय-व्यवहार करते हैं, क्योंकि "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्"। अर्थात् ज्ञानी लोग सारी ही पृथ्वी को अपना कुटुम्ब समझते हैं। आत्मा का यह उपदेश है कि "श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुतं चाप्यवधार्यताम्। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" अर्थात् ऐसा वर्ताव दूसरों के साथ न करना चाहिये जिसको तुम स्वयं (अपने लिये) न चाहते हो। यहाँ पर 'ऊदेश' ऐसा भी पाठ है। अर्थ—अज्ञानियों के परोक्षभूत निज पद को जो जानता है, उसका बाना बनाना वेस=अच्छा है। औरों की तो यह दशा है कि "बिना ज्ञान का जोगना, फिरै लगाये खेह"। ४—यह एक बड़ा अचरज जान पड़ता है कि एक ही दादुर, मेंढक (भ्रम) ने पाँच भुजंगों (सर्पों) को अर्थात् ज्ञान, विवेक, वैराग्य, शम, और दम, को खा लिया। कबीर साहब कहते हैं पूर्वोक्त शुभाशुभ गुणों के रहने का स्थान हृदय रूप एक ही घर है। विशेषता यही है कि इनमें जो प्रबल होता है, वह अपने वैरियों को मार भगाता है। येही शुभाशुभ गुण दैवी सम्पत्ति तथा आसुरी सम्पत्ति नाम से भी प्रसिद्ध है। भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकार से देवासुर संग्राम सदैव हुआ करता है, अतः मुमुक्षुओं को उचित है कि उक्त शत्रुओं से सदैव सचेत रहे।

(११२)

झगरा[1] एक बड़ो राजा-राम, जो निरुवारै सो निरबान।
ब्रह्म[2] बड़ा को जहाँ से आया, बेद बड़ा की जिन्हि उपजाया।

ई मन[३] बड़ा कि जेहि मन माना, राम बड़ा की रामहिं जाना।
भ्रमि भ्रमि कबिरा[४] फिरै उदास, तीरथ बड़ा कि तीरथ-दास।

टि०—[आत्मदर्शन तथा आत्म परिचय]

१—कर्त्ता और कृत्रिम (जड़ चेतन तथा कल्पिताकल्पित) को ठीक २ पहचान लेना यह एक बड़ी भारी समस्या है। इसको जो हल करता है वही मुक्त होता है। "कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः" (गीता) २—"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं योवै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै" इस श्रुति के अनुसार धाता (ब्रह्माजी) और वेद बड़े हैं, अथवा उन के भी विधाता (जनक) आत्मदेव बड़े हैं ?। ३—"यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्" इस श्रुति के अनुसार मनरूपी तरंग बड़ी है, अथवा उसका भी आश्रयभूत अपार-पारावार-चेतन महोदधि बड़ा है ? ४—एवं भक्तों के ज्ञान और ध्यान के विषय भूतऽसादिराम (अवतार) बड़े हैं, अथवा उन को अपने मनोमन्दिर में प्रतिष्ठित करने वाले रामभक्त बड़े हैं ?। "नेदंहृऽयदिदमुपासते" यह श्रुति तो इस प्रश्न का स्पष्ट ही उत्तर दे रही है। "भक्ती के बस भाई प्रभु तुम भक्ती के बस भाई" इत्यादि वचनों के आकलन से भक्ति दृष्टि से भी रामभक्त रामजी से बड़े हैं। ५—सर्व भूत हृदय निवासी प्रत्यक्षराम (चेतनदेव) को न जानने वाले कबीरा= अज्ञानी लोग उसके मिलने के लिये अनेक तीर्थों में भ्रमण किया करते हैं, और वहाँ पर भी न मिलने के कारण सदैव निराश और उदास (खिन्न) रहा करते हैं। क्योंकि उनको यह ज्ञात नहीं है कि ये स्थावर तीर्थ बड़े हैं, अथवा इन के बनाने वाले जंगम-तीर्थ और सच्चे 'तीर्थ-दास' (सन्त-सज्जन) बड़े हैं ? "मामयं तारयिष्यति" इस प्रकार "तीरथ-हू आसा करैं कब आवै वह दास"। यह ज्ञात होना चाहिये कि ये सब तीर्थ महात्माओं के तपोनुष्ठान से विनिर्मित हुए हैं; जैसे कि बुद्ध गया में बोधी वृक्ष के नीचे बुद्धभगवान् ने बुद्धत्व का लाभ किया इस कारण वह तीर्थ बन गया। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये।

भावार्थ—आत्म ज्योति सब की प्रकाशक है, अतः उसी का साक्षात्कार करना चाहिये। "तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत" (गीता)

(११३)

भूठे[1] जनि पतियाउ हो, सुनु संत—सुजाना।
(तेरे) घट[2] ही में ठग-पूर है, मति खोव हु अपना[3]
भूठेका मंडान है, धरती असमाना।
दसहूं दिसा वाकि फंद है, जिव घेरै आना॥
जोग जाप तप संजमा, तीरथ व्रत दाना।
नौधा[5] बेद कितेब हैं, भूठे का बाना[4]।
काहू के बचनहिं फुरै, काहू करमाती।
मान बड़ाई ले रहे, हिन्दु तूरुक जाती॥
बात ब्योंते[6] असमान की, मुदती नियरानी।
बहुत खुदी दिल राखते[7], बूडे बिनु पानी॥
कहँहि कबीर कासों कहौ, सकलो-जग अंधा।
सांचा[10] सों भागा फिरै, भूठे का बंदा॥

टि०—[मन का साम्राज्य]

१—मन का विश्वास न करिये। "मन लोभी मन लालची, मन चंचल मन चोर। मनके मते न चलिये; पलक २ मन और"। २—हृदय कमल में। "तन के भितर मन उनहु न पेखा" ३—अपना धन (ज्ञानादिक) ४—पसारा या रचना। भाव यह है कि सर्वत्र फैली हुई मनोमयी विकल्प-वागुरा नरपशुओं को फंसाती रहती है। ५—नवधाभक्ति। ६—झंडा। अर्थात् इस वामन [ओछे] मनने उक्त योगादिरूप अभ्रंकष अट्टालिकाओं पर भी अपनी विजय-वैजयन्ती फहरा दी। और सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह कि इसने अकेले ही ईश्वरीय और खुदाई ग्रन्थ वेद और कुरान रूपी दुर्गम-दुर्गों को भी बात की बात में हस्तगत कर लिया।

भाव यह है कि धर्म-ध्वजी लोग धर्म और दीन की दुहाई देकर टट्टी की आड़ में शिकार की तरह, धर्म की आड़ लेकर अनेक अत्याचार करते रहते हैं। ७—वचन सिद्धि। ८—बातों से तो आसमान को भी नाप डालते हैं परन्तु यह कभी नहीं सोचते कि हमारी मृत्यु तो निकट चली आई है। ठीक ही है "ओटत कातत जन्म सिराना" इसके अनुसार पक्के प्रपंचियों की उधेड़ बुन और ताना बाना अन्त तक नहीं छूटता है। ९—महा अहङ्कारी लोग भ्रमरूप भँवर में पड़ कर डूब गये। १—घट २ निवासी सच्चे राम या खुदा से विमुख होकर केवल पानी और पत्थरों में तथा सातवें आसमान पर रहने वाले झूठे राम और खुदा के दास और बन्दे रहते हैं। और अनेक अनर्थों से संसार को उत्पीड़ित करते रहते हैं। " ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" [गीता] "त दुर्दर्श गूढ़मनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्" "हृदय बसे तेहि राम न जाना" तथा "घट २ है अविनासी सुनहु तकी तुम सेख" [बीजक] भजन —माया के गुलाम गीदी का जानेंगे बंदगी। साधुन से धूम—धाम चोरन के कहते काम, हरामी से हाथ जोड़ें गरीबों से रंदगी। माया के गुलाम०।

(११४)

सारसब्द[1] से बांचि हो, मानहु इतबारा (हो)†
आदि-पुरुष एक बृच्छ है, निरंजन[2]-डारा (हो)
तिरि-देवा साखा भये, पत्ता संसारा (हो)
ब्रह्मा बेद सही कियो, सिव जोग पसारा (हो)
बिस्नु मया+उतपति किया, उरले*व्यवहारा (हो)

---

† ये दोनों उपमान छन्द हैं। लक्षण "तेरह दस उपमान रच, दै अन्तै कर्णा।" अर्थात् १३ और १० मात्राओं के विश्राम से 'उपमान' छन्द सिद्ध होता है, अन्त में 'कर्णा' दो गुरु होते हैं।

पाठा० + दया। * परले।

तीन लोक दसहूँ दिसा, जम रोकिन द्वारा (हो)
कीर[३] भये सब जीयरा, लिये विषके चारा (हो)
जोति[४] सरूपी हाकिमा, जिन अमल पसारा (हो)
करम कि बंसी लायके, पकरयो जग-सारा (हो)
अलम[५] मिटावौं तासु का, पठवौं भवपारा (हो)
कहँहिं कबिर निरभय करौं, परखो टकसारा[६] (हो)

टि०—[तत्वोपदेश]

१—"सारसब्द निरनयको नामा, जाते होय जीव को कामा" । इसके अनुसार निर्णायक-वचन (तत्वोपदेश) को सारशब्द कहते हैं । २—पारिभाषिक निरंजन (मन) ३—शुक (अज्ञानी लोग) 'अमृत धोखे गौ विष खाई' । ४—निरंजन (मन) 'मैं सिरजौं मैं मारऊँ मैं जारौं मैं खाउँ । जल थल मैं ही रमि रह्यौ मोर निरंजन नाम' । 'एकल निरंजन सकल सरीरा, तामें भ्रमि भ्रमि रहल कबीरा' (बीजक) 'दूरगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' (यजुर्वेद) ५—अधिकार, आधिपत्य । कबीर साहब कहते हैं कि यदि आप लोग मेरी शिक्षा को मानकर मन की दासता छोड़कर 'रामदास' (विश्वबन्धु) बन जायेंगे तो मैं तुम्हारे ऊपर वर्तमान निरंजन के आधिपत्य को मिटाकर तुमको संसार-सागर से पार कर दूँगा । 'इतने में हरिना मिले तुलसीदास जमान' । "इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः" । ६—(सिद्धान्त) मेरा कहा हुआ सिद्धांत वाक्य है । इसकी खूब परीक्षा कर लीजिये । "बारि मथे बरु होय घृत, सिकता ते बरु तेल । बिनु हरि भजन न भवतरे यह सिद्धांत अपेल"[१] । (गोस्वामी जी) नोट—'टकसार' या 'टकसाल' उस स्थान का नाम है जहाँ पर सरकारी सिक्के (अशरफी वगैरह) ढाले जाते हैं । टकसार एक प्रामाणिक स्थान होता है, अतः गौणीलक्षणा से "सिंहो माणवकः" की तरह सिद्धान्त-वचन आदिक भी 'टकसार' कहे जाते हैं ।

(११५)

संतो ऐसी भुल जग माहीं, (जाते) जिव मिथ्या[1] में जाहीं।
पहिले भूल ब्रह्म अखंडित, झाँई[2] आपुहि मानी।
झाँई में भूलत इच्छा[3] कीन्हीं, इच्छा ते अभिमानी।
अभिमानी करता हो बैठे, नाना ग्रंथ चलाया।
वोहि भूल में सब जग भूला, भूल[4] का मरम न पाया।
लख चौरासी भूल ते कहिये, भूलते जग बिटमाया।
जो है सनातन[5] सोई भूला, अब सो भूल हि खाया।
भूल मिटै गुरु मिलैं पारखी, पारख देहिं लखाई।
कहहिं कबीर भूल की औषध, पारख[6] सब की भाई॥

टि०—[स्वरूपविस्मृति का वर्णन]

१—असत्माया और उसके कार्य। २—छाया (स्फुरण) 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचनमिषत्। स ऐक्षत् लोकान्नुसृजा इति'। (ऐतरीयोपनिषद् (अध्याय १ खंड १ मंत्र १) ३—'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा, इदँ सर्वमसृजत यदिदं किंच। (तै० अ० २ वल्ली २ मंत्र ३०) ४—माया अथवा अध्यास अनादि है। ५—अनादि। (जीवात्मा) ६—परीक्षा, आत्मविवेक। "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्, नास्त्यकृतं कृतेनेति"

ज्ञान-चौंतीसा

वोंओं[1] कार† आदि जो जानै लिखि कै मेटै ताहि सो मानै।

अत्र स्थाणु-सुपत्तने हि पुरतः क्ष्मोणीतले संस्थितो।
लोकातीतमहोदयो गुणनिधिः शास्ति† स्वशिष्यान् पुरा॥
आर्य्यानार्य्यभिदामपास्य जनितोह्यैकात्मतत्वं परम्।
नानाऽऽडम्बरवारणैकमिहिरः श्रीमत्कबीरो गुरुः॥
चतुस्त्रिंशत्सुवर्णानां वादव्याजेन योऽदिशत्।
ज्ञानरत्नं परं भास्वत्तं कबीरमहं भजे॥

टि०—(हठयोगसमीक्षा)

इस "ज्ञान चौंतीसा" प्रकरण में ॐ कारादि चौंतीस अक्षरों के परस्पर सम्वाद रूप से तत्वोपदेश दिया गया है। सूचना—स्वर और व्यंजनों से पृथक् होते हुए भी अक्षरान्तर्गत होने के कारण ॐ कार का प्रथमतः उल्लेख किया गया है। "ॐ मित्येकाक्षरं ब्रह्म" (गीता)। प्राचीन हिन्दीलिपि-विशेष (कैथी) में ॐ का विन्यास 'वोंओं' इस रूप से किया जाता था। लिखित प्राचीन बीजक की प्रतियों में सर्वत्र ॐ कार उक्त रूप से ही लिखा हुआ मिलता है। उक्त प्रकार के रूप के इस ग्रन्थ के सब छन्द लक्षणानुकूल बन जाते हैं। जैसे यह चौपाई छन्द अनुलक्षण हो गया है। प्राचीन प्रतियों में "काका" "खाखा" या "कक्का" ऐसा लिखा हुआ है। उक्तलेख छन्दोऽनुरूप है। १—"जिसको ॐ कार अक्षर के लिख देने और मिटा देने तथा उच्चारण और अनुच्चारण में पूर्ण स्वतंत्रता है वह (चेतन-देव) वेद के आदिभूत ॐकार शब्द का भी आदि है। "ॐ कारश्चार्थ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा कंठंभित्वा विनिर्यातौ" ऐसा जो जानने वाला है वह ॐकार की आदि को जानने वाला है। "आदि को

†"पुरिलुङ्चास्मै" ३।२।१२२। इति सूत्रेण भूतार्थेलट्।

वोओं कार कहैं । सभ-कोई जिन्हि यह लखा सो बिरले होई ।
काका[२] कमल किरन महँ पावै ससि बिगसित संपुट नहिं आवै ।
तहाँ कुसुंभ रंग जो पावै औगह गहिके गगन रहावै ।
खाखा[३] चाहै खोरि मनावै खसमहिं छाँडि दहौं दिसि धावै ।
खसमहि[४] छाँडि छिमा हो रहिये होय न खीन अखय-पद लहिये ।
गागा गुरुके बचनहिं मान दूसर-शब्द करो नहिं कान ।
तहां बिहंगम कबहुँन जाई औगह गहिके गगन रहाई ।
घाघा[५] घट बिनसै घट होई घट ही में घट राखु समोई ।

ऊदेस जाने तासु वेस बाना" "कहँहिं कबिर जन भये विवेकी जिन जंत्री सों मन लाया" (बीजक) अधिकतर लोग ॐकार का जाप किया करते हैं, परन्तु उसके वाच्यार्थ को बताने वाले इस रहस्य को जानने वाले विरले हैं । (यह ॐकार का कथन है) । सूचना—यहाँ पर स्वोक्ति (सद्गुरुवचन, 'अपनाइत') और परोक्ति (योगी वचन 'पराइत') और रूप से सिद्धान्त और पूर्व पक्ष का उल्लेख किया जायगा २—हठयोगियों का कथन है कि ललाटस्थ-अमृता-शक्ति (चन्द्रनाड़ी) से उन्मीलित हुए कमल के किंजल्क में निजरूप के दर्शन (कुसुम्भरंग के समान) होते हैं । अनन्तर गैबीकी गैबगुफा में दर्शक स्थिर हो जाते हैं । ३—गुरु वचन । 'ख' अक्षर यह कहता है कि निजरूप को भूलकर उक्त प्रकार से सर्वत्र भटकने वाले अज्ञानी चाहते हैं कि हम अपराधी न गिने जायें, तो उनको उचित है कि झूठे मालिक को छोड़कर सच्चे की शरण में जावें और मुक्त होवें । ४—उक्त योगी वचन । "विहंगम=मन रूपी-चंचल पक्षी । ५—गुरु० । उक्त कल्पनाओं के ही कारण बार बार शरीर धरने पड़ते हैं अतः मनको (कल्पना रहित करके) लीन करिये । भजन— "मनही में उलटि समाजा मनतू मनही में०" । वृत्तितनुता और वृत्तिविरलता से मनोनिरोध अवश्य हो जाता है । सूचना—प्राचीन लिपि में ङ, ञ,

जो घट घटे घटहिँ फिरि आवै घट ही में फिरि घटहि समावै।
नाना[1] निरखत निसुदिन जाई निरखत नयन रहा रतनाई।
निमिषि एक जो निरखै पावै ताहिनिमिषि में नयन छिपावै।
चाचा[7] चित्र रचो बड़ भारी चित्र छाँड़ि (तैं) चेतु चित्रकारी।
जिन्हि यह चित्र विचित्र उखेला चित्र छाँड़ि तैं चेतु चितेला।
छाछा[8] आहिँ छत्रपति पासा छकिकिनरहसिमेटिसभआसा।
मैं तोहीं छिन छिन समुझावा खसम छाँड़ि कस आपु बँधावा।
जाजा[9] ई तन जियतहिँ जारो जोबन जारिजुगुति जो पारो।
जो किछु जानि जानि परजरे घटहिं जोति उजियारी करै।
झाझा[10] अरुझिसरुझिकितजान हींडत ढूंढत जाहिँ परान।
कोटि सुमेर ढूँढि फिरि आवै जो गढ़ गढ़े गढ़हिं सो पावै।

साखी—नाना[11] निगर (ह) सनेहु करु, निरुवारो संदेहु।
नहीं देखि नहिँ भजिये, परम सयानप येहु॥

ण, इन तीनों की जगह 'न' का ही प्रयोग होता था, अतएव यहाँ पर "नाना निरखत" और "नाना निग्रह से" इत्यादि रूप से वर्णमैत्री स्थिर होती है। ६—योगी०। यदि किसी समय क्षण मात्र भी ब्रह्मज्योति के दर्शन हो जायेंगे तो संसार से दृष्टि हट जायगी। ७—गुरु० 'च' का यह कथन है कि भौतिक ज्योति आदिक उक्त झूठे चित्रों में न भूलकर चित्रकार रूप (चेतन, स्वयंज्योति का साक्षात्करिये)। ८—गुरु०। छत्रपति=आत्मदेव। छकि=तृप्त। ९—योगी० 'ज' कहता है कि योग युक्ति जानकर योगाग्नि से जीते जी शरीर को जलाकर खाक कर डालोगे तब ब्रह्माण्ड में ज्योतिका प्रकाश होगा। १०—गुरु० 'झ' कहता है तुम उक्त मायिक शैवाल जाल में फँसकर प्राण क्यों देते हो। "भूतानि यान्ति भूतेज्या" के अनुसार अन्त में तुम स्वयं भूत हो जाओगे ११—गुरु०। दूसरा 'नन्ना' कहता है कि सब सन्देहों को छोड़कर प्रपंच से मन को हटा

नहिं देखिये नहि आपु भजाऊ जहाँ नहीं तहाँ तन-मन लाऊ।
जहाँ नहीं तहाँ सभ किछु जानी जहाँ नहीं तहँ ले पहिचानी।
टाटा[१२] बिकट बाट मन माँही खोलि कपाट महल मों जाँहीं।
रही लटापटि जुटि तेहि मांहीं होंहिं अटल ते कतहुँ न जांहीं।
ठाठा ठौर दूरि ठग नियरे नितके निठुर कीन्हि मन घेरे।
जे ठग ठगे सभ लोग सयाना सो ठग चीन्हि ठौर पहिचाना।
डाडा[१४] डर उपजे डर सोई डरही में डर राखु समोई।
जो डर डरे डरहिँ फिरि आवै डरही में फिरि डरहि समावै।
ढाढा[१५] ढूंढत हो कित जान हींडत ढूंढत जाहि परान।
कोटि सुमेर ढूंढ़ि फिरि आवै जिहिँ ढूंढा सो कतहुँ न पावै।

लीजिये। विषयों में न मन दौड़े न इन्द्रियाँ, बस यही महात्मापन है। इस भौतिक ज्योति के चपला प्रकाश को देखकर मत दौड़ो। जिस अनन्त पद में उक्त प्रकाश नहीं पहुँच सकता है वही स्वयं प्रकाश है, और वही तुम्हारा सर्वस्व है; अतः उसको पहचान कर प्राप्त करो।

१२—गुरु० टट्टा कहता है वृत्ति बनिता को 'रंगमहल' (निजपद) में पहुँचने में भारी कठिनाई तो यह है कि मन रूपी दुर्ग की (कल्पना) वासना रूपी घाटी बड़ी दुर्गम है। उससे पार हो जाने पर तो ज्ञान की कुंजी से आवर्ण रूपी कपाटों को खोल कर सहज ही आत्ममहल में जा सकती है। अनन्तर वहां पहुँचतेही अभुक्त पूर्व प्रिय सुख के मिलजाने से वह सब कुछ (संसार को) भूल जाती है १३—गुरु०। भटक जाने से स्थान (निजपद) दूर पड़ गया अतएव अवसर पाकर ढीठ ठगों ने (कामादिकों ने) मन बनिये को आ घेरा। १४—गुरु०। अज्ञानी मिथ्या कल्पनाओं से डरकर अनेक कर्म करते हुए संसार में भटकते रहते हैं, अतः कल्पनाओं के भँवर से दूर रहना चाहिये। १५—गुरु०। सुख की आशा से अपने आप को ढूंढने के लिए बाहर क्यों भटक रहे हो। भजन

नाना[17] दुई बसाये गांऊ रेना ढूंढ़े तेरी नांऊ।
मूये एक जाँय तजि घना मरे इत्यादिक तेके गना।
ताता[18] अति त्रियों नहिं जाई तन त्रिभुवन महँ राखु छिपाई।
जो तन त्रिभुवन माहिं छिपावै तत्तहि मिले तत्त सो पावै।
थाथा[19](अतिअ)थाहथाहिनहिंजाई ईथिर ऊथिर नाहिं रहाई।
थोर थोर थिर होहु रे भाई बिनु थंभे जस मंदिल थँभाई।
दादा[20]देखहु बिनसनि हारा जस देखहु तस करहु बिचारा।
दसहुँ दुवारे तारी लावै तब दयाल के दरसन पावै।
धाधा[20] अरध माहिं अँधियारी अरध छाँड़ि ऊरध मन तारी।

—"हेली बाहर ढूंढ़े काँई, तेरे सबसुख हैं घट माहीं"। १६—गुरु०। तुमने हृदय में प्रपंचपुर बसा लिया है अतएव वह एकान्त वासी-योगी गुप्त हो गया। अब गंधमृग की तरह अज्ञानता से उसको दूर समझकर दूर दूर ढूंढते और भटकते हुए माया जाल में पड़ गये हो। इसी तरह प्रायः सबही मारे जाते हैं। १७—गुरु०। माया-नदी अति विशाल और भयंकर है अतः तैरने में नहीं आ सकती है। त्रिगुणात्मक तीनों भुवनों में रक्षार्थ छिपने वाला मन तत्वों का दास बन कर 'भूत' (पञ्च भूतात्मक) बन जाता है। "मैं जानौं मन मर गया मर कर हूवा भूत, मूये पीछे उठि लगा ऐसा मेरा पूत" १८—गुरु०। मनो महोदधि अथाह है। यह पिंड और ब्रह्मांड तथा मर्त्य और स्वर्ग में भी स्थिर नहीं रहता है। "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" (योग दर्शन) इसके अनुसार धीरे २ वश में आ सकता है। १९—प्रत्यक्षतः संसार विनशन-शील है, अतः इसको विनाशी ही समझो। योगी०। ब्रह्मरन्ध्र में प्राणों के आयाम से समाधिस्थ होने पर निजरूप का साक्षात् होता है। २०—योगी०। पिंड-भूसंचारी मन रूपी पक्षी को हिंसकों का भय रहता है। अतः उचित है कि यह गगन मण्डल में स्वच्छन्द घूमता हुआ अहङ्कार अन्ध-

अरध छांडि ऊरध मन लावै आपा मेटिके प्रेम बढ़ावै।
चौथे[२१] वो नानामहँ जाई रामका गदहा हो खर खाई।
पापा[२२] पाप करैं सभ कोई पाप के करे धरम नहिं होई।
पापा कहै सुनहु रे भाई हमरे से इन किछुवो न पाई।
फाफा[२३] फल लागे बड़ दूरी चाखै सतगुर देइ न तूरी।
फाफा कहै सुनहु रे भाई सरग पताल कि खबरि न पाई
बाबा[२४] बरबर कर सभ कोई बरबर करैं काज नहिं होई।
बाबा बात कहै अरथाई फलका मरम न जानहु भाई।
भाभा[२५] भभरि रहा भरपूरी भभरे ते है नियरे दूरी।
भाभा कहै सुनहु रे भाई भभरे आवै भभरे जाई।
मामा[२६] (के) सेवै मरम न पाई हमरे से इन मूल गमाई।
माया मोह रहा जग पूरी माया मोहहिं लखहु बिसूरी।

कार से निकल कर प्रेम प्रकाश में पहुँच जाय। २१—गुरु०। चौथा नन्ना कहता है जो भक्त कहलाते हुए भी हृदय निवासी राम को न जानकर प्रपंच पंक में और मायारूपी खाक में लोटते रहते हैं वे राम को वहन करने वाले राम के हाथी नहीं हैं, किन्तु केवल उनके नाम के भारको लादने-वाले राम के गदहे हैं, अतएव ऊख के मधुर रस (राम-रस) से वंचित रहकर नीरस विषय तृणों को चबाया करते हैं। "भगति न जानै भगत कहावै, तजि अमृत विष कै लिन्ह सारा।" २२—गुरु०। हमरे से, पाप कर्मों से। २३—योगी०। अपने कर्मों से मुक्तिफल स्वर्ग में मिलता है। गुरु०। "मुक्ति नहीं आकास है, मुक्ति नहीं पाताल। जब मन की मनसा मिटे तबही मुक्ति बिसाल"। २४—गुरु। "स्वर्गादि फल अनित्य हैं" यह मर्म तुमको नहीं है। २५—गुरु०। "भरमक बान्धल ई जग यहि विधि आवै जाय" इसके अनुसार अति निकट अमर पद भ्रम से दूर हो गया। २६—गुरु०। माया और मोह की सेवा से आत्मगौरव चला गया। बेसहूर=अज्ञानी।

जाजा[२७] जगत रहा भरपूरी जगतहुँ ते है जाना दूरी।
जाजा कहै सुनहु रे भाई हमरे से वे जै जै पाई।
रारा[२८] रारि रहा अरु जाई राम कहै दुख दालिद जाई।
रारा कहै सुनहु रे भाई सतगुर पूछि के सेवहु आई।
लाला[२९] तुतुरे बात जनाई तुतुरे पा तुतुरे परचाई
अपने तुतुर और को कहई एकै खेत दुनो निरबहई?।
वावा[३०] वह वह कह सभ कोई वह वह कहै काज नाहिं होई।
वह तो कहै सुनै जो कोई सुरग पताल न देखै जोई।
सासा[३१] सर नहिं देखै कोई सर सीतलता एकै होई।
सासा कहै सुनहु रे भाई सुन्न समान चला जग जाई।
षाषा[३२] खर खर कर सभकोई खर खर करै काजनहि होई

सूचना—प्राचीन हिन्दी में 'य' के स्थान में 'ज' 'ग' की जगह 'स' और 'घ' के स्थान में 'ख' लिखते थे। एवं क्ष, त्र, ज्ञ, ये व्यञ्जन नहीं लिखे जाते थे किन्तु 'छ' आदिक लिखे जाते थे अतएव इस चौंतीसा में 'क्ष' नहीं है। ॐ अक्षर को लेकर 'ह' तक ३४ अक्षर हैं। यह पाठ प्राचीन है। २७—गुरु०। जगत् में सब जगह माया मोह का साम्राज्य है अतः इससे दूर हो जाने वाला इसको जीत सकता है। २८—गुरु०। नटखट मन का तो दास बना हुआ है और केवल राम का नाम लेकर सुखी होना चाहता है ऐसे को 'रारा' उपदेश देता है कि गुरु से ज्ञान लो। २९—गुरु०। तुतुले=अस्पष्टवक्ता (वञ्चक) क्योंकि "स्पष्टवक्ता न वञ्चकः"। स्वयं अज्ञानी ज्ञानोपदेश देता है, क्या ज्ञान और अज्ञान एक समय एक हृदय में रह सकते हैं?। ३०—गुरु०। वह=परोक्ष। निजपद को दूर बताते हैं। जो जानता है वह उसके लिये स्वर्ग और पाताल में जाना नहीं चाहता है। ३१—सर=सुख-सागर (साहब) शीतलता=परमशान्ति। शून्य=भ्रम। ३२—खर २=नाना खट २ (सकामकर्म) पराई=भाग जाना। माया सांपिनी को देखकर भाग जाओ। "यः पलायति

षाषा कहै सुनहु रे भाई राम नाम ले जाहु पराई।
सासा[३३] सरा रचौ बरियाई सर बेधे सभ लोग तबाई
सासा के घर सुन गुन होई इतनी बात न जानै कोई।
हाहा[३४] करत जीव सभ जाई छेव परै तब को समुझाई।
छेव परे केहु अंत न पावा, कहँहिं कबिर अगमन गोहरावा।

स जीवति"। ३३—गुरु० कामना रूपी भारी 'चिता' जल रही है और मन-महारथी कामादिक तीक्ष्ण बाणों से अदान्त और अशान्त अज्ञानियों को मार २ कर उसमें डाल रहा है। "कामनाओं का उद्गम मन से है" यह कोई नहीं जानता है। ३४—गुरु०। अन्त समय हाहाकार करते हुए सब कोई शरीर छोड़ते हैं। उस समय कोई ज्ञान नहीं दे सकता है। "मुये गये की काहु न कही" इस कारण कबीर साहब पहले से पुकार कर कह रहे हैं कि "जियत आपु लखु जियत ठौर करु मुये कहां घर तेरा। यहि अवसर नहिं चेतहु प्रानी, अंत कोइ नहि तेरा"।

विप्रमतीसी[१]

सुनहुसभन्हिमिलिबिप्रमतीसी हरि बिनु बूड़ी नाव भरीसी
ब्राह्मन होके ब्रह्म न जानैं घर महँ जग्य-प्रतिग्रह[२] आनैं।
जे सिरजा तेहि नहि पहिचानैं करम भरम ले बैठि बखानैं।
ग्रहन अमावस अवर दुईजा सांती[३] पांति प्रयोजन पूजा।

१—इस प्रकरण में मिथ्या अभिमान और हिंसादि क्रूर कर्मों में तत्पर नाम मात्र के ब्राह्मणों को ब्राह्मणोचित धर्म का उपदेश दिया गया है। विप्रमतीसी=पूर्वोक्त ब्राह्मणों की बुद्धि का वृत्तान्त। वस्तुतः यह शब्द विप्रमतितीसी है; क्योंकि इसमें तीस चौपाइयों से उपदेश दिया गया है। २—यज्ञों में दिये हुए दान। प्रतिग्रहपरायणता निषिद्ध है। ३—ग्रह-

प्रेत[४]-कनक मुख-अंतर बासा आहुति-सहित[५] होम की आसा।
कुल उत्तिम जग माँहि कहावैं फिरि फिरि मधीम करमकरावैं।
सुत[६]-दारा मिलि जूठो खाई हरि भगतन की छूति कराहीं।
करम असौच[७] उचिस्टा खाँहीं मति भरिष्ट जमलोकहिं जाहीं।
नहा[८] खोरि उत्तिम होय आवैं विस्नु भगत देखे दुख पावैं॥

बोधयामास यो विप्रान् हिंसादिक्रूरकर्मठान्।
"आत्मवत्सर्व भूतानि" त्येवं तं सद्गुरुं श्रये॥

(विप्रकर्ममीमाँसा[९])

स्वारथ लागि रहै वे काजा नाम लेत पावक जिमि डाढ़ा।
राम क्रिस्नकीछोडिन्हिआसा पढ़िगुनि भये क्रीतम[१०] के दासा।
करम पढ़ैं करमहि को धावैं जे पूछे तेहि करम दिढावैं।
निहकरमी[११] की निदा कीजै करम करै ताही चित दीजै।
ऐसिभक्ति भगवंत कि लावै हिरणाकुस को पंथ[१२] चलावैं।
देखहु सुमति केर परगासा*(बिनु)अभिअंतर[१३](भये)किरतमदासा।
जाके[१४] पूजे पाप न ऊडै नाम सुमिरनी भवमहँ बूडै।
पाप-पुन्य के हाथे[१५] पासा मारि जगत का कीन्ह बिनासा।
ई बहनी कुल बहनि[१६] कहावैं ई ग्रिह जारैं ऊ ग्रिह मारैं।

शान्ति और पुण्याहवाचनादिक। ४—श्राद्धान्न श्राद्धान्न निषिद्ध है। ५—पूर्णाहुति सहित। ६—पुत्र और स्त्री। ७—मृतकर्मादिक। ८—नहा धोकर। ९—केवल कर्मकांड और जड़-अर्चन परायण हो गये। १०—निस्त्रैगुण्य। "निस्त्रैगुण्ये पथि विचारतां को विधिः को निषेधः। ११—तामस-धर्म (कौल मार्ग, या वाम मार्गादिक)। १२—विवेक-विचार। १३—जड़ मूर्तियों के पूजने से। १४—किसी भी कार्य को धर्म अथवा अधर्म सिद्ध कर देना ब्राह्मणों का जन्म सिद्ध अधिकार है। यह धर्माधर्म-व्यवस्था रूपी पासा तो इनके हाथ का है (जैसा चाहें वैसा ढरकावें)।

बैठेते घर साहु कहावैं भितर भेद मन[15]मुसहि लगावैं।
ऐसी[19]-बिधि सुर विप्र भनीजै नाम लेत पंचासन दीजै।
बूढ़ि गये नहि अपु सँभारा ऊँच नीच कहु काहि जो हारा।
ऊच नीच है मधिम[18] बानी एकै पवन एक है पानी।
एकै मटिया[18] एक कुंभारा एकसभन्हिका सिरजनिहारा॥
एक चाक सभ चित्र बनाया नाद बिंद के मध्य समाया।
व्यापी एक सकल की जोती नाम धरे का कहिये भोती।
राच्छस-करनी देव कहावैं बाद करैं गोपाल[२०] न भावैं।
हंस देह तजि न्यारा होई ताकर जाति कहै धौं कोई।
स्याहसपेदकिराता पियरा अबरन बरन कि ताता सियरा।

स्वार्थपरायणता के कारण धर्मव्यवस्था को दुर्व्यवस्था करके "मारि जगत का कीन्ह विनासा"। १५—इन्हीं कर्मों से ये कुल के उद्धारक कहलाते हैं। वस्तुतः ऐसे कर्म कराने वाले यह लोक और परलोक दोनों नष्ट कर देते हैं। १६—वंचना का अवसर देखते रहते हैं। १७—खेद है कि ऐसे कर्म कराने वाले ब्रह्मबन्धु भी 'भूसुर' कहलाते हैं और अपना परिचय देते ही बैठने के लिये 'पञ्चासन' पाते हैं। "पञ्चासन" एक प्रकार का यज्ञीय दर्भासन होता है, जैसा कि 'संस्कारपद्धति' में लिखा है—"पञ्चविंशतिदर्भाणां वेष्टग्रे ग्रथिभूषिता। विष्टरं सव यज्ञेषु लक्षणं संप्रकीर्तितम्"। १८—हलकी। १९—भूतपंचक। 'कुम्हारा' (विधाता) 'एकचाक' (भूमंडल) 'नॉद-विंद' (पवन और वीर्य) ज्योति (स्वयंज्योति, आत्मा) कल्पित अनेक नामों के धरने से क्या वह सचमुच भौतिक' (अनित्य और ऊँच नीच) कहा जा सकता है। २०—सबोंका परमपिता ईश्वर इस ऊँचनीच विषयक जाति विवाद से कदापि प्रसन्न नहीं होता है। हंस [जीवात्मा]। २१—कबीर साहब कहते हैं कि उक्त तत्वकथा ध्रुवसत्य है, परन्तु "कहिये काहि कहा नहिं मानै"

हिंदू तुरुक कि बूढ़ौ बारा नारि पुरुष का करहु बिचारा।
कहिये[२१] काहि कहा नहिं मानै दास कबीर सोइ पै जानै।
साखी—बहा[२२] है बहि जाता है, कर गहे चहुँ ओर।
समुझाये समुझै नहीं, देहु धका दुइ और॥

क्योंकि कर्मों के दास तो केवल अपने स्वामी (धर्म) को ही अपना कल्याण-कारक समझते हैं। २२—यदि मूर्खों के समझाने में नरमनीति का प्रयोग सफल नहीं होता है तो दो चार दफे गरमनीति का भी प्रयोग करके देख लेना चाहिये।

कहरा

(१)

सहज†-ध्यान[१] रहु सहज ध्यान रहु, गुरुके बचन समाई हो।
मैली सिस्टि चरा चित राखहु, रहहु दिस्टि लव[२] लाई हो।
जस दुख देखि रहहु यहि अवसर, अस सुख होइ है पाये हो।
जो खुटुकार बेगि नहिं लागै, हृदय निवारहु कोहू हो।
मुकुति[४] कि डोरि गाढ़ि जनि खैंचहु, तव बझिहै बड रोहू हो।
मनुवहिं कहहु रहहु मन मारे, खिझुवा[५] खीझि न बोलै हो।
मानूमीत मितैवो न छोड़ै, कमऊ गाँठि, न खोलै हो।
भोगउ[७] भोग भुगुति जनि भूलहु, जौ-जुगुति तन साधहु हो।
जो यहि[८] भाँति करहु मतवाली, ता मत के चित बाँधहु हो।
नहि तो ठाकुर है अति दारुन, करिहै चाल कुचाली हो।
बाँध मारि डंड सभ लैहै, छुटिहै सभ मतवाली हो।
जबहीं सावत[९] आनि पहूँचै, पीठि साँट भल टुटि है हो।
ठाढ़े लोग कुटुम सभ देखै, कहे काहु के न छुटि है हो।
एक तो निहुरि पांव परि बिनवै, बिनति किये नहिं माने हो।

---

† छन्द 'ताठंक'। सूचना-प्रत्येक चरण के अन्त्याक्षर 'हो' को बचा कर बोलने या गाने से वही "सार" छन्द हो जाता है।

अनचिन्ह रहे न कियेहु चिन्हारी, सो कैसे पहिचनिबेउ हो।
लीन्ह बुलाय बात नहिं पूछै, केवल गर्व तन बोलै हो।
जे करि गाँठि सँमर[10] किछु नाहीं, से निरधन होय डोलै हो।
जिन्ह सम जुक्ति अगमन कै राखिन, धरिन मछभरिडेहरि[11] हो।
जेकर हाथ पाँव किछु नाहीं, धरन लागु तेहि सोहरि हो।
पेलना[12] अछत पेलि चलु बाँरे, तीर तीर का टोवहु हो।
उथले रहहु परहु जनि गहिरे, मति हाथहु की खोवहु हो।
तरके[13] घाम उपर की भुँभुरी, छाँह कतहुँ नहिं पायहु हो।
ऐसनि जान पसीझहु सीझहु, कस न छतुरिया छायहु हो।
जे किछु खेल कियहु सो कीयहु, बहुरि खेल कस होई हो।
सासु[14] ननँद दोउ देत उलाटन, रहहु लाज मुख गोई हो।
गुर[15] भौ ढोल गौनि भइ लचपच, कहा न मानेहु मोरा हो।
ताजी[16] तुरुकी कबहुँ न साधेहु, चढ़ेहु काठ के घोरा हो।
ताल-झाँझ भल बाजत आवै, कहरा सभ कोई नाचे हो।
जेहिं रँग दुलह बियाहन आये, दुलहिनि तेहि रँग राचे हो।
नौका अछत खेवै नहिं जानहु, कैसे लगबहु तीरा हो।
कहँहिं कबीर रामरस माते, जुलहा दास कबीरा[17] हो।

गीतिः सुगीता "कहरा" भिधा या।
संसारसंभंगुरताप्रबोधा॥
प्राभातिकी, लोकविबोधनाय।
तंश्रीकबीरं सततं स्मरामि॥

टि०—[योग में भोग और उसका खंडन]

१—'कहरा' एक गीति विशेष का नाम है। इस पद्य में भोग-योग वादियों का सहज-ध्यान-विषयक पूर्वपक्ष और सद्गुरु का उत्तर पक्ष बताया गया है। भजन—ऐसा ज्ञानि मिला गुरु मेरा, भोग में जोग बताया।

२—आगे बताए हुए सहज ध्यान में चित्त को रखो। चरा=क्यों। यह फारसी शब्द है। लव=लक्ष्य। ३—लगन। कोहू=क्रोध। ४—सुरती, (वृत्ति) "शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया"। रोहू=मत्स्य विशेष, (मन)। ५—क्रोध करानेवाला। ६—"तन राखो जहँ काम है, मन राखो जहँ राम"। ७—साथही साथ भोग और योग, (दोनों हाथों में लड्डू!)। ८—सद्गुरु वचन। ठाकुर=यमराज। ९—वीर (यम के दूत) साँट=छड़ी। १०—शम्बल (ज्ञान और मनोनिरोधादिक) ११—मच्छियों के रखने की पिटारी। अर्थ—जिन्होंने मनोवृत्ति-रूप मछलियों को मनरूपी डेहरी में भर दिया, उन्होंने यह समभाव रूपी शम्बल-संचय यात्रा से पहले ही करके रख लिया। यदि पूर्ण आत्मिक बल हो तो मन रूपी मत्स्य का पकड़ लेना तो सहज ही है क्योंकि न उसके हाथ है न पैर, जिससे कि वह लड़ भिड़ सके। १२—यदि सचमुच आनन्द सागर में पैठना चाहते हो तो मन को इधर उधर न चलाओ। उथले=निज पद पर। गहिरे=माया रूपी दह में। हाथहु की=हाथ में आई हुई मन रूपी मछली को। १३—अज्ञानियों की करुणकथा—अज्ञानी लोग हृदयस्थमूलाऽज्ञान रूपी तरकी घाम से और नाना सन्ताप रूपी ऊपर की सन्तप्त धूर से दुहरे भुनते रहते हैं, क्योंकि उन को शान्ति रूपी छाया तो कहीं मिलती ही नहीं। ऐ अज्ञानियो! इस प्रकार तुम अपनी जान (जीव) को क्यों जलाते और पकाते हो। आत्मबोध-रूपी अकिंचन-सुलभ झौंपड़ी क्यों नहीं डाल लेते। १४—सासु (माया) और ननँद (कुमति) के मर्मस्पर्शी-वचनों से लज्जित हो रहे हो। मुखगोई=मुँह छिपाना। १५—सदैव विधिविधानों में लगे रहे, परन्तु अब वार्धक्य से कष्ट साध्य कर्म नहीं बनते हैं। १६—कभी भी आत्मावलम्बन नहीं किया केवल सकाम कर्मावलम्बन के भरोसे रह गये। (तुरुक देश का घोड़ा बहुत अच्छा होता है।) सूचना—कहार-लोग कहरा राग गा गा कर नाचा करते हैं। उपासनासिद्धि—दशों प्रकार के अनहद शब्द प्रकट हो गये।

उन को सुनकर मनरूपी कहार नाचने लगे। अनन्तर अनात्मोपासकों को उपास्य रूपता मिल गयी। नौका=नरतन। तीर=भवपार। १७—कबीर साहब कहते हैं कि उक्त उपासक लोग प्रपंच का भी ताना तनते रहते हैं, और राम रस के भी मतवाले बने रहते हैं। ये दोनों बातें विरुद्ध हैं। "कबीर मन तो एक है भावे तहाँ लगाव। भावे गुरु की भक्ति कर भावे विषय कमाव"। सूचना—इस ग्रन्थ में 'माते' शब्द सर्वत्र खंडन परक है अतः यहाँ पर 'जोलहा' पद से कबीर साहब का स्मरण करना ग्रन्थ की परिभाषा के विरुद्ध होने से नितान्त ही अनुचित है।

(२)

मत सुनु मानिक[1] मत सुनु मानिक, हृदया बंद निवारहु हो।
अटपट कुँभरा[2] करे कुँभरैया, चमरा[3] गाँव न बाँचे हो।
निति उठि कोरिया[4] पेटु भरतु है, छिपिया[5] आँगन नाचे हो।
निति उठि नौवा[6] नाव चढ़तु है, बेरहि बेरा बोरे हो।
राउर[7] की किछु खबरि न जानहु कैसे के झगरा निबेरहु हो।
एक गाँव मों पाँच तरुनि बसे, जिहि महँ जेठ जेठानी हो।
आपन आपन झगरा प्रगासिनि, पियासों प्रीति नसान्हि हो।
भैंसिन्हि माँह रहत नित बकुला, तिकुला ताकिन लीन्हा हो।
गाइन्ह माँह बसेउ नहिं कबहूँ, कैसे के पद पहिचनबेउ हो।
पंथी पंथ पूछिं नहिं लीन्हो, मूँढ़हिं मूढ़ गँवारा हो।
घाट छाँड़ि कस औघट रेंगहु, कैसे के लगबहु तीरा हो।
जतइत[8] के धन हेरिन ललचिन, कोदइत के मन दौरा हो।
दुइ-चकरी जनि दरर पसारहु, तब पैहो ठिक ठौरा हो।
प्रेम-बान एक सतगुरु दीन्हों, गाढ़ो तीर कमाना हो।
दास-कबीर[9] कीन्ह यह कहरा, महरा माँहि समाना हो।

टि०—[आत्मप्रीति]

१—हे नर-रत्न ! तू मेरे उपदेशों को सुनकर हृदय के बन्धनों (विकारों) को दूर फेंक दे। २—मन अनेक रचनाएँ करता रहता है। ३—चर्मदृष्टि (विषयी और पामर)। ४—सकाम कर्मों का ताना तनने वाला (कर्मी) ५—छापा छापने वाला (उपासक) ६—अज्ञानियों को जब जब नर तन मिलता है तब तब वे भवजल में डुबा देते हैं। ७—गुरुपद "साहब"। तरुनि=इन्द्रियाँ। जेठ=मन। जिठानी=मनसा। आत्म-सागर को कलुषित करने वाली भैंसें=इन्द्रियाँ। बकुला=मन। तिकुला=उसको। गाइन-सात्विक वृत्तिरूप गाएँ। पद=पैर, चिन्ह और निजपद। पंथी=सत्यमार्ग के यात्री (सन्त)। रैंगहु=चलते हो। ८—'जतइत' (जाँता, चक्की वाले) और 'कोदइत' (कोदों दलने की मिट्टी की बनी हुई चक्की वाले। 'हेरिन, ललचिन' (ढूँढ़ा और ललचाये) 'दुइ चकरी' (दो चक्कियों के पास) 'जनि दरर पसारहु' पीसने का अन्न मत फैलाओ। भावार्थ—नाना देवताओं की उपासना और नाना सकाम कर्मों के फलों में मन लुभा गया। ऐहिक भोग और पारलौकिक भोगों की इच्छा को छोड़ने से मुक्ति मिलती है। ९—कबीर साहब ने यह 'कहरा' बनाया। और दूसरा यह भी अर्थ है कि 'दास कबीर' देवोपासक और कर्मी लोगों के संसरणजन्य 'कहरा' दुःख का मैंने कथन किया। परन्तु 'महरा माहिं समाना हो' जो इस रहस्य का 'महरमी' होगा वही मुक्तिमन्दिर में पैठेगा। भजन—महरमि हो सो पावे सन्तो। "दिलका महरमि कोइ न मिलिया जो मिलिया सो गरजी" (बीजक)।

(३)

रामनाम[१] को सेवहु बीरा, दूरि नाहिँ दूरि आसा हो।
और देवका[२] पूजहु बौरे, ई सभ झूठी-आसा हो।
ऊपर उजर कहा भौ बौरे, भीतर अजहूँ कारो हो।

तनके बिरध कहा भौ बौरे, मनुवा अजहूँ बारो हो।
मुखके दांत गये कहा बौरे, भीतर दांत लोहे के हो।
फिरि फिरि चना चबाउ विषयके, काम क्रोध मद लोभेके हो।
तनकी सकल संग्या घटि गयऊ, मनहिँ दिलासा दूना हो।
कहँहिँ कबीर सुनहु हो संतो, सकल सयाना पहुँना हो।

टि०—[आत्मपूजा]

१—राय 'रमैया' है नाम जिसका अर्थात् चेतन-देव, (आत्मा) 'बीरा' हे धीर वीरो ! मिथ्या आशाओं के मिटने से आत्मा दूर न रहेगा। अथवा वह दूर नहीं है किन्तु तुम्हारी आशाएं दूर चली गई हैं। २—"चलते देव को पूजले, का पत्थर से काम। जितनी बोलैं आत्मा उतने सालिग राम"। "जीवदया अरु आतम-पूजा, इन्ह सम देव अवर नहिं दूजा"। लोहे के दाँत=दृढ़ वासना। 'संग्या' शक्ति। 'दिलासा' उत्साह, होसला। 'पहुंना' मेहमान। भजन—मन नेकी करले दो दिनका मिजमान। बड़े बड़े तेरे पीर अवलिया चले देह त्यागी"।

(४)

ओढ़न मोरा रामनाम[1] मैं, रामहिं का बनिजारा हो।
रामनामका करहूँ बनिजिया, हरि मोरा हटवाई[2] हो।
सहस-नामका करौं पसारा, दिनदिन होत सवाई हो।
*जाके देव बेद पछराखा, ताके होत हटवाई हो।
कानि[3] तराजू सेर तिनिपउवा, तुरुकिनि†[4] ढोल बजाई हो।
सेर[5] पसेरी पूरा कैले पासँग कतहुँ न जाई हो।
कहँहिँ कबीर सुनहु हो संतो, जोर[6] चला जहँड़ाई हो।

---

*पाठा०—क० पु० जाके देव मैं नव पंच सेरवा ताके होत अढ़ाई हो।
† क० पु० डहके ढोल बजाई हो।

टि०—(राम के व्यापारी)

१—राम यह, है नाम जिसका अर्थात् रमैया राम मेरा 'ओढ़न' ओढ़ने का वस्त्र (शीतोष्णरूप द्वन्द्व निवारक) हैं। यहाँ पर सर्वत्र 'नाम' से नामी ही विवक्षित हैं। २—अढ़तिया। ३—वे सब राम ही हैं ४—मुसलमानों ने मेरे उक्त व्यापार को विनिन्दित किया। ५—राम नाम के गल्ले को तौलने की विधि। 'सेर' (मन) और 'पसेरी' (इन्द्रियों) को पूरा बनालो (पूर्णतःवश में करलो) तब पासंग (इच्छा) तो कहीं भी न जायगी। भावार्थ—जिस प्रकार सेर और पसेरी आदिक बाटों के पूरे रहने से पासंग का घाटा तो केवल तराजू के फेरफार से ही निकल आता है, इसी प्रकार मन और इन्द्रियों पर पूर्ण प्रभुत्व रहने से इच्छा का निरोध भी हो जाता है। "विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः, रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते" (गीता)। ६—जो दुराग्रही इस तत्वोपदेश को धारण नहीं करता है, वह भवाटवी में भटकता रहता है। जहँडाना = भटकना या दुखी होना।

(५)

रामनाम[1] भजु रामनाम भजु, चेति देखु मन माहीं हो।
लच्छ करोरि जोरि धनगाड़िन्हि, चलत डोलावतबांहीहो[2]।
दादा बाबा औ परपाजा, जिन्हके ई भुइ भांडे हो।
आंधर भये हियहु की फूटी, तिन्ह काहे सभ छांडे हो।
ई संसार असार[3] को धंधा, अंतकाल कोइ नाहीं हो।
उपजत बिनसत बार न लागै, जौं बादर की छांही हो।
नाता गोता कुल कुटुंम सभ, इन्हकरि कवन बड़ाई हो।
कहँहि कबिर एक राम भजे बिनु, बूड़ी सभ-चतुराई[4] हो।

टि०—(संसार की असारता का विचार)

१—राम 'रमैया' यह है नाम जिसका अर्थात् रामनाम वाला सर्वभूत हृदय संचारी आत्मदेव। २—संचित किये हुए अधिक धन के गर्व से

अकड़ अकड़ कर (ऐंठ ऐंठ कर चलता है। 'भांड़े' धन से भरे हुए और जमीन में गाड़े हुए बर्तन ३—यह संसार माया का रचा हुआ है। ४—व्यवहार पटुता। "चतुराई चूल्हे पड़ो, जो नहिं शब्द समाय। कोटिन गुन सूवा पढ़े, अन्त बिलैया खाय" (कबीर-साखी)

(६)

रामनाम[1] बिनु रामनाम बिनु, मिथ्या जनम गमाई हो।
सेमर[2] सेइ सुवा जौं जहडें, ऊन परे पछिताई हो।
जैसे मदपी[3] गाँठि अरथदे, घरहु कि अकिल गमाई हो।
स्वादे वोद्र भरे धौं कैसे, ओसै प्यास न जाई हो।
दरब-हीन जैसे पुरुषारथ, मनहीं मांहिं तबाई हो।
गांठो रतन[4] मरम नहिं जानै, पारखि लीन्हा छोरी हो।
कहँहिं कबीर यह[5] अवसर बीते, रतन न मिलै बहोरी हो।

टि०—(आत्मपरिचय की आवश्यकता का उल्लेख)

१—'राम' ऐसा है नाम जिसका "रमैया राम" (साहब) २—असार संसार के सेवन से अज्ञानी लोग अन्त समय ऐसे पछताते हैं जैसे सेमर के निःसार फलों को भ्रम से सुस्वादु समझ कर चोंच मारने वाला शुक पक्षी रूई के निकल पड़ने से पछताता है। ३—मद्यपान करने वाले (शराबी)। तबाही=संकट। ४—हृदय में राम है। "हृदय बसै तेहि राम न जाना"। ५—नरतन। 'रतन' निजपद, और उसका साधन ज्ञान।

(७)

रहहु[1] सँभारे राम-बिचारे, कहता हौं जो पुकारे हो।
मूँड़ मुड़ाय फूलिके बैठे, मुद्रा[2] पहिरि मजूसा हो।
तेहि ऊपर किछु छारलपेटे, भितर भितर घर[3] मूसा हो।
गांव बसतु है गरब भारती,[4] बाम[†] काम हंकारी हो।

पाठा०—† क० पु० माम।

मोहनि जहाँ तहाँ ले जैहैं, नहिं पतरहहिँ तोहारा हो।
मांझ मँझरिया बसै जो जानै, जन होइ हैं सो थीरा[५] हो।
निरभेभेतहँ[३] गुरुकिनगरिया, (सुख) सोवैदासकबीराहो।

टि०—(जैसा काछ काछे, वैसा नाच नाचे)

१—केवल वेष के अहंकार से काम नहीं चलता है। २—कानों में मुद्रा और गले में सेली पहनकर गुफा में साडम्बर बैठे रहते हैं। ३—हृदयागार से कामादि चरों ने सद्गुणरूपी रत्नों को चुरा लिया है। ४—उक्तरूप से नाम मात्र के भारती जी मानों अहंकारादिक राजाओं के तो प्रजा ही बने हुए हैं। मोहन = मन, मोहनी = माया, अथवा वासना। पत = मान = प्रतिष्ठा। ५—जो तत्व वेत्ता होंगे वे ही समुद्र के मध्य में निर्भय विचरने वाले मांझी की तरह अपार संसार पारावार के मध्य में निर्भय होकर जीवन यापन करेंगे। "विकारहेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि ते एव धीराः"। "यौं साधू संसार में कमला जल मांहीं, सदा सरबदा संग रहै, जल परसत नाहीं"। ६—जिस में निवास करने से जीवात्मा सब प्रकार से निर्भय हो जाता है बस वही गुरु की नगरी है। उसी में पहुँच कर ज्ञानी परमानन्द पर्य्यंक पर अनन्त विश्राम करते हैं। यहाँ पर 'दास कबीरा' यह पद उत्तमाधिकारियों का बोधक है। अथवा कबीर साहब की अधीनता का द्योतक है। इसी प्रकार गुरु नानक देवजी ने ग्रन्थ साहब में कई स्थलों पर अपने को "नानका" पद से संबोधित किया है।

(८)

छेम कुसल औ सही[१]-सलामत, कहहु कवन को दीन्हा हो।
आवंत[२]-जात दोऊ बिधि लूटे, सरब—तंग[३] हरि लीन्हा हो।
सुरनरमुनिजति पीर अवलिया, मीरा पैदा कीन्हा हो।
कहँ लों गनौं अनंत कोटिलों, सकल पयाना कीन्हा हो।

पानी पवन अकास जायँगे, चंद जायँगे सूरा हो।
येभि[४] जायँगे वोभि जायँगे, परत न काहु के पूरा हो।
कूसल[५] कहत कहत जग बिनसै, कुसल काल की फांसी हो।
कहँहि कबिर सारि दुनियाँ बिनसै, रहैं राम अबिनासी हो।

टि०—(संसार की असारता और विनाशिता)

१—स्वस्थता। २—जन्मते और मरते ज्ञान से हीन रहे। ३—अविद्या ने सर्वस्व ले लिया। 'मीर' प्रधानवीर। ४—इस लोक के और उस (स्वर्गादि) लोक के रहने वाले। ५—संसार का आनन्द। "आनन्द आनन्द सब कहैं, आनन्द जिउ का काल"। "कुसल कुसल ही पूछते, जगमें रहा न कोय। जरा मुई ना भय मुवा, कुसल कहाँ से होय"। अविनाशी राम, अनादिराम, रमैयाराम, (चेतनदेव)

(६)

ऐसनि-देह निरालप† बौरे, मुवले छुवै न कोई हो।
डड़वा[२] (कि) डोरिया तोरिलराइनि, जो काटिन धन होई हो।
उरध निसासा उपजि तरासा, हकराइन्हि परिवारा हो।
जो कोइ आवै बेगि चलावै, पल एक रहन न पाई हो।
चंदन चीर चतुर सभ लेपहिं, गर गज मुकुता हारा हो।
चहुँदिसि[३]† गीध मुये तन लूटैं, जंबुक वोद्र बिदारा हो।
कहँहिँ कबीर सुनहु हो संतो, ज्ञान हीन मतिहीना हो।
एक एक दिन याही गति सभकी, कहा राव कहा दीना हो।

टि०—(शरीर की हीनता और अनित्यता)

१—पाया। यहाँ पर 'निरायन' या 'निरायनि' ऐसा भी पाठ है। अर्थ—ऐ नवयुवको! जिस शरीर के बार२ सँवारने और सजाने में तुम

† क० पु० निरायनि। ‡ चउसठि।

लोग जीवन का बहुमूल्य समय बिता रहे हो, उसकी तो यह महिमा है कि "मुवले छुवै न कोई हो"। २—चाहे कोटिपति ही क्यों न हो परन्तु मरने पर तो करधन (कमर में बँधी हुई सूत की डोरी) तक तोड़ली जाती है। अन्त समय ऊर्ध्वश्वास होने पर मृत्यु का भारी भय हो गया अतः कुटुम्बियों को पुकारने लगा। ३—कई पुस्तकों में 'चौंसठ ऐसा भी पाठ है। चौसठी=चील्ह।

(१०)

हौं सभहिन[1] में हौं नहो मोहि, बिलग बिलग बिलगाई हो।
ओढ़न[2] मोरा एक पिछौरा, लोग बोलैं एकताई हो।
एक[3] निरंतर अन्तर नाहीं, जौं ससि घट-जल झाँई हो।
एक समान कोइ समुझत नाहीं (जाते) जरामरनभ्रमजाईहो।
रैनि[4] दिवस मैं* तहवां नाहीं, नारि पुरुष समताई हो।
ना मैं बालक बूढा नाहीं, ना मोरे चिलकाई हो।
तिरबिधि रहौं सभनिमां बरतौं, नाम मोर रमुराई हो।
पठये[5] न जाऊँ आने न आऊँ, सहज रहौं दुनियाई हो।
जोलहा तान-बान नहिं जानै, फांटि बिनै दस ठाँई हो।
गुरु-परताप जिन्है जस भाषो, जन बिरले सुधि पाई हो।
अनँत[6]-कौटि मन हीरा बेधो, फिटकी मोल न पाई हो।
सुर-नर मुनि जाके खोज परेहैं, किछु किछु कबिरन्हि पाई हो।

टीका—[राम-राजा का आत्म परिचय और राम कहानी)

इसमें आत्मा की व्यापकता और स्वरूप स्थिति का उल्लेख है।

१—रामराजा कहता है कि व्यापक होने से मैं सबमें रमा हुआ हूँ, परन्तु मैं (चेतन) सब (जड़) रूप नहीं हूँ। विवेकियों ने मुझको उक्त प्रकार से जड़ से अलग करके समझा है। २—उक्त व्यापकता ही मेरा एक

पाठा०—* ग० पु० य।

मात्र उत्तरीयाम्बर (ओढ़ना, या पिछौरा) है। इस तत्व को न जानने वाले (आधुनिक अद्वैत वादी) भ्रम से जड़ और चेतन की एकता बतलाते हैं। ३—मैं वस्तुतः एक और अव्यवहित हूँ क्योंकि मेरे स्वरूप में माया का व्यवधान इस तरह नहीं है, जैसे घड़े के जल में पड़े हुए प्रतिबिम्ब और चन्द्रमा के बीच में जरा भी परदा नहीं रहता है। ज्ञान के अभाव से प्राकृत जन मुझको 'एक समान' (कूटस्थ, निर्लेप, एक रस, ज्योंका त्यों) नहीं समझते हैं प्रत्युत विपरीत समझते हैं, इसी भ्रम से वे लोग जरा जन्म और मरण जन्य दुःखों को भोगते रहते हैं। ४—मैं जिस देश में (स्वरूप में) हूँ वहाँ सूर्य नहीं पहुँच सकता इस कारण वहाँ न रात है न दिन। "न तद्भासयते सूर्यः"। और वहाँ पर नारी और पुरुष एक रूप (चेतन रूप) से रहते हैं "हंस न नारी पुरुष है"। ५—चमक दमक (जवानी)। उक्त तीनों अवस्था और ऊँच नीच कहलाने वाले सब प्राणियों में एक ही रूप से रहता हूँ, क्योंकि मेरा नाम 'रमुराई, रामराजा' (रमैया राम) है। ६—मैं निरवधिक व्यापक होने के कारण न किसी के विसर्जन से जा सकता हूँ और न किसी के आवाहन से आ हो सकता हूँ; क्योंकि मैं तो स्वभावतः सर्वत्र विद्यमान हूँ। अज्ञानी रूपी जुलाहा ताने बाने (कर्म और उपासना) का अभिज्ञ नहीं होता है; क्योंकि वह 'फांट' (थान) को दश जगह से बिनता है। भाव यह है कि जिस प्रकार एकही जगह (तरफ) से बिना हुआ थान सुन्दर और सुसाध्य होता है इसी प्रकार एक ही (निज) देव की उपासना से सर्वाभीष्ट की प्राप्ति हो जाती है। "और देव का सेवहु बौरे ई सब झूठी आसा हो"। गुरु की कृपा से किसी किसी विरले ने इस रहस्य को जाना है। ७—अनन्त कोटि कामनाओं में मन को लगाने से हीरारूपी जीवात्मा बिध गया, अर्थात् अन्तःसार हीन होगया; इस कारण इसका मूल्य फिटकरी के समान भी (नियत) न रहा। "हीरा सोइ सराहिये, सहै घनन की चोट, कपटि कुरंगी मानुवा, परिखत निकला खोट"। कबीर साहब कहते

हैं कि उक्त 'रामराजा' की ढूँढ में बड़े २ सुर नर और मुनिजन लगे हुए हैं परन्तु मालूम होता है कि उक्त नानादेवों के उपासक 'कबीरन' अज्ञानियों ने तो उसको कुछ २ जान लिया है यह काकू [वचन] है।

(११)

ननदी[1] गे तैं बिषम सोहागिनी, तैं निंदले संसारा गे।
आवत देखि (मैं) एक संग सूती, तैं औ खसम हमारा गे।
मोरे बाप के दोइ मेहररुवा, मैं अरु मोर[2] जेठानी गे।
जब हम रहलिऊ रसिक के जग में, तबहिं बात जग जानी गे।
माइ[3] मोरि मुवलि पिताकेसगे, सरा रचि,†मुवल संघातीगे।
अपने मुवलि अवरले मुवली, लोग-कुटुम संग-साथी गे।
जौ* ला साँस रहै घट भीतर, तौलों कुसल परीहै गे।
कहहिं कबिर जब साँस निकरिगौ, मंदिल अनल जरीहैगे।

टीका

(ननंद भौजि परिपंच रचो है मोर नाम कहि लीन्हा)

१—इस पद्य में ननंद (कुमति) तथा भावज (अविद्या) का झगड़ा बताया गया है। मिथिला प्रान्त में स्त्रियां परस्पर वार्तालाप में 'गे' संबोधन दिया करती हैं। कुमति ने जीवात्मा को अपने वश में कर लिया इस कारण अविद्या क्रुद्ध होकर उसको गाली देती है कि, गे ननदी! [कुमति] तूं तो बड़ी विषम (बेढ़ब) सुहागिन (पतिव्रता) है कि तूने सारे संसार को अपने संग सुला लिया है। भाव यह है कि सारा संसार कुमति के फाँस में पड़ गया है। यहाँ पर सुहागिन शब्द व्यंग्य (आक्षेप) रूप से कहा गया है। इतना ही नहीं मैंने स्वयं आकर देखा है कि तूने हमारे खसम (जीवआत्मा) को भी दूषित कर दिया है। भाव यह है कि जीवआत्मा अज्ञान वश कुमति का प्रेमी बन गया है।

---

*क० पु० ऐलि। † ग० पु० सचि।

२—अविद्या कहती है कि मेरे बाप=पिता (मूलाज्ञान) के दो मेहरुवा (स्त्रियां) हैं एक तो मैं और दूसरी मेरी जेठानी माया है। भावार्थ—कुमति अज्ञान से उत्पन्न होती है और उसी के साथ सदैव प्रेम पूर्वक रहती है इसी अभिप्राय से अज्ञान की स्त्री कही गयी है। जब हमने रसिकों (संसारी लोग) का संग किया, तबही संसार के विषयों को जाना। रसिकों के संग से तो हमारा कुटुम्ब बहुत बढ़ा, फूला और फला भी, परन्तु जब से सत्संग हुआ तब से तो हमारे कुटुम्ब का तथा मेरा एक प्रकार से विनाश ही हो गया। ३—देखिये सत्संग होते ही पहले ही दिन मेरे पिताजी (अज्ञान) ने अपना शरीर छोड़ दिया। अनन्तर मेरी माता (ममता) भी पतिव्रता होने के कारण सरारचि=चिता बनाकर पति के साथ ही जल गयी। भाव यह है कि सत्संग से अज्ञान तथा ममता छूट जाती है। पश्चात् पिताजी के संगी-साथी (कामादिक) भी चल बसे मेरी माता जी आप मरीं सो तो मरीं ही परन्तु कुटुम्ब के लोग और संगी (आशा-तृष्णादिक) साथियों को भी लेकर मर गयीं।

भावार्थ—ममता दूर होने से आशा और तृष्णा भी दूर हो जाती है।

४—कबीर साहब कहते हैं कि इस प्रकार अज्ञानादिकों के दूर होने से मनुष्य जीवन्मुक्त होकर कृतकृत्य हो जाता है। जीवन्मुक्तों का शरीर प्रारब्धवश जब तक प्राणों से सम्बद्ध रहता है तब तक तो शरीर की कुशलता ही है, और जब प्राण शरीर से वियुक्त होकर आत्मा में लीन हो जाते हैं; तब मन्दिर (देवालय)=शरीर में अग्नि जलने लगती है। भाव यह है कि प्रारब्धावसान होने पर ज्ञानियों के प्राण आत्मा में लीन हो जाते हैं किन्तु लोकान्तर में गमन नहीं करते हैं। "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति; इहैव समवलीयन्ते" यह श्रुति का वचन है। केवल शरीर से प्राणों का वियोग हो जाता है इसीलिये "श्वास निकरिगौ"

कहा है। प्राणों के परलोक गमनाभिप्राय से नहीं। "जीवो नारायणो देवो देहो देवालयः स्मृतः"। जीव नारायण देव है और देह उसका मन्दिर है ॥

(१२)

ई माया[1] रघुनाथ कि बौरी, खेलन चली अहेरा हो।
चतुर[2]-चिकनिया चुनि चुनि मारे, काहु न राखै नेरा हो।
मौनी बीर दिगंबर मारे, ध्यान धरंते जोगी हो।
जंगल मैं के जंगम मारे, माया किन्हहुँ न भोगी हो।
बेद पढंते बेदुवा* मारे, पूजा करंते सामी हो।
अरथ बिचारत पंडित मारे, बांधेउ सकल लगामी हो।
सिंगी रिषि बन भीतर मारे, सिर ब्रह्मा का फोरी हो।
नाथमछंदर चले पीठि दै, सिंघल हू में बोरी हो।
साकट के घर करता धरता, हरि-भगतन की चेरी हो।
कहँहिं कबीर सुनहु हो संतो, जौं[3] आवै तौं फेरी हो।

टि०—[माया का आखेट खेल]

१—यह मदमाती राम की माया। २—'देह दास'। 'बेदुवा' वेदपाठी, श्रोत्रिय। 'लगामी' घोड़ों के फेरने वाले-चतुर-सवार। (महामहोपदेशक और देश के सम्भावित नेता) 'सिंहल' सिंहल द्वीप। उक्त देश में गोरखनाथजी के गुरु मछन्दर नाथजी को स्त्रियों ने अपने माया जाल में फँसा लिया था यह प्रसिद्ध है। 'साकट' गुरुदीक्षा से रहित। साकट यह शब्द 'शाक्त' का रूपान्तर मालूम होता है, क्योंकि शाक्त लोग भक्ष्य और पान में स्वतन्त्र होते हैं। इसके विपरीत हरि-भक्त वैष्णव होने के कारण सात्विक-वस्तुओं के प्रेमी होते हैं। ३—माया से बचने का उपाय सामने आते ही उसको उसी वक्त हटा दे (ठुकरादे) "कबीर माया सन्त को ऊभी देत असीस। लातों औ बातों छुरी सुमिरि सुमिरि जगदीस"।

*पाठा०—क० पु० पांडेमारे।

बसंत

(१)

(जाके[१]) बारह-मास बसंत होय, (ताके) परमारथ बूझै बिरला कोय† ।
बरिसै[२] अगिनि अखंडधार, हरियर भौ बन (अ) ठारह भार ।
पनिया[३] आदर * धरिन लोय, पवन गहै कसमलिन धोय ।
बिनु[४] तरिवर फूले आकास, सिव-बिरंचि तहँ लेही बास ।
सनकादिक भूले भँवर बोय[५], लख चौरासी जोइनि जोय ।
जो तोहि सतगुरु मत्त लखाव, ताते[६] न छूटे चरन भाव ।
अमर-लोक[७] फल लावै चाव, कहँहिं कबीर बूझै सो पाव × ।

संवर्णितौ येन द्विधा वसन्तौ, नित्याध्रुवौ 'तत्व' विबोधनाय ।
प्रज्ञाशरीरं गुरुधीरवीरं तं श्रीकबीरं सततं स्मरामि ॥
वसन्तौ वर्णितौ येन, मायिकामायिकावुभौ ।
समीडे संविदे भक्त्या, तं कबीरं सताम्मतम् ॥

टि०—(नित्यवसन्त और अनित्य वसन्त का वर्णन)

इस वसन्त प्रकरण में आत्मरूप सदा वसन्त और मायिक प्रपञ्चरूप श्री वसन्त का वर्णन रूपक और रूपकातिशयोक्ति से किया गया है।
१–षड्विकार रहित अतएव परमानन्द स्वरूप जिस आत्मदेव के स्वरूपोद्यान में निजानन्द–सहकार–कलिकोन्मीलनविधायक–ऋतुराज–वसन्त (मोक्ष) सदैव डेरे डाले पड़ा रहता है; उसको परमार्थतः (अपरोक्षरूप से) कोई विरला ही जानता है। "सुख बिसराय मुक्ति कहँ पावे। परिहरि साँच झूठ निज धावे"। (बीजक)। भाव यह है कि आत्मैकत्व

†–छन्द 'चौपई'।
*पाठा०-ख० पु० अन्दर। ×क० पु० खाव।

के साक्षात् ज्ञाता संशय शोक और मोह से रहित होने के कारण सदा प्रसन्न रहते हैं। "तत्र को मोहः कः सोक एकत्वमनुपश्यतः" इति श्रुते। "सदा बसंत होत तेहि ठाऊँ। संसय रहित अमरपुर-गाऊँ"। इस प्रसङ्ग में वसन्त से वसन्त के कार्य विवक्षित हैं। २—इस प्रकार सूत्ररूप से आत्मिक-वसन्त का वर्णन करके मायिक-वसन्त का सविस्तर वर्णन करते हैं। "एक मास ऋतु आगे धावे" इस प्रसिद्धि के अनुसार वसन्त में गरमी का प्रभुत्व हो जाता है इस आशय से 'बरिसे अगिनि' इत्यादिक कहा है। यहाँ पर 'ऋतु' (मायिक प्रपञ्च) और 'हठयोग' का साथ २ वर्णन है। ऋतु पक्ष में, कड़ी-धूप पड़ने लगती है अतएव अठारह भार वनस्पति नवपल्लवित (हरे भरे) हो जाते हैं। प्रपञ्च पक्ष में, नाना सन्तापरूपी अग्नि की धारा सदैव बरसती रहती है तो भी अज्ञानवश सब कोई प्रमत्त रहते हैं। ३—तपा हुआ पानी ऐसा मालूम होता है मानों उसमें आग रक्खी हुई है। दूसरे पक्ष में, हृदय कामनाग्नि से जल रहा है। गरम २ पवन मलिनता को दूर कर रहा है, और दूसरे पक्ष में, प्राणायाम से योगी अन्तः शुद्धि करते हैं। ४—अनंतर प्राणनिरोध के द्वारा ब्रह्माण्ड में ज्योति का उद्घाटन करने से 'बिनु तरिवर फूले आकाश'। इसी प्रकार वसन्त में भी मानों आकाशही फूल जाता है। तहँ = ज्योतिरूप तरु में। ५—बोय = सुगन्ध ६-'वासे' नित्यानन्दरूप-नित्य वसन्त (आत्मपद) से। ७—कबीर साहब कहते हैं कि " तस्यायमात्मा-ऽयंलोकः" इस श्रुति के अनुसार जो अविनाशी लोक (आत्मलोक) में मिलने वाले मुक्ति फल को चाहते हैं; उनको उचित है कि पूर्वोक्ति मायिक वसन्त की आपात रमणीय शोभा में न भूल कर तत्वज्ञान को प्राप्त करें क्योंकि जो 'बूझै सो पाव' जाने सो पावे।

(२)

रसना पढ़िलेहु सिरी-बसंत[1], पुनि जाइ परिहौ जमके फंद।

मेरुदंड[२] पर डंक दीन्ह, अष्ट-कवँल परजारि*दीन्ह।
ब्रह्म-अगिनि कीयो परगास, अरध-उरध[३] तहँ बहै बतास।
नवनारी[४] परिमल सो गाँव, सखी पाँच तहँ देखन धाव।
अनहद-बाजा[५] रहल पूरि, पुरुष बहत्तर खेलैं धूरि।
माया[६] देखि कस+रहहु भूलि, जस बनसपति रहिहै फूलि।
कहैं कबीर हरीके दास[७], फगुवा मागै बैकुंठ बास।

टि०—(मायिक-बसन्त का वर्णन)

हठयोगियों का कथन। १—नाना ऐश्वर्य भोगों को देने वाले लक्ष्मी-रूप वसन्त को अथवा वसन्त लक्ष्मी को। "रसने! रससारज्ञे! सर्वदा मधुर प्रिये! मधुरं वद कल्याणि! मधुरंहि जनप्रियम्"। २—जिन्होंने सम्मूखी-मुद्रा से नासिकाग्रप्रदेश में दृष्टि को स्थिर कर लिया, उन्होंने अष्टम (सुरति) कमल के नीचे भाग (सहस्रार) में ब्रह्मज्योति को प्राणायाम से प्रज्वलित कर दिया। क्योंकि साध्य की सिद्धि साधन-सिद्धि के अधीन है। ३—प्राणायाम के अंगभूत रेचक और पूरक। बतास= पवन। ४—पूर्वोक्त सहस्र-दल कमल-पुर नव नाड़ियों का आश्रय और दिव्य-गन्ध से सुरभित है। वहाँ पर अभ्यास काल में उक्त नाड़ियों की अभिन्न-पाँचों प्रिय सखियाँ [पंचप्राण या पंच इन्द्रियाँ] आमन्त्रित होकर दौड़ पड़ीं। भाव यह है कि समाधिकाल में नवनाड़ी और पंचप्राणों का लय हो जाता है। "समंकायशिरोग्रीवं धारयन्नचलंस्थिरः। संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्"। तथा "श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति" एवं "अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे। प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः" [गीता] ५—दिव्य-अनाहत शब्द। बहत्तर—पुरुष=बहत्तर कोठे। ६—गुरु बचन—ये सब ऐन्द्रजालिक खेल हैं, अतः इन में न भूल कर अपने आपको पहचानो। 'दिन दसफूलै टेसुवा,

*पाठा—ग० पु० चारि। +क० पु० जनि।

खर भर भये पलास'। अब सकाम भक्तों का वसन्त सुनिये—'फगुवा माँगै बैकुंठ वास'। भक्त जन अपनी सकाम भक्ति रूप वसन्त क्रीड़ा के पुरस्कार में वैकुंठ-वास [सालोक्य-मुक्ति] चाहते हैं। "सहकामी सुमिरन करे, पावे उत्तमधाम। निहकामी सुमिरन करे, पावे अविचल राम" [कबीर साखी]

(३)

(मैं) आयउँ मेस्तर[1]*मिलन तोहिं, रितु बसंत पहिरावहु मोहिं।
लंबी-पुरिया[2] पाई छीन, सूत पुराना खूँटा तीन।
सर[3] लागे तेहि तिन सौ साठ, कसनि बहत्तरि लागू गाँठ।
खुरखुर[4] खुरखुर चालै नारि, बैठि जोलाहिनि पलथी मारि।
उपर नचनियाँ[5] करत कोड़, करिगह महँ दुइ चलत गोड़।
पाँच-पचीसौ[6] दसहूँ द्वार, सखी पाँच तहँ रचो धमार।
रंग बिरंगी पहिरैं चीर, हरिके[7] चरन धै गावैं कबीर।

टि०—(कर्मी और उपासकों की सम्मिलित प्रार्थना)

१—मेहतर और 'मेस्तर' ये दोनों फारसी-शब्द, संस्कृत 'महत्तर' के रूपान्तर हैं। मेस्तर का रूपान्तर 'मिष्टर' मालूम होता है। फारसी में मालिक या सरदार को मेहतर या मेस्तर कहते हैं। राजदरबार से मिले हुए बसन्ती या केसरिया जामा पहन पहन कर सुसेवक-जन वसन्त के 'वसन्ती' दरबार में हाजिर होते हैं; यह प्राचीन प्रथा है। उक्त प्रथानुसार अनुरक्त भक्त भी संसार से उपराम होकर हरि दरबार में उपस्थित होने के लिये उपयुक्त दिव्याम्बर और दिव्यरूप (चतुर्भुज-विग्रह, सारूप्य मुक्ति) की यांचा करते हैं। ठीक ही है—"यांचा मोघा वर मधिगुणे नाधमे लब्धकामा" (कालिदास)

---

*पाठा०—क० पु० मेहतर।

सूचना—इस पद्य में रूपकातिशयोक्ति से जुलाहे का वर्णन और वसन्तोत्सव के उपलक्ष में होने वाले 'धमार' (गायन वादन और नर्तन रूप 'संगीत') का साथही साथ उल्लेख किया गया है। २—इस दशा में अभी तक 'पुरिया' (ताना और मुख्य पक्ष में कामना) बहुत लम्बी है। और 'पाई' (ताना साफ करने का 'कूचा' दूसरे पक्ष में 'प्रयत्न') तो क्षीण हो चली। पुराना सूत (प्राण, श्वास) तीन खूटों (ईडा, पिंगला और सुषुम्णा) से बधाँ हुआ है। यदि सूत पद से सनातन जीवात्मा लिया जाय तो वह त्रिगुणात्मक तीन खूटों से बँधा है। ३—ताने में 'सर' और 'कसनी' लगाये जाते हैं। तदनुसार शरीर में तीन सौ साठ हड्डियाँ रूपी सर और बहत्तर कोठे रूपी कसनी (सूतकी लच्छियों को अलग अलग करने वाला अस्थायी बन्धन) लगी हुई है। ४—बेजा बुनते समय 'बाने' में लोहे की नाल दायें से बायें और बायें से दायें चलाई जाती है। और उसमें सूत की नली लगी रहने से वह खुर खुराती रहती है। नारी=नाड़ी। जुलाहिन=अविद्या। ५—'नचनियाँ' (ऊपर बाँधी हुई चटकनी) पक्ष में 'नाचने वाले'। करिगह=करघा। पक्ष में, शरीर। ६—पाँच तत्व और पचीस उनके कार्य। 'पाँच सखी' ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच तत्वों के भिन्न भिन्न रंग रूपी रंग बिरंगे वस्त्र हैं। ७—कबीर साहब कहते हैं कि भक्त जन हरि के दरबार में पहुँच कर प्रेम में मग्न होकर "हरिके चरन धै गावैं"। (यह उपासकों की सामीप्य मुक्ति है)

(४)

(बुढ़िया)हँसि बोले मैं नितहीं बारि, मोसो तरुनि कहु कवनि नारि।
दाँत२ गयल मोरे पान खात, केस गयल मोरे गंग नहात।
नयन३ गयल मोरे कजरा देत, बयस गयल पर-पूरुष लेत।
ज्ञान४ हपुरुषवा मोर अहार, अन जाने का करौं सिंगार।
(कहहिं५) कबीर बुढिया आनँद गाय, पूत भतारहिं बैठी खाय।

टीका

[झीनी माया]

दोहा—मोटी माया सब तजैं झीनी तजी न जाय।
पीर पैगम्बर औलिया झीनि सबन को खाय॥

कनक और कामिनी रूप मोटी माया को बहुत से लोग छोड़ देते हैं, परन्तु वासना रूप झीनी माया आत्मसाक्षात्कार के बिना नहीं छूट सकती है; यह भाव इस पद्य में रूपकातिशयोक्ति से बुढ़िया की आत्म कथा के द्वारा प्रकट किया है। १—साधनहीन वाचक-ज्ञानी लोग "अहंब्रह्मास्मि" कहते हुये समझ लेते हैं कि हमने माया को जीत लिया है। ऐसे लोगों को हँसती हुई बुढ़िया (माया) कहती है, कि मैं तो सदैव युवती ही रहती हूँ। जरा बतलाइये तो सही कि मेरे समान ऐसी मद से माती हुई तरुणी दूसरी कौन है कि जिसने इस प्रकार से सबों को नचाया हो; "चन्द्र वदनि मृग लोचनि माया, बुन्दुका दियो उघार। जती सती सब मोहिया, गजगति वाकी चाल। नारद को मुख माँड़ि के लीन्हा बसन छिनाय। गरब गहेली गरब ते, उलटि चली मुसुकाय॥ सिव अरु ब्रह्मा दौरि के, दोनों पकरे जाय। फगुवा लीन्ह छुड़ाय के, बहुरि दीन्ह छिटकाय"॥ तथा "एक ओर सुर-नर मुनि ठाढ़े एक अकेली आप। दृष्टि परे उन काहुन छोड़े, करि लीन्हों यक धाप॥ जेते थे तेते लिये, घूँघुट माँहि समोय। काजर वाकी रेख है अदग गया नहिं कोय॥ इन्द्र कृष्ण द्वारे खड़े, लोचन दोउ ललचाय। कहैं कबीर ते ऊपरै 'जाहि न मोह समाय' २—अब मेरी कथा सुनिये—मुख शुद्धि करने वाले पान रूप अष्टांग योग करते करते मेरे दाँत रूप काम और क्रोधादिक दूर हो गये, ये तो मेरे ऊपर के दाँत थे, परन्तु भीतर के लोहे के तुल्य दाँत (भोगवासनारूप) तो अभी मौजूद ही हैं। अतः 'ऊपर दाँत कहा गये-बौरे, भीतर दाँत लोहे के हो। फिर-फिर चना चबाय विषय के काम क्रोध मद लोभै हो।' और सत्संग रूपी गंगा में नहाते

न्हाते मेरे केश (कुमति) (अपयश) चले गये, झड़ गये ॥ ३—और परोक्षज्ञान रूप अंजन के लगाते लगाते मेरे नयन (अविवेक) चले गये। भाव यह है कि श्रवणादिक द्वारा विवेक उत्पन्न होने से अविवेक दूर हो जाता है। और पर पुरुष (जीव आत्मा) के साथ अनुराग करते-करते मेरा बय (अवस्था) अर्थात् सत्वशुद्धता चली गयी। भाव यह है कि शुद्ध-सत्व-प्रधान माया ईश्वर की और मलिन सत्व-प्रधान-अविद्या जीव की उपाधि है। अतः माया जीव से संबद्ध होकर अपने वयस रूपी सत्व शुद्धता (पातिव्रत्य) को खो बैठी। ४—'जानपुरुषवा' (साधन रहित ज्ञानाभिमानी) तो मेरा अहार ही है और अनजाने (अज्ञानियों) पर तो मेरा शृंगार ही है। अर्थात् ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को त्रिगुण फाँस में लपेट लेती हूँ। ५—कबीर साहब कहते हैं कि यह बुढ़िया (माया) बैठी बैठी पूत (जीव) और भतार (ईश्वर) को खा रही है और आनन्द से मंगल गा रही है। भाव यह है कि "जीवेशाभासेन करोति' इत्यादि श्रुति के अनुसार माया जीव और ईश्वर को आच्छादित कर देती है।

(५)

[तुम] बुझ बुझ पंडित कवनि नारि[1], काहुन बियाहलि है कुमारि
सभ-देवन[2] मिलि हरिहीं दीन्ह, चारिउ-जुग हरि संग लीन्ह।
प्रथमे पदुमिनि[3] रूप आहि, है साँपिनि जग खेदि खाय।
ई बर * जुवती[4] वै बार नाह, अतिरे तेज तिय रै निताह।
कहँहिं[5] कबिर यह जगत-पियारि, अपन-बलकवै रहलि मारि।

टि०—[माया की प्रबलता का विचार]

"अधिष्ठानावशेषोहि नाशः कल्पितवस्तुनः' इस सिद्धान्त के अनुसार अपरोक्षानुभूति के बिना माया आत्मसात् (आत्मा के अधीन, अर्थात्

*पाठा०—क० पु० भरि। ग० पु० ईवर जीवत।

अपने अधीन) नहीं हो सकती है, हां सत्वशुद्धि के कारण उसके आक्रमण से बच सकती है, यह भाव इस पद्य में 'प्रहेलिका' के द्वारा (अनमेल विवाह के कारण माया को 'साधारणा' सिद्ध करते हुए) बतलाया गया है। १—पद्मिनी हस्तिनी चित्रिणी और शंखिनी ये स्त्रियों के लक्षणानुगुण साधारण प्रभेद हैं। और स्वसलक्षण पतियों में उक्त स्त्रियों का स्थायी तथा प्रगाढ़ प्रेम रहा करता है; यह दम्पति शास्त्र का विधान है। उक्त संकेत के अतिरिक्त यह माया कौन ऐसी विलक्षण स्त्री है जिससे कि इस को स्वानुरूप पति नहीं मिला, अतएव यह अभी तक कुमारी ही बनी हुई है। भावार्थ—माया अनादि है और अनादि काल से स्वतंत्र है। २—"सत्वात्संजायते सुखम्" इस कथन के अनुसार सत्वप्रधान विष्णु को लक्ष्मी प्राप्त हुई; परन्तु अधिकारी होने के कारण उसको आत्मसात् न कर सके, इस अभिप्राय से 'संग लीन्ह' कहा है। "अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परं पदम्'। ३—पद्मिनी का मुख पद्मवत् सुरभित हुआ करता है। अतः "आपन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदोह्युत्तमानाम्" इसके अनुसार सज्जनों की सम्पत्ति का सौरभ दिग्दिगन्तव्यापी हो जाता है। और दुर्जनों की सम्पत्ति सर्पिणी के समान विनाशकारिणी होती है। एवं माया और मायिक पदार्थ आपात-सरस तथा परिणाम विरस होते हैं। ४—माया के चंचल होने का मुख्य कारण—यह माया तो पूर्ण युवती है, परन्तु इसके पति कहलाने वाले विष्णु-आदिक अभी तक (इसके सामने के) बच्चे ही हैं, इस कारण यह उन पर अपना प्रभुत्व सदैव जमाये रखती है। भाव यह है कि माया अनादि और अतिबलवती है और विष्णु तथा ब्रह्मादिक सोपाधिक होने के कारण सादि हैं। 'राज ठगौरी विष्णु पर परी' इससे बारे भोरे हैं। यहाँ पर 'ई भरिजुवती' ऐसा भी पाठ है। ५—कबीर साहब कहते हैं कि यह माया 'साधारणा' होने के कारण जगत को प्रिय है, पर यह उसका कार्य अनर्थ रूप है कि यह—सर्पिणी की तरह अपने ही बच्चों को खाती रहती है। भाव यह है कि संसारियों का जन्म-मरण माया ही

के आधीन हैं। "यह संसार कुंडला माहीं ताकि सरपिणी धरि धरि खांही। "कहँहिं कबिर कोइ बाहरि आवे। ताको माया नहिँ सतावे" तथा "मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ"।

(६)

माइ[1] मोर मनुसा अती सुजान, धंध कुटि कुटि करत बिहान बड़े[2] भोर उठि आंगन बाढु, बड़े खांच ले गोबर काढु बासि[3]-भात मनुसे लीहल खाय, बड़ घैला ले पानि को जाय अपने[4] सैयाँ (को मैं) बाधौं पाट, लै बेचौंगी हाटे हाट कहँहिं[5] कबिर ये हरिके काज, जोइया के डिंग*रहिँ कवनि लाज

टीका

[अविद्या के दास]

१—अविद्या माया से कहती है कि हे माई! मेरा मनुसा (पति) अज्ञानी, मेरी बड़ी रक्षा करता है, इसलिये वह बड़ा सुजान (सज्जन) है। जरा उसकी सजनता का हाल तो सुन! मैं तो केवल बैठी बैठी प्रेरणा किया करती हूँ, वह बेचारा अकेला ही अनेक धन्धों (नाना सकाम कर्मों) में सिर मारते मारते बिहान (दूसरा जन्म) कर लेता है। भाव यह है कि जीवात्मा अज्ञान वश नाना प्रपंचों में पड़कर अनेक शरीरों को धरता रहता है। जन्म लेना भोर है और मरण रूपी रात्रि है। ५—वह मेरा पति बड़े सबेरे उठ कर, अर्थात् जन्मतेही आंगन अपने अंग को 'बाढु' झाड़ने लगता है भाव यह है कि जीव जन्मतेही अपनी रक्षा में लग जाता है। इसके पश्चात् बड़ी खाँच (डलिया=टोकरी) रूपी सकाम कर्मों से गोबर रूपी स्वर्गादिक भोगों को प्राप्त करता है। अर्थात् गोबर की तरह निःसार और तुच्छ स्वर्गादि लोकों के लिये नाना कर्मों को करता है। २—मेरा मनुसा (पति) बेचारा इतना सन्तोषी है कि वह बासी भात (नाना विषयों) को खा लेता है। पश्चात् बड़ा घैला=घड़ा लेकर (तृष्णा

---

* ग० पु० ढिंग रहि।

बढ़ा कर) पानी (विषय भोग रूप मृग जल) को भरने जाता है। भाव यह है कि विषय भोगों से भोग तृष्णा अधिक बढ़ जाती है, इस कारण अज्ञानी लोग नाना भोग रूपी मृग जल से उसको बुझाने की बार बार निष्फल चेष्टा किया करते हैं। ये विषय बहुत पुराने हैं इसलिये इन्हीं को बासी भात कहा है, और बासी अन्न के खाने से प्यास अधिक लगती है यह बात लोक प्रसिद्ध है। ४—मैंने अपने सैयां (पति) को पाट (खटिया की पटिया) से बाँध लिया है। अर्थात् पूरी तरह से अपने अधीन कर लिया है। इसलिये अब उसको हाटे हाट (नाना शरीरों में) ले जाकर बेचूँगी। भाव यह है कि अज्ञान वश होकर जीवात्मा नाना योनियों में भ्रमण करता है।

कबीर साहब कहते हैं कि ये सब माया की लीलाएं हैं, अर्थात् माया ही सबों को नाच नचाती है। बेचारे अज्ञानियों का क्या दोष है। ये सब तो जोइया के डींगर हैं; अर्थात् अविद्या रूपी स्त्री के पशु हैं, अतः इनको क्या लजा है। भाव यह है कि जिस प्रकार पशु परतन्त्र रहते हैं इसी प्रकार अज्ञानी भी अविद्या के अधीन होकर नाना कर्मों को करते रहते हैं। ठीक ही है—'नेह-नाथ-नाथे नहिं छूटे, तिय किसान पिय बैलहिं कूटे' ॥

सूचना—यहाँ पर हरि पद से यथा श्रुत 'राम' का भी ग्रहण हो सकता है, क्योंकि "कहँहिं कबीर राम है राजा, जो किछु करै सो छाजै,' इस प्रकार पहले कह आये हैं। साखी—"नरपशु गुरुपशु त्रिया बेदपशु पशू संसार। मानुष सोई जानिये जाहि विवेक बिचार"। इस पद्य में 'सुजान' की सिद्धि के लिये 'धंध कुटि कुटि करत बिहान' इत्यादि वाक्यों का उपन्यास किया गया है, अतः वाक्य हेतुक 'काव्य लिङ्ग' अलंकार है। लक्षण और उदाहरण—"काव्यलिङ्ग जब जुक्ति सो, अर्थ समर्थ न होय। तोको जीत्यो मदन जो, मों हिय में सिव सोय" (भाषा-भूषण)

(७)

घरहि में बाबुल ! बाढलि रारि, उठि उठि लागै चपल नारि।
एक बड़ी जाके पांच हाथ, पांचौं के पचीस साथ।
पचिस बतावैं और और, और बतावैं कैयक ठौर।
अंतर[1] मधे अन्त लेइ, झक-झोरि-झोरा जीवहिँ देइ।
आपन आपन चाहैं भोग, (कहु) कैसे कुसल परोहै जोग[2]।
विवेक[3] विचार न करैकोय, (सभ) खलक तमासा देखैं लोय।
मुखफारि हँसे राव रंक, (ताते) धरै न पावैं एको अंग।
नियरे[4] न खोजैं बतावैं दूरि, चहुँ दिसि बागुलि रहलि पूरि।
लच्छ-अहेरी एक जीव, ताते पुकारै पीव पीव।
अबकी बार जो होय चुकाव, कहँहिं कबिर ताकी पूरी दाव।

टि०—(माया नारी का गृह-कलह)

बाबुल = बबुवा। घर = हृदय। रार—अज्ञानजन्य भ्रमजन्य कलह। चपल-नारी = माया। एक = मूल प्रकृति। 'अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णाम्'। पांच हाथ = पंच तन्मात्राएं 'पचीस' (प्रकृतियाँ) और और (नानाकार्य) कैयक ठौर = स्वर्गादिक। १—हृदय मन्दिर में पैठकर ज्ञान रत्न छीन लिया और धक्के मुक्के मारकर चौरासी के गढ़े में ढकेल दिया। २—सम्बन्ध, प्रेम। स्वार्थियों की प्रीति चिरस्थायी नहीं रह सकती है। ३—विषयी और पामरों की दशा। 'एको अंग' स्वल्पानन्द भी नहीं ले सकते। 'माया किनहुँन भोगी हो'। ४—अनात्मोपासक और कर्मियों की दशा। बागुलि = बागुरा (मृगजाल) 'बागुरा मृग बन्धनी (अमर) प्रकृत में माया की फांस। अहेरी = शिकारी (कामादिक विकार) 'अब की बार' नरतन में। 'चुकाव' (मुक्ति) "दौड़त दौड़त दौड़िया जहँलगि मन की दौड़। दौड़ थकी मन थिर भया वस्तु ठौर की ठौर" ४

(८)

कर[1]-पलो के बल खेलै नार, पंडित हो सो लेइ बिचार।
कपरा[2] न पहिरै रहै उघारि, निर-जिव से धन अती पियारि।
उलटी[3] पलटी बाजू तार, काहूँ मारै काहु उबार।
कहैं[4] कबिर दासन के दास, काहू सुख दे काहु निरास।

टीका

साखी—नाना नाच नचाय के, नाचे नट के भेख।
घट घट अबिनासी अहै, सुनहु तकी तुम सेख॥

१—इस पद्य में माया को कठपूतली का रूपक दिया गया है, अतः इसका अर्थ दोनों पक्षों में लगता है। कठपूतली को नचाने वाला परदे की आड़ में बैठकर तारों से बंधी हुई काठ की पूतली को नचाता रहता है, यह बात प्रसिद्ध है। कबीर साहब कहते हैं कि एक ऐसी नारी (माया और कठपूतली) है कि जो दूसरे के हाथ के इशारे से नाचा करती है। जो पण्डित होवे उसको पहिचान ले। भाव यह है कि त्रिगुणात्मिका (सत्व रज और तम रूपी डोरी से बँधी हुई) माया ईश्वर की प्रेरणा से कठपूतली की तरह नाना खेल दिखाया करती है। २—प्रसिद्ध कठपूतली की अपेक्षा माया में यह विशेषता है कि माया रूपी कठपूतली कपड़ा नहीं पहिनती है। भाव यह है कि माया सबों को ढाँप लेती है, परन्तु बिना ज्ञान के माया को कोई नहीं ढाँप सकता है। और धन=स्त्री (माया और कठपूतली) निर्जीव (जड़ प्रपंच) तथा दूसरी कठपूतली से अत्यन्त प्रेम करती हैं। अर्थात् माया जड़ प्रपंच से अनुरक्त रहती है और चेतन से पराङ्मुख होती है। ३—जिस तरह कठपूतली अपने बाजू (बगल) में लगे हुए तारों से उलट पलट कर किसी (वैरी) को मारती है, और किसी (मित्र) को बचाती है, इसी तरह माया भी त्रिगुणात्मक तारों के बल से उलट पलट कर, अर्थात् नाना अवतारों को धरती

हुई अभक्तों का संहार करती है और भक्तों की रक्षा करती है। "दस अवतार ईसरी माया, करता करि जिन पूजा। कहँहि कबीर सुनो हो संतो उपजै खपै सो दूजा"। ४—अपनी अधीनता बताते हुए कबीर साहब कहते हैं कि हम तो दासों के भी दास हैं, देखिये यह माया किसी को सुख देती है और किसी को निराश बना देती है। इस पद्य में 'प्रहेलिका' और 'सावयव रूपकालङ्कार' है।

(६)

ऐसो दुरलभ जात सरीर, रामनाम[1] भजि लागु तीर।
गये[2] बेनु बलि गये कंस, दुरजोधन गये* बूड़े बंस।
पिरथु गये प्रीथी के राव, तिरिविक्रम गये रहे न काव।
छौ चकवे मँडली के झारि, अजहूँ हो नल देखु विचारि।
हनुमत कस्यप जनक बालि, ई सभ छेकल जम के द्वारि×
गोपीचँद भल कीन्ह जोग, जस रावन मारेउ करत भोग।
(एसो)जात देखि सभहिन्हि की जान, कहँहिं कबिर भजु रामनाम[3]

टि०—(माया का विद्युद्विलास " अस्थिरता ")

१—नर तन जा रहा है अतः 'राम' यह है नाम जिसका ऐसे 'रमैया-राम' सर्वभूतनिवासी राम का साक्षात्करके संसार समुद्र से पार हो जाओ। २—मायिक ऐश्वर्य अनित्य है। "छव—चकवे वित धरनि समाना" इस 'रमैनी' के चरण में कहे हुए छः चक्रवर्ती राजा ये हैं। वेणु राजा, बलिराजा, कंसराजा, दुर्योधन राजा, पृथुराजा और त्रिविक्रमराजा। इनके अतिरिक्त अनेक माण्डलिक (छोटे २) राजा लोग सबके सब चले गये। जान=जीवात्मा (जीवन)। ३—अतः मिथ्या भोगों में न भूलकर पूर्वोक्त "रमैया" को भजिये (आत्मपरिचय करिये) "जीव दया अरु आतम पूजा, इन सम देव अवर नहिं दूजा"।

---

* ग० पु० दुर्योधन को बूड़ो बंस। × क० पु० धार।

(१०)

सबहीं[1] मदमाते कोइ न जाग, सँगहि चोर[2] घर मूसन लाग।
जोगी माते जोग ध्यान, पंडित माते पढ़ी पुरान।
तपसी माते तप के भेव, संन्यासी माते करि हँमेव।
मोलाना माते पढ़ी मुसाफ[3], काजी माते दै नीसाफ।
सँसारी माते माया (के) धार, राजा माते करि हंकार।
माते सुक (देव) ऊधो अँकूर; हनुमत माते ले लंगूर।
सिव माते हरि-चरन सेव, कलि माते नामा जय देव।
सत्त सत्त कहै सुम्रिति वेद, (जस) रावण[4] मारेउ घरके भेव।
चंचल मन के अधम काम, कहँहि कबिर भजु राम नाम।

टि०—(अहंकार की प्रबलता का विचार)

१—"अहंकार सो दुखद डहरुवा। दम्भ कपट मद मान नहरुवा" इस कथन के अनुसार सात्विक राजस और तामस—एवं 'अहंब्रह्मास्मि' इत्यादि सम्वादि भ्रमरूप अहंग्रहोपासना के अवसर में, तथा श्रौतस्मार्त कर्मानुष्ठान के लिये अत्यावश्यक वर्णाऽश्रमादिका आरोपित अहंकार और अनारोपित सबही प्रकार के "अहङ्कार" आत्म तत्व के विस्मारक होने के कारण हेय हैं। भाव यह है कि परमार्थ—तत्व 'अहंब्रह्मास्मि' इस सम्वादि भ्रम से भी परे हैं, अतः इस परम सात्विक अहंकार को भी 'तद्दूरादयम ञ्जलिः' कर देना चाहिये, यह इस पद्य का परम रहस्य है। 'स्थल धर्ममधर्मञ्च, उभे सत्यानृते त्यज। उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज'। 'तर्क दुनिया तर्क मौला तर्क उकबा तर्क तर्क'। यह निर्विशेष आत्मा के निरूपण की परम सीमा है। इसके अनन्तर निरूपण का प्रकार तो 'मौनमेवोत्तरं ददौ'। 'अवचनेनाह' हो जाता है। निर्विशेष 'आत्म-तत्व' के निरूपण में कबीर साहब की यही प्रक्रिया है। उपदेश में प्रक्रिया का भेद होना सनातन है, जैसा कि ब्रह्म विद्या में वार्तिककारका वचन

है कि "यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि । सा सैवप्रक्रियेहस्यात् सासाध्वी साचाननवस्थिता'। तथा 'उपेय प्रतिपत्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः' (भर्तृहरि कारिका)। 'अहंब्रह्मास्मि' यह सम्वादि भ्रम रूप अहंग्रहोपासना तो उक्ततत्व के अनधिकारी मन्दाधिकारियों के लिये है । क्योंकि ' निर्गुणं हि परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः । ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः'। इसी 'अस्वारस्यसे 'तत्वमसी इनके उपदेसा' इस ८ वीं रमैनी में पुनः २ दिये हुए 'इनके इनके' पद तत्रोक्त उपदेश और निश्चय को पराभिमत सिद्ध करते हैं, स्वाभिमत नहीं, यह इस ग्रन्थ का निगूढ़ रहस्य है। (इत्यलं रहस्योद्घाटनेन) २—सब ही प्रकार के अहङ्कारी अहङ्कार-मद-मत्त होकर गहरी नींद से सो गये, अतः सुअवसर पाकर मन रूपी चोर ने उनके हृदयागार से 'तत्व' को चुरा लिया। हमेव=अहमेव 'अहंब्रह्मास्मि' ३—कुमार शरीफ। ४—अत्यन्त अहंकारी रावण भ्रातृ तिरस्कार के कारण मारा गया। ठीकही है—'अति रूपेण वै सीता, अति गर्वेण रावणः। अतिदानाद्बलिर्बद्धो अतिसर्वत्र वर्जयेत्' ॥

(११)

(सिव) काशी कैसी भई तुहारि, अजहूँ हो सिव देखु बिचारि।
चोवा चंदन अगर पान, घर घर सुम्रिनि वेद पुरान।
बहुविधि भवनहि लागू भोग (ऐसो) नगर कोलाहल करत लोग।
बहुबिधि परजा लोग[1]❀ तोर, तेहि कारन चित ढीठ मोर।
हमरे बलकवा के इहै ज्ञान, तोहरारा को समुझावै आन।
जे जाहि मनसे रहल आय, जिवका मरन कहु कहाँ समाय।
ताकर जो किछु होय अंकाज, ताहि दोष नहिं साहब लाज।
हर हरषित सों कहल भेव, जहाँ२ हम तहाँ दुसरो न केव।
दिना चार मन धरहू धीर, जस देखैं तस कहैं कबीर।

टि०—[काशी सेवन-विधि]

"काश्यां मरणान्मुक्तिः" इस शिष्टाचारानुमित आर्थवादिक श्रुति की प्रमाणता से 'काशी में केवल शरीर परित्याग मात्र से मुक्तिलाभ हो जाता है' ऐसा विश्वास रखने वाले अधिकतर साधारण बुद्धि के लोग मुक्ति के लिये काशी-वास करते हुए मुक्ति को सुलभ, समझ कर मुक्ति के साधनों का तिरस्कार करके यथेच्छाचारी हो जाते हैं। इस प्रकार उक्त श्रुति के दुरुपयोगकारियों के अत्याचारों को देखकर व्यथित हृदय होते हुए कबीर साहब शिव महाराज को सम्बोधित करके कहते हैं कि आप अपनी प्रजा का नियन्त्रण करिये और उक्त श्रुति के रहस्य को समझाइये जिससे कि लोग अन्धविश्वास के कारण अनर्थकारी न बनें। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी काशी की दुर्दशा देख कर उसके राजा शिवजी से (कवितावली में) इस प्रकार प्रार्थना की है—

"गौरी नाथ भोलानाथ भवत भवानी नाथ,
विश्वनाथ-पुर फिरी आन कलिकाल की।
संकर से नर गिरिजासी नारी कासीबासी,
बेद कही सही ससिसेखर कृपाल की॥
छ मुख गनेस ते महेस के पियारे लोग,
बिकल बिलोकियत नगरी विहाल की।
पुरी सुर-बेलि केलि काटत किरात कलि,
निठुर निहारिये उधारी डीठि भाल की"॥ १६६॥

इत्यादि

अ '—१—यहाँ पर निरभय तोर, ऐसा पाठान्तर है। सबही प्रकार के काशीवासी यह समझ कर निर्भय हो रहे हैं कि "हमारी मुक्ति अवश्य हो जायगी" उनकी यह मिथ्याधारणा देखकर सत्यवार्ता को बार २ कहने के लिये मेरा चित्त ढीठ हो गया है। अथवा आप से निवेदन करने की

मैं यह ढिठाई कर रहा हूँ। २—'शरीर की पंचत्व प्राप्ति के अनन्तर जीवात्मा कहाँ जाकर रहता है'? इस-प्रश्न के उत्तर में सभी महात्माओं ने एक रूप से यही कहा है कि 'सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः'। 'अन्तेमतिः सा गतिः'। भाव यह है कि काशी वास करते हुए भी अपने शुभाशुभ संस्कारों के अनुसार जो मनुष्य जैसे कर्म करते हैं अन्त में उनकी वैसी ही गति होती है, क्योंकि 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा'। यह सनातन-घोषणा है। इस कारण "ताकर जो किछु होय अकाज; ताहि दोष नहिँ साहब लाज'। अकाज=कुगति। विशेष-वक्तव्य—वस्तुतस्तु 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इस श्रुति के अनुरोध से 'काशी मरणान्मुक्तिः' इस श्रुति गत पञ्चमी का प्रयोजकत्व अर्थ ही सर्वसम्मत है। अर्थात् पुण्य धाम होने के कारण चित्त शुद्धि, सुलभ-सत्सङ्ग और श्रवणादिक से काशीवास ज्ञान द्वारा मुक्ति में सहायक है, केवल मरण से मुक्ति का दाता नहीं। इस विषय पर दिनकरभट्टाचार्य ने भी मंगल वाद में अच्छा प्रकाश डाला है "अथ तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति श्रुत्वा तत्वज्ञानस्य मुक्तिसामान्यं प्रति हेतुत्वं प्रतिपादितं तच्च काशीमरणस्य मुक्तिहेतुत्वे न सम्भवति काशीमरणजन्यमुक्तौ तत्वज्ञानस्य व्यभिचार प्रसङ्गादतः काशीमरणस्य न मुक्तिजनकत्वमपितु तत्वज्ञानद्वारा मुक्ति प्रयोजकत्वमेवेति"। किञ्च—'अतएव काशीमरणस्य तत्वज्ञानेन मुक्तावन्यथासिद्धत्वात्प्रयोजकत्वपरतया श्रुतिसमर्थनं संगच्छते'। ठीक ही है 'का काशी का मगहर ऊपर हृदय राम बस मोरा, जो काशी तन तजै कबीरा रामहिं कवन निहोरा'। ज्ञानियों का तो ऐसा ही निश्चय है। ३—सिव माते हरि चरण सेवं' इसके अनुसार राम भक्तों की दृष्टि केवल रामचरणों पर ही रहती है। कबीर साहब कहते हैं कि जैसी वस्तु-स्थिति है वैसाही मैं कह रहा हूँ। थोड़े दिनों में (अन्त-समय) आप लोगों को भी अवगत हो जायगा।

(१२)

हमरे कहल के नहिँ पतियार, आपु बुड़े नल सलिल धार।
अंध कहै अंधा पतियाय, जस बिसुवा[1] के लगन धराय।
सोतो कहिये ऐसो अबूझ, खसम[2] ठाढ़ ढिंग नाहीं सूझ।
आपन[3] आपन चाहैं मान, झूठ प्रपञ्च साँच करि मान।
झूठा[4] कबहुँन करिहै काज, हौं बरजौं तोहि सुन नीलाज।
छांड़हु पाखँड मानहु बात, नहिँ तो परबहु जमके हाथ।
कहँहिँ कबिर नल कियहु न खोज, भटकि मुवलजसबनकेरोझ।

टि०—(प्रबोधन)

नल = अनात्मोपासक नर। अन्ध = अविवेकी। १—वेश्या का विवाह हो रहा है यह वचन व्याहत (विरुद्ध) है। २—"पास खड़ा तेरे नजर न आवे महबूब पियारा बे"। ३—वञ्चक गुरु 'घर घर मंतर देत फिरतु हैं महिमा के अभिमाना'। ४—सच्चे का तो यह लक्षण है कि जैसी कहै करै पुनि तैसी रागद्वेष निरुवारे, तामें घटे बढ़े रतियो नहिं यहि विधि आपु सँभारे। कहँहि कबिर जेहि चलत न दीसे तासु बचन का लीजै। 'रोझ' नीलगाय। खोज = आत्मपरिचय।

चाचर

(१)

खेलति[1]† माया मोहनी जिन्ह, जेर कियो संसार।
रचेउ रंगते[2] चूनरी कोइ, सुन्दरि पहिरे आय।
सोभा अदबुद रूपकी, महिमा बरनि न जाय।
चंद बदनि मृगलोचनि माया, बुदका[3] दियो उघार।

†छन्द हरिपद और दोहा आदिक।

जती सती सभ मोहिया, गजगति[४] (ऐसी) वाकीचाल।
नारद[५] को मुख माँडिके, लीन्हौ बसन* छिनाय।
गरब गहेली गरबते, उलटि चली मुसुकाय।
सिवसन ब्रह्मा दोरिके, दूनौ पकरे जाय।
फगुवा लीन्ह छुड़ायके, बहुरि दियो छिटकाय।
अनहद[६] धुनि बाजा बजै, स्रवन सुनत भौ चाव।
खेलनि हारा खेलि है, जैसी वाकी दाव।
ज्ञान-ढाल[७] आगे दियो, टारे टरे न पांव
खेलनि हारा खेलि हैं, बहुरि न ऐसी दाव।
सुर नर मुनि औ देवता, गोरख दत्ता व्यास।
सनक सनन्दन हारिया, और कि केतिक बात।
छिलकत[८] थोथे-प्रेमसों, धरि पिचकारी गात।
कै लीन्हौ बसि आपने, फिरि फिरि चितवत जात।
ज्ञान[९] गाड़ ले रोपिया, तिरगुन दियो है साथ।
सिव सन ब्रह्मा लेन कहो है, और कि केतिक बात।
एक ओरु सुर नर मुनि ठाढ़े, एक अकेली आप।
दिष्टि परे उन काहु न छांड़े, कै लीन्हौ एक धाप।
जेते थे तेते लिये, घूँघट[१०] मांहि समोय।
काजरवा की रेख है, अदग गया नहिं कोय।
इंद्र क्रिस्न द्वारे[११] खड़े, लोचन ललचिन चाय।
कहँहिं कबीर ते ऊबरे, जाहिँ न मोह समाय।

संवर्णिते 'चाचर' संज्ञकेद्वे
पद्ये प्रबोधाब्धिनिभानवद्ये।
द्यानन्दशीतांशुजनौ निदाने-
तस्मात्कबीराद्धि परं न जाने॥

---

*पाठा०—ख० पु० बदन।

टि०—(माया का फगुवा खेल)

१—'चाचर' एक प्रकार फगुवा या फाग होली का खेल होता है। उक्त खेल में स्त्री और पुरुष दो दलों में विभक्त होकर जय और पराजय की अभिलाषा से पिचकारी और डोलचियों से परस्पर प्रतियोगिता से समधिक जल क्रीड़ा करते हैं। इस पद्य में उक्त खेल का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। 'माया ने सारे संसार को अपने अधीन कर लिया' इस-भाव-पट पर यह कैसा विचित्र चित्र खींचा गया है। रूपक का आकार यह है कि एक ओर तो विश्वविजयिनी मोहनी माया संनद्ध होकर खड़ी हुई है और दूसरी ओर प्रमुख-देवताओं को आगे करके सारा ही संसार आनन्द क्रीड़ा के लिये आगे बढ़ता चला जा रहा है। जेर=अधीन। २—माया ने विषय सौन्दर्य्य रूपी चटकीली और भड़कीली चुनरी ओढ़ रक्खी है। ३—और विषयानुराग रूपी बिन्दी (टिकुली) से सुशोभित मुख मण्डल को उघाड़ रक्खा है। ४—भाव यह है कि माया धीरे धीरे सबों को अधीन कर लेती है। ५—इसी गरबीली माया ने शीलनिधि राजा की कन्या बन कर नारद जी का मुख बानर का बनवा दिया था। सन=जैसे। ६—इस मायिक चाचर में अनहद ध्वनिरूप बाजे बजते हैं जिन को सुन सुन कर योगियों का चित्त अधिक-अभ्यास के लिये ललचाता है। ७—जो ज्ञानरूपी ढाल से सुरक्षित होकर दृढ़ता के साथ माया के सम्मुख होगा वह अवश्य विजयी होगा। ८—माया का बनावटी (दिखाऊ) प्रेमसागर सदैव उछलता रहता है। और यह कटाक्ष वीक्षण के साथ साथ धीरे धीरे प्रेम की पिचकारी चलाती हुई सबों को वश में कर लेती है। ९—फगुवा के खेल में स्त्रियाँ घुले हुए रंग से भरे हुए हौज में पुरुषों को खड़े करके फूल मालाओं से हाथ बाँध देती हैं, यह भाव यहाँ पर दिखाया गया है। यहाँ 'डाँग' ऐसा पाठान्तर है। गाड=गड्ढा (हौज)। त्रिगुणात्मक-माला से माया ने ब्रह्मादिकों को भी बाँध दिया, औरों की तो कथा ही क्या है। एक-धाप=एक डेग।

एक ही आक्रमण से परास्त कर दिया। १०—'सबों के मनों को आकर्षित करके माया स्वयं अन्तर्हित हो जाती है' यह भाव 'धुंघट-पट' के गिराने के वर्णन से दिखाया गया है। चाचर में स्त्रियां पुरुषों के मुख पर काजल लगाती हैं। भाव यह है कि माया ने सबों को कलङ्कित किया है। ११—माया-मन्दिर के द्वार पर खड़े हुए इन्द्रादिकों के लोचन दर्शनों के लिये तरस रहे हैं। कबीर साहब कहते हैं कि इस त्रिलोकी विजयिनी माया को वही जीत सकता है जो कि मोहावरण (बन्धन) से रहित है।

(२)

जारहु जगका नेहरा, मन बौरा हो।
जामें सोग संताप, समुझु मन बौरा हो।
तन धन सों का गर्वसी, मन बौरा हो।
भसम[1]-किरिमि जाकि साज, समुझु मन बौरा हो।
बिना नेवका[2] देव घरा, मन बौरा हो।
बिनु कहगिल की ईंट समुझु मन बौरा हो।
कालबूत की हस्तिनी, मन बौरा हो।
चित्र रचो जगदीस, समुझु मन बौरा हो।
काम अन्ध गज बसि परे, मन बौरा हो।
अंकुस सहियो सोस, समुझु मन बौरा सो।
मरकट मूठी स्वाद की, मम बौरा हो।
लीन्हौं भुजा पसारि, समुझु मन बौरा हो।
छूटन की संसय परी, मन बौरा हो।
घर घर नाचेउ द्वार, समुझु मन बौरा हो।
ऊँच नीच जानेउ नहीं मन बौरा हो।
घर घर खायउ डाँग, समुझु मन बौरा हो।
जौं सुवना ललनी गह्यो, मन बौरा हो।
ऐसो भरम बिचारु, समुझु मन बौरा हो।

पढ़े गुने का कीजिये, मन बौरा हो।
अन्त बिलैया खाय समुझु मन बौरा हो
सूने[३] घर का पाहुना, मन बौरा हो।
जौं आवै तौं जाय, समुझु मन बौरा हो।
नहाने को तीरथ[४] घना, मन बौरा हो।
पूजन को बहु-देव, समुझु मन बौरा हो।
बिनु पानी नल बूड़ि हो मन बौरा हो।
(तुम) टेकेहु राम जहाज, समुझु मन बौरा हो।
कहँहिं[५] कबीर जग भरमिया, मन बौरा हो।
तुम छांडेहु हरि की सेवा, समुझु मन बौरा हो।

टि०—(धोखे की टट्टी)

१—'जारे देह भसम होय जाई, गाड़े क्रिमिकिट खाई'। २—यह शरीर बिना नेंव का देवालय है अर्थात् आशु विनाशी है। 'जीवो नारायणो देवो देहो देवालयः स्मृतः'। और माया बिना 'कहगिल' (गिलावा) की ईंट है। अर्थात् अचिरस्थायिनी है। और यह विषय रचना 'काल बूत की हस्तिनि' (नकली हथिनी) के समान है। बिलैया = माया। ३—असार संसार से प्रेम करने वाला सूने घर में आये हुए मेहमान के समान है जो कि प्यासा आता है और प्यासा ही चला जाता है। ४—अज्ञानियों की दृष्टि में मुक्ति के निमित्त नहाने और पूजने के लिये अनेक तीर्थ और अनेक देवता हैं; अतः 'राम-जहाज' (आत्मपरिचय) के आरोहण से वंचित रह कर उक्त मिथ्या समुद्र (अध्यास) में डूब जाते हैं। ५—कबीर साहब कहते हैं कि ऐ अज्ञानियो! तुम्हारा मन बौरा गया (पागल हो गया) है, अतएव तुम लोग हरि (आत्मदेव) की सेवा को छोड़ कर भूतों (अनात्मप्रपञ्च) की सेवा करने लग गये। सुनो! 'भूतानि यान्ति भूतेज्याः' के अनुसार तुम लोग

अन्त में भूत ही हो जाओगे। 'दिव्यं वर्षसहस्रं हि तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः' (सांख्य कारिका)

बेली

(१)

हंसा[1] सरवर† सरीर में, हो रमैया राम।
जागत चोर घर मूसै हो, रमैया राम।
जो जागल सो भागल हो, रमैया राम।
सोवत गैल बिगोय, हो रमैया राम।
आजु बसेरा नियरे हो, रमैया राम।
काल बसेरा (बड़ि) दूरि, हो रमैया राम।
जैहों बिराने देस हो, रमैया राम।
नैन भरहुगे धूरि हो, रमैया राम।
त्रास[2]-मथन दधिमथन कियो हो, रमैया राम।
भवन मथेउ भरि पूरि, हो रमैया राम।
फिरि (के) हंसा पाहुन भयो हो, रमैया राम।
बेधि न पद निरबान, हो रमैया राम।
तुम हंसा मन मानिक हो, रमैया राम।
हटलो न मानेहु मोर, हो रमैया राम।
जसरे कियहु तस पायहु हो, रमैया राम।
हमरे दोष जनि देहु, हो रमैया राम।
अगम[3] काटि गम कीयहु हो, रमैया राम।
सहज कियहु बैपार, हो रमैया राम।

---

† छन्द 'उपमान'।

रामनाम धन बनिज कियहु हो, रमैया राम।
लादेहु वस्तु अमोल[४], हो रमैया राम।
पाँच[५] लदनु (वां) लादी चले हो, रमैया राम।
नौ बहिया[६] दस[७] गोनि, हो रमैया राम।
पाँच लदनुवौ खागी[८] परे हो, रमैया राम।
खाँखरि डारिनि फोरि, हो रमैया राम।
सिर धुनि हंसा उड़ी चले हो, रमैया राम।
सर-बर मीत जोहारि, हो रमैया राम।
आगि जो लागी सरवर में हो, रमैया राम।
सरबर जरि भौ धूरि, हो रमैया राम।
कहँहिं[९] कबिर सुनु सन्तो हो, रमैया राम।
परखि लेहू खरा खोट, हो रमैया राम।

त्रिलोकशोकदायिनी ह्यचिन्त्यरूपमायिनी।
प्रपञ्चवीचि 'वल्लरी' सुविश्ववृक्षझल्लरी॥
सुवर्णिता हिताहिता मितामिता रतारता।
कबीरधीर माश्रये गुरुं वरं त्रिदात्मकम्॥

टि०—(हंसोद्बोधन चेतावनी)

१—ऐ हंस! ऐ रमैया-राम! जीवात्मा! (विवेकी) तेरे देखते हुए यह पश्यतोहर मन रूपी तस्कर तेरे शरीर (हृदय) रूपी सरोवर में से तेरे जीवनदायक ज्ञान और विवेकादिक महर्घ मोतियों को चुरा रहा है। और तेरे ऊपर भी संशय रूपी छुरी चला रहा है, ('हंसा संसय छुरी कुहिया')अतः तू सचेत होजा। 'आजु' नरतन के रहते हुए। 'बसेरा नियरे' मुक्ति मिल सकती है। 'काल' चौरासी में जाने पर।
२—तुम्हारे हृदय में दधि के मथन की तरह त्रास से मथन (भय-विकलता) सदैव होता रहता है (और तुमने नाना भोगों की इच्छा से)

बार २ जाकर स्वर्गादिक भवनों को भी पूरी तरह मथ डाला। 'निरवान पद' मुक्ति। ३—ज्ञान हीन रामनाम के उपासकों की दशा का वर्णन—सर्व हृदय निवासी प्रत्यक्ष राम को छोड़ कर साकेत विहारी अगम-राम की प्राप्ति के लिये बड़ी श्रद्धा और भक्ति से राम-नामोपासनादिक किया। ४—यह सौदा बहुत अच्छा है परन्तु बिना समझे किया है यही भारी न्यूनता है। ५—पंच तत्व (शरीर)। ६—नव-नाड़ी। ७—दश इन्द्रिय रूपी गौन = (अन्नादिक भरने का बोरा)। ८—गढ़े में जा गिरे। शरीर पात हो गया। खांखरी = खोपरी। ९—कबीर साहब कहते हैं कि आप लोग उक्त नाम और नामी के व्यापार में होने वाली हानि और लाभ को खूब समझ लीजिये। भाव यह है कि बिना ज्ञान के किया हुआ नामोपासना का सौदा उक्त गोणी के साथ ही चला जाता है 'ढोला फूटा बोला गया'। और नामी का सौदा नामी के साथ रहता है 'कहँहि कबिर जन भये विवेकी जिन जंत्री से मन लाया'। साखी—'नाम न लिय तो का हुआ, जो अन्तर है हेत। पतिवरता पति को भजे, कबहुँ नाम नहिं लेत'।

(२)

भल सुम्रिति[1] जहँडायहु हो, रमैया राम।
धोखे किय बिसवास, हो रमैया राम।
सो तो है बन-सीकसी[2] हो, रमैया राम।
सेर ❀ कियहु बिसवास, हो रमैया राम।
ई तो है बेद भागवत हो, रमैया राम।
गुरु[3] दीहल मोहि थापि, हो रमैया राम।
गोबर[4]-कोट उठायहु हो, रमैया राम।
परिहरि जैबहु खेत, हो रमैया राम।

मन[1] बुधि × जहाँ न पहुँचे हो, रमैया राम।
तहाँ खोज कस होय, हो रमैया राम।
से सुनि मन धीरज भयल हो, रमैया राम।
मन बढ़ि रहल लजाय, हो रमैया राम।
फिर[2] पाछे जनि हेरहु हो, रमैया राम।
काल[3] बूत + सब आहि, हो रमैया राम।
कहँहिं कबिर सुनो सन्तो हो, रमैया राम।
मन बुधि ÷ ढिग फैलावहु, हो रमैया राम।

टि०—[जीवोद्बोधन (चेतावनी)]

१—स्वार्थ साधक वञ्चकों के प्रक्षिप्त 'न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने' इत्यादि अनर्थकारी स्मृति-वचनों तथा नूतन कल्पित नाना स्मृतियों के जंगल में तुम भटक गये। २—ये कौल-कुल विनिर्मित 'वाम तन्त्रादि' स्मृतियाँ सन्मार्ग-रहित निर्जन और भयंकर वन हैं। सीकस= शून्य प्रदेश। 'सीकस बोइन धाने' यदि 'बसी कसी' ऐसा पाठ हो तो यह अर्थ है कि उक्त स्मृतियाँ दृढ़ और तीक्ष्ण बंसी के समान हैं जो कि अज्ञानी मछलियों के प्राण की गाहक है। 'से' उन मिथ्या स्मृतियों का 'र' यह नीच संबोधन है। ३—'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'! इस कथन के अनुसार सद्गुरु ने मुझको त्रिगुण मत और पथ से हटाकर त्रिगुणातीत 'निजपद' पर स्थापित कर दिया है। ४—ऐ देहात्म वादियो! तुमने जिस शरीर को सर्वस्व 'तत्व' समझ रक्खा है वह तो मलादिक गोबर का कोट (रक्षा के लिये लगाई हुई दीवार वगैरह) है। एक दिन ऐसा होगा कि वह (तुम) खेत (श्मशान) में फेंक दिया जायगा। खेत शब्द श्लिष्ट है। ५—नाना कल्पित पदार्थों में

---

*पाठा०—सोरे। × क० पु० बुधिबल। + काल भूत। ÷ मति ढिग।

संयम करने वालों को उपदेश। ६—गुरु पद से विचलित होकर। ७—नकली (मिथ्या) ८—'दिल महँ खोजु दिलहि में खोजो यहैं करीमा रामा'।

बिरहुली[1]

(१)

आदि[2] अंत नहिं होत बिरहुली नहिँ जरि पलौ पेड़ बिरहुली।
निसु बासर नहिँ तो बिरहुली पवनपानि नहिं मूल बिरहुली।
ब्रह्मादिक[3] सनकादि बिरहुली कथिगेल जोग अपार बिरहुली।
मास असाढ़े सितली बिरहुली बोइन्हि सांतों बीज बिरहुली।
नित[4] कोडै नित छिंचै बिरहुली निति नव पलौ पेड़ बिरहुली।
छिछिलि बिरहुलीछिछिलिबिरहुली छिछिलिरहलतिहुंलोकबिरहुली।
फूल[5] एक भल फुलल बिरहुली फूलि रहल संसार बिरहुली।
से फुल लोरैं संत (जना) बिरहुली बंदिक राउर जाँहिं बिरहुली।
से फुलबंदहिं भक्त (जना) बिरहुली डसिगैलबैतल सांपबिरहुली।
विषहर[6] मंत्र न मानै बिरहुली गारुड़बोले अपार बिरहुली।
विष कि कियारी बोयहु बिरहुली लोढतका पछताहु बिरहुली।
जनम[7] जनम जमअंत(र) बिरहुली फलएककनयरडार बिरहुली।
कहँहि कबिरसँचुपाव(हु) बिरहुली जो फल चाखहुमोरबिरहुली।

'बिरहुलि' रतिचण्डा गारुडी मन्त्रविद्या।
विषमविषविमोके भोगिनः कालशत्रोः॥
निजजनपरिरक्षाकारिणी येन सृष्टा।
गुरुवरविषवैद्यं तं कबीरं स्मरामि॥

टि०—[तत्वोपदेश—गारुडमन्त्र]

१—उक्तरूप से मन आदिक असत्यपुरुषों की उपासना करने वाले अज्ञानी लोग निजदेव (सत्यपुरुष, आत्मदेव) के विरही बन गये, इससे

उनको 'बिरहुली' कहा है और 'बिरहुली' यह गरुड मन्त्र का प्राकृत नामान्तर भी है। 'विषय वाटिका में लगी हुई काम केतकी के प्रेमियों को मनरूपी भुजंगम डस लेता है। उक्त विषधर का विष ऐसा विकराल है कि वह गुरुगारुडी के मंत्र के बिना अनेक प्रयत्न करने पर भी कदापि नहीं उतर सकता है' यह भाव इस पद्य में रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। २—मनरूपी सर्प के डस लेने पर जिज्ञासु-जन विकल होकर इस प्रकार सद्गुरु को पुकारते हैं—'मन-भुजङ्ग डस्यो मेरि काया एक दुख व्यापे दुजी दारुण माया। गुरु मेरे गारुडी मैं विषके हो माता, अबके उबरोगुरु सम्रथ दाता'। हृदयतल से निकली हुई इस करुणा पूर्ण वाणी को सुनते ही परम दयालु सद्गुरु गारुडी विकल जिज्ञासु के विष को दूर करने के लिये अपना तत्वोपदेश रूपी गारुड-मंत्र इस प्रकार सुनाने लगते हैं; 'आदि अन्त नहिं होत बिरहुली' इत्यादि।

अर्थ—हे बिरहुली! तुम इस मेरे मंत्र को हृदय में धरलो कि अनादि अनन्त और अखंड होने के कारण निजपद गुरुपद या आत्मपद (रमैयाराम) का न आदि है न अन्त। निरवयव होने के कारण न उसकी जड़ है न शाखा और पत्ते। स्वयं प्रकाश होने के कारण आत्म-देश में न दिन है न रात। अभौतिक होने के कारण न उसमें पवन है न पानी। ३—उक्त पद की प्राप्ति के लिये ब्रह्मादिकों ने क्रमशः कर्म और, उपासनादिकों का विधान किया है। 'आत्मावाइदमेकएवाग्र आसीत्। नान्यत्किञ्चनमिषत्। स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति' इस ऐतरीय श्रुति के अनुसार सृष्टि के आरम्भकाल रूप आषाढ़ मास में यह जीवात्मा तथा प्रकृति स्थूल प्रपञ्च रूप विकार के ताप रहित होने के कारण शीतल सी थी। अनन्तर कर्मों के भोगोन्मुख होने के कारण 'गुणक्षोभे जायमाने महान् प्रादुर्बभूव ह' इत्यादि श्रुति के अनुसार बुद्धितत्व अहङ्कार और

पञ्चतन्मात्रा रूपी सातों बीज प्रकृति क्षेत्र में [जीवात्मा रूपी किसान ने] बोये।

सूचना—आदि मंगल में बताई हुई साम्प्रदायिक, सृष्टि प्रक्रिया के अनुसार यह अर्थ है कि पहले आदि पुरुष (चेतनधनी) को स्फुरण हुआ, पश्चात् 'मूल सुरति' (वृत्ति) और 'इच्छा' सुरति आदिक सात सुरतियाँ उत्पन्न हुईं; अनन्तर कारणीभूत सात सात सुरतियों से भूत भौतिक क्रम से सृष्टि का निर्माण हुआ। यह सन्त मत की प्रक्रिया है। इस स्थल पर योग और उपासना की प्रक्रियाओं के अनुसार अनेक अर्थ हो सकते हैं। ४—उक्तबीज बोने के अनन्तर सदैव नाना मतों की कल्पना और अहङ्कार रूपी कोड़ने (खोदने) और सींचने से प्रपञ्च वल्ली दिनों दिन लह-लहाती हुई बढ़ती ही चली गयी। प्रपञ्चलता ने तो बढ़ने में वामन-भगवान् के चरण को भी परास्त कर दिया, यह तो फैलते २ तीनों लोकों में फैल गई। 'तीन लोक में है जमराजा, चौथे लोक में नाम निसान'। ५—बीजाङ्कुर न्याय से उक्त प्रपञ्चलता में मन रूपी एक अनोखा फूल लगा हुआ है। वह फूल इतना विराट् है कि उसने सारे संसार-सागर को ढांप लिया है। 'जल थल मैं ही रमि रह्यो मोर निरञ्जन नाउँ'। समष्टि-मनोऽभिमानी चेतन का नाम निरंजन है। सन्तजन उस (मानरूपी) फूल को प्रपंच रूपी लता से तोड़कर (लोरकर) आत्मपद पर चढ़ा देते हैं इस कारण वे मुक्त हो जाते हैं। और सकामी भक्त उस फूल को अपने माथे पर रख लेते हैं। इस कारण उसमें छिपा हुआ काम रूपी बावरा सर्प उनको काट लेता है। ६—'कुसुम शरनिपातजर्जरितहृदये हि गल-त्युपदिष्टम्' उस बाण भट्ट के कथनानुसार काम-विकल उक्तजन विषय विष को हरण करने वाले सद्गुरु के तत्वोपदेशरूपी गारुड मंत्र को नहीं मानता है; अतः उसका विष कैसे दूर हो सकता है। अथवा उस विषहर = सर्प के आगे साधारण मंत्र नहीं चलते। सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हारी भी ठीक वही दशा है। 'मनको मारौं पटक के टूक २ है जाय। विष की

क्यारी बोयके लुनते क्यों पछताय'। ७—'अब तोर होव नरक में बासा। निसिदिन रहेहु लबार के पासा' अब सदैव जम के अधिकार में रहोगे। तुम्हारी प्राण रक्षा का एकही उपाय है 'उद्धरेदात्मनात्मान नात्मानमवसादयेत्' इसके अनुसार मेरे उपदेश को मान कर तुम अपने आप अपने को बचालो। कबीर साहब कहते हैं कि मेरे लगाये हुए कनयल की डाल में एक सुन्दर फल लगा हुआ है। यदि तुम उसको खोलोगे तो परम सुख पाओगे। भाव यह है कि रोचक वाणी से जीवात्मा भवचक्र में घूमता है, और यथार्थवाणी को सुन कर ज्ञानोदय से मुक्त हो जाता है। रोचक वाणी फूल की माला की तरह प्रिय होती है। और यथार्थवाणी 'जहरकनयल' की डाल की तरह कड़वी होती है। जिस प्रकार सफेद कनयल के फल और उसकी जड़ को घोट कर पिलाने से सर्प का विष दूर हो जाता है (यह प्रसिद्ध है) इसी प्रकार कड़वी किन्तु यथार्थवाणी के सुनने से मन के विकार रूपी विष भी दूर हो जाते हैं। यही यथार्थवाणी 'बिरहुली-मंत्र' है। 'मता हमारा मंत्र है, हमसा होय सो लेय। सब्द हमारा कल्पतरु, जो चाहै सो देय'। सूचना-जिन यथार्थ (कड़वी) वाणियों के द्वारा पाखंड-विखंडन किया गया है उनका उल्लेख 'वेद कितेब दोउ फन्द पसारा। तेहि फन्दे परु आप विचारा। जिन दुनियाँ में रची मसीद। झूठे रोजा झूठी ईद' इत्यादि पद्यों से विस्तारपूर्वक (पहले) कर चुके हैं।

हिंडोला[1]

(१)

भरम-हिंडोला ना, झूलै सभ—जग आय।
पाप[2]†—पुन्न के खंभा दोऊ, मेरु[2] माया माँह।

†छन्द रूपमाला और हरिपद आदिक।

लोभ मरुवा[४] विषै भँवरा[५], काम कीला[६] ठानि।
सुभ[७] असुभ बनाय डांडी, गहैं दोनों पानि।
करम[८]-पटरिया बैठिके, को कोन झूलै आनि।
झुलै तो गन गंधर्प मुनिवर, झूलै सुरपति इंद।
झुलै तो नारद सारदा, झूले व्यास फनींद।
झुलै बिरंचि महेस सुक-मुनि, झूलै सूरज—चंद।
आपु निरगुन सगुन होय के, झूलिया गोबिंद।
छव चारि चौदह सात इकइस, तीनि लोक बनाय।
खानि बानी खोजि देखहु, थिर न कोउ रहाय।
खँड ब्रहमँड खट[९]-दरसना, छूटत कतहों नाहिं।
साधु सन्त! बिचारि देखहु, जिव निस्तर कहँ जाहिं।
ससि सुर रयनी सारदी तहां, तत्त[१०]-पलौ नाहिँ।
काल अकाल परलै नहीं, तहाँ सन्त बिरले जाहिं।
तहँ (के) बिछुरे बहु कलप बीते, भूमि परे भूलाय।
साधु संघति खोजि देखहु, बहुरि उलटि समाय।
यहि झुलबेकी भय नहीं, जो होंहि संत सुजान।
कहँहिं कबिर सत सुक्रित मिले तो, बहुरि न झूलै आय।

भ्रमात्मिका भूतमनोगता या।
देवादिविभ्रान्तकरी निगूढ़ा॥
'आन्दोलिका' येन ततोविमुक्त्या।
उक्ता गुरुं तं सततंस्मरामि॥

टि०—[भ्रम का झूला]

१—इस प्रकरण में भ्रमरूपी झूले का रूपक दिखाया गया है 'अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परंपदम्' इस सिद्धान्त वाक्य के अनुसार ब्रह्मादिक सम्भावित-देवता और रामादिक अवतार बाधितानुवृत्या अथवा तत्वतः

स्वाधिकार परिरक्षण के लिये भोगप्रद कर्मों को किया करते हैं। और यह भी नियम है कि कर्मोद्यान अध्यास कुल्याप्रवाह के बिना कदापि सरस नहीं रह सकता है; इसी तत्वाधार शिला पर ये तीनों पद्य-मन्दिर सुस्थिर हैं। २—खुले मैदान में डाले हुए झूले के लिये दो खंभे गाड़े जाते हैं; तदनुसार इस प्रकृत-भ्रम हिंडोले के भी अङ्ग भूत धर्म्म और अधर्म रूपी दो स्तम्भ हैं। भाव यह है कि प्राक्तन-अध्यास-परतंत्र-मनुष्य धर्माधर्मानुष्ठान किया करते हैं। अधर्म की तरह धर्म भी शुभ फलों के द्वारा बन्धन कारक ही है। 'कहैं कबिर ये दोनौं बेरी, कोइ लोहा कोइ सोना केरी'। ३ –पूर्वोक्त दोनों खंभों के बीच में माया रूपी 'मेरु' (बीच की लकड़ी) लगा हुआ है। भाव यह है कि दृष्टान्तानुसार भ्रम झूला केवल माया पर अवलम्बित है। ४—उक्त झूले में लोभ रूपी दो मरुवे (लकड़ी के भारी भारी लट्टू) लगे हुए हैं। भाव यह है कि फल-तृष्णा से सकाम कर्म किये जाते हैं ५—और उक्त झूले को स्वच्छन्द घुमाने वाले विषय रूपी भवँरे (लोहे की भवँर कड़ी) लगे हुए हैं। ६ —और उसमें काम (कल्पना) रूपी कीले (लोहे के कीले) लगे हुए हैं। भाव यह है कि जिस प्रकार बिना भँवरे मरुवे और कीले के झूला नहीं ठहर सकता है। इसी प्रकार अध्यास रूपी प्रकृत-झूला भी भोग तृष्णा और अनन्तानन्त कल्पनाओं पर ही निर्भर हैं। 'काम काम सब कोई कहैं, काम न चीन्है कोय जेती मनकी कल्पना, काम कहावैं सोय'। (कबीर-साखी) ७—आवागमन। शुभाशुभ कर्मों के अधीन है। ८—नाना कर्मानुष्ठान रूपी पटरी-पर बैठने वाला ही उक्त झूले की 'बहार' ले, सकता है। जो जो बैठा सो सो झूला। फनीन्द्र=शेष। 'छब' (शास्त्र) 'चार' (वेद) 'चौदह' (विद्याएँ) 'सात' (द्वीप) 'इकइस' (भुवन) 'खानी' (योनि) 'बानी' (बचन)। ९—छः वेष धारी लोग। 'जोगी जंगम सेबड़ा संन्यासी दरबेस। छठये कहिये ब्राह्मण छव-धर छः उपदेश'। १०—माया, के सादि पक्ष से स्वरूप स्थिति का बिचार। 'तत्त-पलौ'

भूत-भौतिक प्रपंच रूपी पल्लव उस 'तत्व' रूपी करीर-तरु में नहीं है। ११—सत्यपुरुष (आत्म देव, निज-देव)।

सूचना—सत्य पुरुष, कबीर साहब, और धर्मदासजी साहब के स्व-सम्प्रदाय प्रसिद्ध क्रमशः वे नाम हैं। सत्यनाम सत्य-सुकृत-आदि अदली अजर और अचिन्य-पुरुष। करुणामय, कबीर, सुरति जोग-सन्तायन और ज्ञानिजी। धनी-धर्मदास, सुकृत, धर्म, और धर्मिनि। कबीर पन्थी ग्रन्थों में सर्वत्र उक्त व्यक्तियों के कहने के लिये इन्हीं नामा का प्रयोग किया गया है।

(२)

बहुँ विधि-चित्र बनाय के हरि, रच्यो क्रीडा-रास।
जाहि न इच्छा भूलबे की, ऐसी बुधि केहि पास।
झुलत झुलत बहु कलप[1] बीते, मन नहिं छोड़ै आस।
रच्यो हिंडोला अहोनिस, (हो) चारि जुगचौमास[2]।
कबहुँ[3] के ऊँच से नीच कबहूँ, सरग भूमि ले जाय।
अति भ्रमत मरम-हिंडोलवा हो, नेकु नहिं ठहराय।
डरपत हौं यह भूलबे को, राखु जादव राय।
कहैं कबिर गोपाल विनती सरन हरि तुम पास।

टि०—[मन-मोहन भूले की रसीला पैंगें]

१—प्रलय। 'संवर्तः प्रलयः कल्पःक्षयः कल्पान्तमित्यपि' (अमर) २—चातुर्मास्य में झूला डाला जाता है, तदनुसार चारों युगों में रात दिन उक्त कर्म और भ्रम रूपी झूला झूला जाता है। 'नहि कश्चित्क्व-चिदपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। क्रियते ह्यवशं कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः' (गीता) ३—जिस प्रकार झूले पर बैठे हुए लोग नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे जाया आया करते हैं, इसी प्रकार उक्त झूले पर बैठे हुए कर्मी और उपासक भी अधोलोक से ऊर्ध्वलोक और ऊर्ध्वलोक से

अधोलोक को जाते आते रहते हैं। 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो यान्ति परन्तपः'।

(३)

लोभ मोह के खंभा दोऊ, मनसे रच्यो हिंडोल।
भूलहिं जीव जहान जहांलगि, कितुहुँन देखौं (थिर) ठौर।
चतुर भुलहिं चतुराइया, भूलहिं राजा सेस।
चांद-सुरज दोउ भूलहिं, (हो) उनहुँ न अज्ञा भेव।
लख चौरासो जीव भूलहिं, रबिसुत धरिया ध्यान।
कोटि-कलप जुग बीतल, अजहुँ त माने हारि।
धरति अकास दोउ भूलहिं, भूलहिं पवना नीर।
देह धरे हरि भूलहिं ठढ़े, देखहिं हंस-कबीर।

टि०—[उक्त भूले की लोकप्रियता का विचार]

इस पद्य में प्रातिस्विक (प्रतिव्यक्ति भिन्न) मानसिक भूलों का वर्णन है। १—यम (मन, पारिभाषिक-निरंजन) 'मैं सिरजौ मैं मारऊँ मैं जारौं मैं खाउँ। जल थल मैं ही रमि रह्यो मोर निरंजन नाऊँ'। 'अलख निरंजन लखै न कोई जेहि बन्धे बन्धा सभ लोई'। 'एकल निरंजन सकल सरीरा। तामें भ्रमि २ रहल कबीरा' इत्यादि (बीजक) 'मनही निरंजन आहि'। निरंजन (मन) के उपासक सबके सब मन-धार में बह गये। 'न आज्ञा भेव' निरंजन के सर्वमान्यशासन को नहीं टाला। २—साक्षी रूप (मुक्तपुरुष)। भावार्थ—जो सर्वथा मुक्त हैं वे इस (भूले) से भी मुक्त हैं। इति ॥

———

साखी

जहिया* जन्म-मुक्ता हता, तहिया हता न कोय।
छठी तिहारी हौ जगा, तू कहँ चला बिगोय ॥ १ ॥

साक्षी सुचेताश्चितिमात्ररूपः।
संवर्णितो येन निजात्मदेवः ॥
अन्वर्थसंज्ञा गुणतस्ततोऽभूत्।
'साखी' ति विज्ञानिगुरुं भजे तम् ॥

टीका

ये साखियाँ 'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं साश्वद्विश्वतो मुखम्। अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्र सूत्रविदोविदुः' इस लक्षण के अनुसार कबीर साहब की शिक्षा के सूत्र रूप है, अतः अन्यान्य भजनादिक (पद्य) इन्हीं के विस्तृत विवरण रूप हैं' यह कथन अत्युक्ति पूर्ण न होगा। उदाहरणार्थ 'जहिया जन्म मुक्ताहता' इस प्रथम साखी की भाष्यभूत (व्याख्यान) 'तहिया गुपुत थूल नहिं काया ताके न सोग ताकि पै माया' यह ७४ वीं रमैनी है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये। सूचना—यह धारणा नितान्तही निष्प्रमाण है कि इस स्वल्पकाय 'बीजक' ग्रन्थ में (अथवा अपने २ बीजकों में) जिन २ पद्यों का उल्लेख है केवल वे ही कबीर साहब के बनाये हुए हैं, वस्तुतः ये सब (उपलब्ध बीजक) संग्रह ग्रन्थ है, अतएव पद्य-संख्या, पाठ क्रम और पाठ भेद आदिकों का होना स्वाभाविक है। क्योंकि बहुत महात्माओं ने इनका बहुरूप से संग्रह किया था। ऐसी स्थिति में अपने २ स्थानों के पाठों एवं अर्थ-प्रकारों (वैचित्र्य) को सनातन या पुरातन सिद्ध करने की चेष्टा करना कहाँ तक उचित है इसको विवेकी जन स्वयं विचार लें। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किञ्चिनमिषत्। स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति' (ऋग्वेदीयैतरेय-

---

* छन्द 'दोहा'

पनिषद्, अ० १ खण्ड १ मन्त्र १) 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति' (यजुर्वेदीय) तैत्तिरीयोपनिषद्, अ० २ वल्ली २ मन्त्र ३० । साखी का अर्थ=ऐ जीवात्मा तुम 'जहिया' सृष्टि के पूर्व (स्थूल शरीर के न होने से) शरीराद्य प्राणसम्बन्ध रूप जन्म से मुक्त थे, 'तहिया' उस समय 'हता न कोय' यह कोई भी स्थूल प्रपंच नहीं था । अनन्तर कर्मों के भोगोन्मुख होने पर तुम्हारी छठी इन्द्रिय मन में 'हौं' 'एकोहं बहुस्यां प्रजायेय' इस प्रकार अनेक रूप होकर प्रकट होने का कर्तृत्वाहंकार जगा । उक्त इच्छानुसार अब तू अभ्यास वश नाना रूप होकर और नाना कल्पना तथा पाखण्डों में पड़कर अपने रूप को तथा आनन्द को 'विगोय' भुलाकर या नष्ट करके मुक्ति के लिये कहाँ चला जा रहा है । सुनो ! 'जहाँ जाहु तहँ काटु कसाई' । तथा 'जहँ २ गयउ अपन पौ खोयहु' भाव यह है कि 'स एक्षत लोकान्नुसृजा इति' यह श्रुत्युक्त ईक्षण और कामना बिना उपाधि के (शुद्ध में) नहीं हो सकती हैं इससे सिद्ध होता है कि यह जीवात्मा कारणीभूत माया के अनादि होने के कारण अनादि काल से सोपाधिक (भूला हुआ) है । यह वार्ता इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर कही गयी है । 'है बिगडायल और को बिगडो' नाहिं बिगाड़ो जो है सनातन सोई भूला' इत्यादि एवं "तहिया गुपुत थूल नहीं काया, ताके न सोग ताकि पै माया" इत्यादि कथन से माया भी अनादि ही मानी गयी है । फलतः सृष्टि से पूर्व अशरीरी होने के कारण जीवात्मा जन्मादिक द्वन्द्व से मुक्त था, अत्यन्त मुक्त नहीं । यहाँ पर यह विचारणीय है कि कामना और अहङ्कार रूप अध्यास ही के कारण जीवात्मा एक से अनेक और अनेक से एक रूप होकर पुनः २ संसरण किया करता है । सापेक्ष होने के कारण एकता का अध्यवसाय ही अनेकता का उद्गम है । 'प्रथम एक जो हौं किया भया सो बारह बाट । कसत कसौटी ना टिका पीतल भया निदान" । जब तक परिचय रूप वारि से आत्मोद्यान आप्लावित नहीं होता है तब क यह एकता और अनेकता का अरहट बराबर चलता रहता है । "भर-

मक बान्धल ई जग यहि बिधि आवे जाय" अज्ञानेनावृतंज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तवः। स्वसंवेद्य स्वरूप परिचय का अभिज्ञान भूत कबीर साहब का कथन इस प्रकार है कि 'जाके मुनिवर तप करै वेद थके गुन गाय। सोई देऊँ सिखापना कोई नहिं पतियाय॥ एक कहौं तो है नहीं, दोय कहौं तो गार। है जैसा तैसा रहै, कहैं कबीर बिचार॥ सूचना—इस साखी का दूसरा अर्थ माया के सादि पक्ष में है परन्तु वह एकदेशी होने के कारण अमान्य है।

सब्द[1] हमार तु सब्द का, सुनि मति जाहु सरक्क†।
जो चाहो निजतत्व का शब्दहिं लेहु परक्ख॥ २॥
सब्द[2] हमारा आदिका, सब्दै पैठा जीव।
फूल रहनि की टोकरी, घोरे खाया घीव॥ ३॥
सब्द[3] बिना स्रुति आँधरी, कहो कहाँ को जाय।
द्वार न पावै सब्द का, फिरि फिरि भटका खाय॥ ४॥

टि०—१—गुरुवचन। यहाँ पर शब्द परसे 'तत्वोपदेश' विवक्षित है। 'एक शब्द गुरुदेव का जाका अनन्त विचार'। तथा 'आदि को उपदेस जाने तासु बेस बाना'। तू उस शब्द का (अधिकारी) है इसलिये 'सुनि मति जाहु सरक्क'। २—गुरु०। हमारे उपदेश को अज्ञानी इस कारण नहीं मानता है कि उसके हृदय में वंचक गुरुओं के शब्द पैठे हुए हैं। मिथ्या उपदेश के कारण अज्ञानी फूल रखने की टोकरी के समान शुद्ध अपने स्वरूप को भूल कर इस प्रकार दुःख उठाता है, जैसे घी पिलाने से घोड़ा पीड़ित हो जाता है सूचना—घोड़े को घी कम पचता है। मसला—"घी देत घोड़ा नरियाय"। दूसरा यह अर्थ है कि 'घोरा' मठा रूपी माया ने 'घीव' (जीवात्मा) को खा डाला। ३—बिना तत्वोपदेश के यथार्थ बोध नहीं होता है 'स्रुति' वृत्ति। दूसरा अर्थ नादो-

---

† सार छन्द।

सब्द[४] सब्द बहु अन्तरा, (हौ) सार-सब्द-मत लीजे।
कहँहि कबिर जेहि सार-सब्द नहिं, धृग जीवन सो जीवे ॥ ५ ॥
सब्दै[५] मारा गिर परा, सब्दहि छोड़ा राज।
जिन जिन सब्द विवेकिया, तिनका सरिगौ काज ॥ ६ ॥
सब्द[६] हमारा आदिका, पल पल करहू याद।
अन्त फलेगी मांहली, ऊपर की सब बाद ॥ ७ ॥
जिन[७] जिन सम्बल ना कियो, अस पुर पाटन पाय।
झालि परे दिन अँथये, सम्बल कियो न जाय ॥ ८ ॥
इहाँई सम्बल करिले, आगे विषई बाट।
सुरग बिसाहन सब चले, जहँ बनियाला हाट ॥ ९ ॥
जो[९] जानहु जिव आपना, करहु जीव को सार।
जियरा ऐसा पाहुना, मिले न दूजी बार ॥ १० ॥
जो[१०] जानहु जग जीवना, जो जानहु सो जीव।
पानिप चावहु आपना पानी माँगि न पीव ॥ ११ ॥

पासना का परिचायक है। ४—सिद्धान्त पक्ष में सारशब्द = निर्णय वचन। उपासना। पक्ष में 'अनाहतशब्द' ५—गुरूपदेश। ६—'अन्ते मतिः सा गतिः' माँहली = अन्तर्वासना। ऊपर की = क्रिया कर्म। ७—ज्ञान प्रधान नरतन पाकर जिन्होंने ज्ञानार्जन नहीं किया वे पशुयोनियो में ज्ञान कैसे पा सकते हैं? सम्बल = रास्ते का भोजन (ज्ञान या मुक्ति) झालि = अन्धेरा (अज्ञान) 'दिनास्त' (शरीरान्त)। ८ -मुक्ति के अधिकारी मनुष्य ही हैं, देवता नहीं। 'द्वयपेक्षयामनुष्याधिकारत्वात्' (वेदान्त-दर्शन) 'सम्बल' मुक्ति। "विषई बाट" स्वर्ग का रास्ता भोगाभिलाषियों का रास्ता भोगाभिलाषियों का है मुक्तो का नहीं। ९—यदि आत्मा तुम्हारा प्यारा पहुना है तो उसकी (मुक्ति रूप-इच्छित भोजनादि द्वारा) 'सार' खातिरदारी (मेहमानी) करिये। क्योंकि ऐसा पहुना फिर न मिलेगा (यह पहुना इसी घर में फिर न आयगा) "फिर न मनुष

पानि[११] पियावत का फिरो, घर घर सायर बारि।
तृषावन्त जो होयगा, पीवेगा झख मारि ॥ १२ ॥
हंसा[१२] मोति बिकानिया, कंचन थार भराय।
जाको मरम न जानई, ताको काह कराय ॥ १३ ॥
हंसा[१३] तू सुबरन बरन, का बरनौं मैं तोहि।
तरिवर पाय पहेलि हो, तबै सराहौं तोहि ॥ १४ ॥
हंसा[१४] तूतो सबल था, हलुकी अपनी चाल।
रंग कुरंगे रंगिया, किया अवर लगवार ॥ १५ ॥
हंसा[१५] सरवर तजि चले, देही परि गौ सून।
कहँहिं कबीर पुकारि के, तेहि दर तेही थून ॥ १६ ॥
हंस[१६] बगु देखा एक रंग, चरे हरियरे ताल।
हंस छीर ये जानिये, बगु उघरे तत काल ॥ १७ ॥
काहे[१७] हरनी दूबरी, यहीं हरियरे ताल।
लच्छ अहेरी एक मृग, केतिक टारै भाल ॥ १८ ॥
तीनि[१८] लोक भौ पींजरा, पाप पुन्न भौ जाल।
सकल जीव सावज भये, एक अहेरी काल ॥ १९ ॥

अवतार हो।" १०—जिसके बल से तुम जीते रहना जानते हो और जिसको अपना सर्वस्व समझते हो वह यही जीवात्मा है, अतः यदि 'पानिप' मर्यादा चाहते हो तो स्वावलम्बी बनो और दूसरों से पानी भी ना मांगो। भावार्थ-वंचकों की वाणी न सुनो। ११—अनधिकारियों को उपदेश नहीं देना चाहिये। 'सायरवारि' ज्ञान-सागर का पानी (उपदेश) १२—विवेकी हंस तत्वोपदेशरूपी मोती को चुन लेता है। १३—ऐ हंस यदि तू उड़कर इस समुन्नत विश्ववृक्ष से पार हो जायगा तब तेरी प्रशंसा करूँगा। १४—तू प्रपंच पङ्क में सन गया। १५—"जहाँ आसा तहां बासा'। १६—सन्त और असन्तों की परीक्षा आचरणों से होती है। १७—जीवात्मा को अनेक विकार घेरे रहते हैं। १८—"जल थल मैं ही

लोभै[१९] जनम गवाँइया, पापे खाया पुन्न।
साधी सों आधी कहै, तापर मेरा खुन्न ॥ २० ॥
आधी[२०] साखी सिरखड़ी, जो निरुवारी जाय।
का पंडितकी पोथियाँ, राति दिवस मिलि गाय ॥२१॥
पाँच[२१] तत्तु का पूतरा, जुगुति रची मैं कीव।
मैं तोहि पूछौं पंडिता, सब्द बड़ा की जीव ॥२२॥
पाँच[२२] तत्तका पूतरा, मानुष धरिया नांव।
एक कला के बीछुरे, बिकल होत सब ठांव ॥२३॥
रंगहिते[२३] रंग ऊपजे, सभ रंग देखा एक।
कवन रंग है जीवका ताका करहु विवेक ॥२४॥
जाग्रत[२४]-रूपी जीव है, शब्द सोहागा सेत।
जरद बुन्द जल कूकुही, कहहि कबिर कोइ देख ॥२५॥

रमि रह्यो मोर निरंजन नाउँ 'काल' मन। १९—माया सबला होने से साधी (पूरी) २०—'साखी' अज्ञानियों की गवाह। माया केवल अज्ञानियों की गवाह है क्योंकि उनके सब काम इसके सामने होते हैं अतः 'आधी साखी' माया सिरपर सवार है। 'अन्त बिलेया खाय समुझु मन बौरा हो'। २१—'मैं' जीव। जड़देह में जीव ने जीवन डाल रक्खा है। 'जीव' शब्द करने वाला, शब्दी। २२—जीवात्मा की षोडशकलाओं में मुख्य कला प्राण है। २३—माया से सब रूप उत्पन्न होते हैं। २४—यह उत्तर है। सोने को गलाने वाला सफेद सुहागा, सोने के मैल को दूर करता है। 'जर्द' रज। 'बुन्द' वीर्य्य। 'जल कूकही' जलमुरगावी (शरीर) अर्थ—यह जीवात्मा वस्तुतः चैतन्य (ज्ञान) रूप होता हुआ भी भ्रम वश अपने को मलिन मान रहा है (पहले 'हंस' को सुवर्ण वर्ण कह आये हैं) ऐसी दशा में गुरु का तत्वोपदेश रूपी सुहागा ही इसके मैल (अज्ञानता) को दूर करने वाला है। ऐसे मनुष्य विरले हैं जो कि

पाँच[२५] तत्त × लै या तन कीन्हा, सो तन (ले) काहिले दीन्हा।
कर्महिके वश जीव कहत हैं, कर्महिं को जिव दीन्हा ॥२६॥
पांच[२६] तत्त के भीतरे, गुप्त वस्तु अस्थान।
बिरल मरम कोइ पाइहै, गुरुके शब्द प्रमान ॥२७॥
असुन-तखत[२७] अडि आसना, पिंड भरोखे नूर।
ताके दिल में हौं बसों, सेना लिये हजूर ॥२८॥
हृदया[२८] भीतर आरसी, मुख देखा नहिं जाय।
मुखतो तबही देखि हो दिलकी दुबिधा जाय ॥२९॥
गांव[२९] ऊँच पहाड़ पर, और मोटे की बाँह।
(कबीर) ऐसा ठाकुर सेइये, उबरिये जाकी छांह ॥३०॥
जेहि[३०] मारग गये पडिता, तेई गई बहीर।
ऊंची घाटी रामकी, तहँ चढ़ि रहैं कबीर ॥३१॥
ऐ[३१] कबीर तैं उतरि रहु, संबल परो न साथ।
सम्बल घटे न पगु थके, जीव बिराने हाथ ॥३२॥
कबीर[३२] का घर सिखर पर, जहाँ सिलहली गैल।
पाँव न टिकै पिपीलिका, खलकन लादे बैल ॥३३॥

शरीर से भिन्न जीव को साक्षात् जानते हों। २५—जो कर्म परतंत्र है वह जीव है और जो स्वतंत्र है वह शिव (मुक्त) है। २६—जीका विशेष निवास हृदय में है। २७—जो 'असुन्नतख्त' चैतन्य पद पर दृढ़ हैं और 'पिंड झरोखे' नेत्रों से (मानों साक्षात्) 'नूर' चित्प्रकाश को देख रहे हैं, उनके हृदय में स्वयं 'साहब' ज्ञान वैराग्यादि सहित रहते है। २८—हृदय —शुद्धि के बिना 'साहब' के दर्शन नहीं होते। २९—'पूरा साहब सेइये सब बिधि पूरा होय ३०—'बहीर' अज्ञानी। ३१—साधन हीन को राम नहीं मिलते हैं। ३२—माया मन्दिर के शिखर पर (प्रपंच से परे) शुद्ध चेतन है। 'सिलहली' रपटीली। 'पिपीलिका' सूक्ष्म बुद्धि। 'बैल' नाना

× सार छन्द।

बिन[३३] देखे वह देसकी, बात कहे सो कूर।
आपुहि खारी खात है, बेचत फिरै कपूर ॥३४॥
सब्द[३४] सब्द सब कोइ कहैं, वोतो सब्द बिदेह।
जिभ्या पर आवे नहीं, निरखि परखिकरि लेह ॥ ३५ ॥
परबत[३५] ऊपर हर बहे (औ), घोरा चढ़ि बस गाँव।
बिना फूल भँवरा रस चाहे, कहु बिरवा को नांव ॥३६॥
चन्दन[३६] बास निवारहु, तुझ कारन बन काटिया।*
जियत जीव जनि मारहू, मूये सभै निपातिया ॥ ३७ ॥
चन्दन[३७] सरप लपेटिया, चन्दन काह कराय।
रोम २ बिष भीनिया, अमृत कहाँ समाय ॥ ३८ ॥
जौं[३८] मोदाद समसान सिलॉ, सबै रूप समसान।+
कहहिं कबिर वहि सावज की गति, तबकी देखि भुकान ॥३९॥
गही[३९] टेक छोड़े नहीं, जीभ चोंच जरिजाय।
ऐसो तपत अंगार है, ताहि चकोर चबाय ॥ ४० ॥

अहंकार। ३३—जो स्वयं आचरण नहीं करते उनकी बातें मत मानो। ३४—यहाँ शब्द से शब्दी (चेतन) कहा गया है। ३५—मन—यह विटपकी पहेली है। योगी प्राणायाम से ब्रह्माण्ड में ज्योति-प्रकाश करते हैं। 'परबत' ब्रह्माण्ड। 'हर' प्राण। 'घोड़ा' मन। 'भँवरा' जीव। 'बिनाफूल' मिथ्या। ३६—ऐजीव तू अपनी वासना को दूरकर। 'बन' संसार। ३७—दुराग्रही लोग चन्दन पर लिपटे हुए सांपों की तरह सत्संग से भी नहा सुधरते। ३८—जिस तरह 'मोदाद' स्फटिक शिला उपाधि वश अनेक रंगों के समान देख पड़ती है। और जैसे कुएँ में झुककर गरजने वाला सिंह वैसे ही शब्द को स्वयं सुनता है, माया के कारण नाना विकार जीव में भासते हैं। इसी तरह ३९—संकट सहते हुए भी दृढ़चित्त वाले निश्चित मार्ग से नहीं हटते हैं।

---

* छन्द 'श्याम उल्लास'। १३ मात्रा का। + छन्द हरिपद'।

चकोर[४०] भरोसेॐ चन्द्रके, निगले तपत अंगार।
कहैं कबीर डाहै नहीं, ऐसी वस्तु लगार ॥ ४१ ॥

झिलि[४१] मिलि झगरा झूलते, बाकी रही न काहु।
गोरख अटके कालपुर, कवन कहावे साहु ॥ ४२ ॥

गोरख[४२] रसिया जोग के, मुये न जारी देह।
मांस गली माटी मिली, कोरो मांजी देह ॥ ४३ ॥

बनते[४३] भाग+बिहड़े परा, करहा अपनी बान।
वेदन करहा कासो कहै, को करहा को जान ॥ ४४ ॥

बहुत[४४] दिवस ते हीडिया, सुन्न समाधि लगाय।
करहा पड़ा गाड़ में, दूरि परा पछिताय ॥ ४५ ॥

कबीर[४५] भरम न भाजिया, बहुबिधि धरिया भेख।
सांई के परचे बिना, अन्तर रहि गइ रेख ॥ ४६ ॥

बिनु[४६] डाँडे जग डांडिया, सोरठ परिया डांड।

४०—सच्चा विश्वास फलदायक होता है। ४१—'कालपुर' मन नगरी में। ४२—गोरखनाथजी ने जीते जी योगाग्नि से शरीर के मलों को जला डाला और काया को कोरी मांजी कर दी। केवल काया मंजन में इतने प्रयत्न की आवश्यकता है। ४३—वासना रहित न होने के कारण विरक्तों की श्रेणी में नाम लिखवाकर फिर व्यवहार-प्रपंच में पड़ गये। ४४—हठयोगी साक्षात् राम को नहीं भजते हैं। अतएव (शून्य में समाधि लगाते हुए) अन्त में पछताते हैं। ४५—केवल वेष बनाने से मुक्ति नहीं मिलती है। ४६—बांटन हारा=जीवात्मा 'गुरु' साहब (ईश्वर) से 'खांड' माया को प्रिय मानता है इस कारण 'षोडश कलात्मक एष पुरुषः' इस श्रुति के अनुसार प्राणादिक सोलह बन्धन में पड़ गया।

ॐ छन्द गीता, १४, १२, विश्राम। + छन्द दोही १५। ११ विराम।

बांटन हारा लोभिया, गुरते मीठी खाँड ॥ ४७ ॥
मल्यागिर[४७] की बासमें, वृच्छ रहे सब गोय।
कहवे को चन्दन भये, मल्यागिर ना होय ॥ ४८ ॥
मल्यागिर[४८] की बास में बेधे ढाक पलास।
बेना कबहुँ न बेधिया जुग जुग रहते पास ॥ ४९ ॥
चलते[४९] चलते पगु थका, नगर रहा नौ कोस।
बीचहि में डेरा परा कहहु कवन का दोस ॥ ५० ॥
झालि[५०] परे दिन आथये, अन्तर परगई साँझ।
बहुत रसिक के लागते, बेस्वा रहि गइ बांझ ॥ ५१ ॥
मन[५१] कहे कब जाइये, चित कहे कब जाव।
छौ मांस के हींडते, आध कोस पर गांव ॥ ५२ ॥
गृह[५२] तजि ऊदासी भये, बन खंड तप को जाय।
चोली थाकी मारिया, बेरइ चुनि चुनि खाय ॥ ५३ ॥
राम[५३] नाम जिन चीन्हिया, झीना पंजर तासु।
नैन न आवै नीन्दरी, अंग न जामें मांसु ॥ ५४ ॥
जो[५४] जन भीजै राम रस, बिगसित कबहुँ न रूख।
अनभौ भाव न दरसई, ताको सुख न दुःख ॥ ५५ ॥

४७—योगानुष्ठान से सिद्धि प्राप्त होने पर भी मुक्ति नहीं मिल सकती है। ४८—शून्य हृदय वाले को उपदेश नहीं लग सकता है। ४९—अमर पद अन्तःकरण चतुष्टय और पंचतन्मात्राओं से परे हैं। ५०—अनात्मोपासना विफल होगई। ५१—जिस मुक्ति पद के लिये व्यग्रता से षट्शास्त्रों का मंथन किया जाता है वह माया से परे है। ५२—कच्चा वैराग्य नष्ट हो जाता है ५३—पूरे ज्ञानियों का शरीर-अध्यास मिट जाता है। ५४—आत्माराम सदा प्रसन्न रहते हैं एवं संकल्प रहित होने

काटे[५५] आम न मौरसी, फाटे जुटे न कान।
गोरख पारस परस बिनु, कवने को नुकसान ॥ ५६ ॥
पारस-रूपी[५६] जीव है, लोह रूप संसार।
पारस ते परसी भया, परसि भया टकसार ॥ ५७ ॥
प्रेम[५७] पाटका चोलना, पहिरि कबीरा नाच।
पानिप दोन्हौं तासु को, तनमन बोलै सांच ॥ ५८ ॥
दरपन[५८] केरी गुफा में, सुनहा पैठा धाय।
देखि प्रतीमा आपनो, भूँकि भूँकि मरि जाय ॥५९॥
दरपन[५९] प्रतिबिंब देखिये जौं, आपु दुहुँन मा सोय।
या ततते वा तत्त है, पुनि याही है सोय ॥६०॥
जोबन[६०]—सायर मूझते, रसिया-लाल कराहिँ।
अब कबीर पांजी परे, पंथी आवहिं जाहिँ ॥६१॥
दोहरा[६१] तो नूतन भया, पदहिँ न चीन्है कोय।
जिन यह शब्द विवेकिया, छत्र धनी है सोय ॥६२॥
कबीर[६२] जात पुकारिया, चढि चन्दन की डार।
बाट लगाये ना लगे, पुनि का लेत हमार ॥ ६३ ॥
सबते[६३] साँचा है भला, जो साँचा दिल होय।

से द्वन्द रहित रहते हैं। ५५—ज्ञान खड्ग से कामना रूपी आम को काटने पर वह नहीं फलता और मन को विवेक द्वारा अलग कर न देने से फिर वह संसार से नहीं जुटता। ५६—सद्गुरु के उपदेशों को धारण करने से जीव निर्विकार होता है। ५७—पानिप=सुयश। ५८—प्रेम और सत्यता को धारण करो। ५९—अपनी कल्पनाओं से प्रपंच फैलता है। ६०—प्रेम की नई पीर असह्य होती है। 'पाँजी' रास्ता। ६१—अज्ञानियों के नये २ जन्म होते रहते हैं और जो निज पद को पहिचानते हैं वे मुक्त हो जाते हैं। 'छत्रधनी 'छत्रपति। ६२—नरतन धरकर कबीर

सांच बिना सुख नाहिना, कोटि करे जो कोय ॥६४॥
साँचा[६४] सौदा कीजिये, अपने मन में जानि।
साँचे हीरा पाइये, झूठे मूलहु हानि ॥६५॥
सुकृत[६५] ! बचन मानैं नहीं, आपु न करैं बिचार।
कहहिं कबीर पुकारि के, सपने गया संसार ॥६६॥
आगि[६६] जो लागि समुद्र में, धुँवा न परगट होय।
जाने सो जो जरि मुवा, जाकी लाई होय ॥६७॥
लाई[६७] लावनहार* की, जाकी लाई पर जरे।
बलिहारी लावनहार की, छप्पर बाँचे घर जरे ॥६८॥
बुन्द[६८] जो परी समुँद में, सो जानत सब कोय।
समुंद समाना बुन्द में, जाने बिरला कोय ॥६९॥
जहर[६९] जिमी दै रोपिया, अमी सिंचे सौ बार।
कबीर खलक ना तजे, जामें जौन बिचार ॥७०॥
धौंकी[७०] डाही लाकड़ी, ऊभी करे पुकार।
मति बसि परो लुहार के, डाहे दूजी बार ॥७१॥

गुरु उपदेश दिये जाते हैं। ६३—सत्य से साहब मिलते हैं। ६४—'हीरा' गुरुपद। ६५—हे सुकृत ! संसारी लोग मेरे उपदेश को नहीं मानते। और स्वयं भी विचार नहीं करते। संसार सपने की तरह चला जा रहा है। ६६—संसार में कामनाग्नि जल रही है। ६७—जीव स्वयं कामनाग्नि को प्रज्वलित करता है। उक्ताग्नि से 'छप्पर' रक्षक (आत्मा) बच जाता है परन्तु 'घर' शरीरादिक संघात नष्ट हो जाते हैं। 'लाई' अग्नि। ६८—'बुन्द' जीव। 'समुंद' ईश्वर या संसार। जीव के हृदयों में कल्पना रूप से संसार समाया हुआ है। ६९—अज्ञों के हृदयों में विषय कामना भरी हुई है इससे वे तत्वोपदेश नहीं मानते हैं। ७०—विवेकी लोग वंचक

---

* छन्द 'श्याम उल्लास'।

बिरह[७१] की ओदी लाकड़ी, सपचे औ धुँधुवाय।
दुखते तबहीं बाँचिहो, जब सकलो जरि जाय ॥७२॥

बिरह[७२] बान जेहि लागिया, औषध लगे न ताहि।
सुसुकि सुसुकि मरि मरि जिवे उठे कराहि कराहि ॥७३॥

साँचा[७३] शब्द कबीर का, हृदया देखु विचार।
चित्त दे समुझे नहीं, कहत भयल जुग चार ॥७४॥

जो तू साँचा बानियाँ, साची हाट लगाव।
अन्दर झारू देइ के, कूरा दूरि बहाव ॥७५॥

कोठी[७४] तो है काठ का, ढिग ढिग दीन्ही आग।
पंडित जरि झोली भये; साकट उबरे भाग ॥७६॥

सावन[७५] केरा सेहरा, बुन्द परी असमान।
सब दुनिया वैस्नव भइ, गुरु नहिं लागा कान ॥७७॥

ढिग[७६] बूडा उछरा नहीं, याहि अन्देसा मोहिँ।
सलिल मोहकी धार में, नीन्दरि आई तोहिँ ॥७८॥

साखी[७७] कहै गहे नहीं, चाल चली नहिं जाय।
सलिल मोह नदिया बहे, पाँव नहीं ठहराय ॥७९॥

कहता[७८] तो बहुते मिला, गहना मिला न कोय।
सो कहता बहि जानदे, जो न गहन्ता होय ॥८०॥

गुरुओं से डरते हैं। ७१—विरहाग्नि शरीर को जला देती है। ७२—'औषध' वचनोपदेश। ७३—कबीर गुरु भिन्न भिन्न रूप से चारों युगों में प्रगट हुए हैं। ७४—सब तरफ फैली हुई मायाग्नि में ज्ञानाभिमानी जलगये किन्तु अपठित श्रद्धालु भागकर बच गये। ७५—'सेहरा' वर्षा की झड़। पूरे गुरु नहीं मिले। ७६—तू अपनी कल्पनाओं में आपही डूब गया। ७७—'कथनी तजि करनी करे, विष से अमृत होय' ७८—जो स्वयं सत्यमार्ग पर नहीं है उस की बातें मत मानो,

एक[७९] एक निरुवारिये, जो निरुवारी जाय।
दुइ दुइ मुंख का बोलना, घना तमाचा खाय ॥८१॥

जिभ्या[८०] को तो बन्द दे, बहु बोलन निरुवार।
सो सारथिसे संग करु, गुरुमुखशब्द विचार ॥८२॥

जाके[८१] जिभ्या बन्ध नहिं, हृदया नाहीं साँच।
ताके संग न लागिये, घाले बटिया माँझ ॥८३॥

प्रानी[८२] तो जिभ्या डिगा, छिन छिन बोल कुबोल।
मन घाले भरमत फिरे, कालहि देत हिँडोल ॥८४॥

हिलगी[८३] भाल शरीर में, तीर रहा है टूट।
चुम्बक बिना न नीकरै, कोटि पाहन गे छूट ॥८५॥

आगे[८४] सीढ़ी साँकरी, पाछे चकना चूर।
परदा तरकी सुन्दरी, रही धका दे दूर ॥८६॥

संसारी[८५] समय बिचारि, का गिरिही का जोग।
अवसर मारे जात है, चेतु बिराने लोग ॥८७॥

संसय[८६] सब जग खंधिया, संसय खंधे न कोय।
संसय खंधे सो जना, शब्द विबेकी होय ॥८८॥

७९—पहले स्वयं धारण कर के तब औरों को उपदेश दो। ८०—'सारथी' (सच्चे नेता)। 'पारखी' ऐसा पाठ हो तो विवेकी। ८१—जो दृढ़ प्रतिज्ञा वाला नहीं है वह तुमको बीच रास्ते में दुःख देगा। ८२—जिसके वचन और कार्य निश्चित नहीं है वह काल का खिलौना है। ८३—तत्वोपदेश के बिना भ्रमनिवृत्ति नहीं हो सकती है। ८४—मुक्ति मन्दिर में बिरलाही पैठता है तथा संसार के झमेले से मुक्ति दूर रहती है। ८५—'कबीर नरतन जात है सकै तो ठौर लगाय'। ८६—विवेक और विचार से सब संशय दूर

बोलन[७७] है बहु भांतिका, नैनन किछुउ न सूझ।
कहहिं कबीर पुकारिके, घट घट बानी बूझ ॥८६॥
मूल[७८] गहेते काम है, तैं मति भरम भुलाव।
मन सायर मनसा लहर, बहि कतहूँ मति जाव ॥६०॥
भँवर[८६] बिलम्बे बागमें, बहुत फूलन की बास।
जीव बिलंबे विषय में अन्तहु चले निरास ॥६१॥
भँवर[६०] जाल बगु जाल है, बूड़े बहुत अचेत।
कहहिं कबिर ते बाँचि हैं, जिनके हृदय विबेक ॥६२॥
तीनि[६१] लोक टीडी भये, उड़े जो मनके साथ।
हरि जाने बिनु भटकते, परे कालके हाथ ॥६३॥
नाना[६२] रंग तुरंग हैं, मन मकरन्द असूझ।
कहहिं कबीर पुकारि के, अकिल कला ले बूझ ॥ ६४ ॥
बाजीगर[६३] का बान्दरा, ऐसे जीउ मन साथ।
नाना नाच नचायके, राखे अपने हाथ ॥६५॥
यह[६४] मन चंचल चोर ई, ई मन शुद्ध ठगार।
मनकरि सुरमुनि जहँडिया, मन के लच्छ दुवार ॥६६॥
बिरह[६५] भुवंगम तन डँसो, मन्त्र न मानै कोय।
राम वियोगी ना जिये, जिये तो बाउर होय ॥ ६७ ॥

हो जाते हैं। ८७—लोगों के वचनों को विचार कर ग्रहण करो। ८८—तत्व को पकड़ो और विकल्प नदी में न बहो। ८६—भोगों से तृप्ति नहीं होती है। ६०—माया जाल से विवेकी और धारणाशील ही बचते हैं। ६१—अज्ञानी लोग मन परतंत्र होकर काल के गाल में चले जा रहे हैं। ६२—मनके मल को बुधि के जल से धो डालो। ६३—अज्ञानी लोग पूरी तरह मन के अधीन रहते हैं। ६४—मन पूरा डाकू है इससे सदैव सचेत रहो। ६५—सन्त जगत् से उदास रहते हैं।

रामवियोगी[९६] बिकल तन, इन दुखवो मति कोय।
छुवत हीं मरि जाँयगे, ताला बेली होय ॥ ९८ ॥
बिरह[९७] भुवंगम पैठिके, कीन्ह करेजे घाव।
साधू अंग न मोरहीं, जौं भावे तौं खाव ॥ ९९ ॥
करक[९८] करेजे गडि रही, बचन वृच्छ की फांस।
निकसाये निकसे नहीं, रही सो काहू गाँस ॥१००॥
काला[1] सरप सरीर में खाइनि सब जग झारि
बिरले ते जन बाचि हैं रामहि भजे बिचारि ॥१०१॥
काल[२] खड़ा सिर ऊपरे, जागु बिराने मीत।
जाका घर है गैल मे, सो कस सोय निचिन्त ॥१०२॥
काली[३] काठी कालो घुन, जतन जतन घुन खाय।
काया मध्ये काल बसे, मरम न कोऊ पाय ॥१०३॥
मन[४] माया की कोठरी, तन संसय का कोट।
बिषहर मंत्र न मानई, काल सरप की चोट ॥१०४॥
मन[५] माया तो एक है, माया मनहिँ समाय।
तीन लोक संसय परा, काहि कहूँ समुझाय ॥१०५॥

९६—सन्तों से व्यावहारिक आशा न रक्खो। ९७—अनेक कष्ट आने पर भी सन्तजन रामद्वारे से नहीं हटते हैं। ९८—वक्ताओं के वचनतरु अज्ञानियों के हृदयतल में बद्धमूल हो गये, अतः उनका निर्मूल करना दुष्कर है।

१—अहंकार ने सबों को नष्ट किया है और कर रहा है २—ऐ संसार के प्रेमी तू मोह की मीठी २ नींद को छोड़ कर अपने सूने घर का फिकर कर। ३—घुन की तरह संशय रूपी काल काया काठी (लकड़ी) को धीरे २ खाता रहता है, इस बात को अज्ञानी नहीं जानते हैं। ४—अज्ञानियों को संशय-सांप और भ्रान्ति नागिन ने ऐसा डस लिया है कि वे तत्वोपदेश रूपी गरुड़ मंत्र को भी 'नहीं' सुन सकते हैं अथवा

वेढा[5] दीन्हों खेत को, वेढा खेतहिँ खाय।
तीन लोक संसय परी, काहिं कहौ समुझाय ॥१०६॥

मन[6] सायर मनसा लहरि, बूड़े बहुत अचेत।
कहहिँ कबिर ते बांचिहैं, जिनके हृदय बिबेक ॥१०७॥

सायर[7] बुद्धि बनाय के, बाय बिचच्छन चोर।
सारी दुनिया जहँडि गै, कोइ न लागा ठौर ॥१०८॥

मानुष[8] ह्वै के ना मुवा, मुवा सो डांगर ढोर।
एकौ ठौर न लागिया, भया सो हाथी घोर ॥१०९॥

मानुष[9] तैं बड़ पापिया, अच्छर-गुरुहि न मान।
बार बार बन कूकुही, गरभ धरतु है ध्यान ॥११०॥

मनुष[10] बिचारा का करे, कहे न खुले कपाट।
स्वान चौक बैठाइये, फिर फिर ऐपन चाट ॥१११॥

मनुष[11] बिचारा का करे, जाके सुन्न शरीर।
जे जिव झांकि न ऊपजे, काहु पुकार कबीर ॥११२॥

मानुष[12] जन्महिँ पायके, चूके अब की घाट।
जाय परे भव चक्र में, सहे घनेरी लात ॥११३॥

विषहर[5] विषधर सर्प। गन्दी कोठरी या कोट के सहारे प्रायः सर्प रहा करते हैं। ५—कल्पनाओं से रहित होना ही माया रहित होना है। ६—अज्ञानी लोग माया को रक्षक समझते हैं; वस्तुतः वह भक्षक है। ७—विवेकी जन मन की तरङ्गों में नहीं पड़ते हैं। ८—मन बड़ा चतुर चोर है इसने सारी दुनिया को धोका दिया है। ९—स्वरूप परिचय से कृतकृत्य होकर शरीर को नहीं त्यागा, अतः चौरासी योनियों में चले गये। १०—सत्योपदेश को नहीं मानने वाले भव-चक्र में घूमा करते हैं। ११—जिस प्रकार पूरे हुए चौक में बैठाया हुआ कुत्ता आटे को चाटने लगता है, इसी तरह मूर्ख लोग उपदेशक का तिरस्कार करते हैं। १२—

रतन[१४] (ही) का जतन करु, माटी का सिंगार।
आय कबीरा फिर गया, फीका है हकार ॥११४॥

मनुप[१५] जन्म दुरलभ अहै, हाय न दूजो बार।
पक्का फल जो गिरि परा, बहुरि न लागै डार ॥११५॥

बाँह[१६] मरोरे जात हो, सोवत लिये जगाय।
कहहिं कबीर पुकारिके, ई पिंड ह्वै कि जाय ॥११६॥

साखि[१७] पुरन्दर ढहि परे, बिबि अच्छर जुग चार।
रसना रंभन होत है, कोइ न सके निरुवार ॥११७॥

बेड़ा[१८] बान्धिन सरपका, भवसागर के मांहि।
जो छांड़े तो बूड़ई, गहे तो डसिहै बांहि ॥११८॥

कर[१९]-खोरा खोवा भरा, मग जोहत दिन जाय।
कबिरा उतरा चित्त ते, छांछ दियो नहि जाय ॥११९॥

एक[२०] कहौं*तो है नहीं, दोय कहौं तो गारि।
है जैसा तैसा रहै, कहँहिं कबीर बिचारि ॥१२०॥

अमृत[२१] केरी पूरिया, बहु बिधि दीन्ही छोरि।
आप सरीखा जो मिलै, ताहि पियाऊँ घोरि ॥ १२१ ॥

उपदेशक का क्या दोष है, क्योंकि 'मूरुख हृदय न चेत, जो गुरु मिलै विरंचि सम'। १३—नरतन मुक्ति का द्वार है १४—वेष बनाने में न भूलकर आत्मपरिचय करना चाहिये। १५—त्यागे हुए शरीर में जीवात्मा फिर नहीं आता है। १६—हमको ज्ञान मार्ग पर लाइये। १७—"बानी अरु पानी या का नहीं अन्त"। १८—मनको शुद्धकरके परमार्थपथ पर चलना चाहिये। १९—अधिकारी को बार २ समझाया जाता है अनधिकारी को नहीं, खोरा= कटोरा २०—तत्व का निर्वाच अद्वैत या द्वैत शब्द से नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वह स्वसंवेद्य है। और ये दोनों सापेक्ष हैं, अतः

---

*पाठा०—कहते न बनै।

अमृत[२२] केरी मोटरी, सिरसे धरी उतार।
जाहि कहौं मैं एक है, मोहि कहै दुइ चार॥ १२२॥
जाके[२३] मुनिवर तप करैं; वेद थके गुन गाय।
सोई देउँ सिखापना, कोई नहिं पतिआय॥ १२३॥
एकै[२४] ते अनन्त भौ, अनंत एक ह्वै आय
परचे भई जब एकते, अनँतौ एक समाय॥ १२४॥
एक[२५] शब्द गुरुदेव का, ताका अनँत विचार।
थाके मुनिजन पंडिता, वेद न पावैं पार॥ १२५॥

राउर[२६] को पिछुवार के, गावैं चारिउ सैन।
जीव परा बहु लूटि में, ना किछु लेन न देन॥ १२६॥
चौगोड़ा[२७] * के देखते (ही), व्याधा भागा जाय।
अचरज एक देखो हो सन्तो, मूवा कालहि खाय॥१२७॥

वह जैसा है वैसाही रहै हम उसके विषय में कुछ नहीं कहते हैं। भाव यह है कि जो मनका विषय होता है उसी को वाणी कह सकती है। और तत्व की तो यह महिमा है कि "...तो वाचोनिवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह"। २१—तत्वामृत दैवी सम्पत्तिवाले को ही पिलाया जाता है। २२—लोग विचार नहीं करते हैं। मैं एक ईश्वर (आत्मा) की उपासना का उपदेश देता हूँ तो वे नाना देवताओं की सिद्धि करने लग जाते हैं। २३—मैं हृदय निवासी राम का उपदेश देता हूँ परन्तु लोग नहीं मानते हैं। २४—यह जीवात्मा उपाधि वश एक से अनेक और अनेक से एक होता रहता है। जब अपने स्वरूप का यथार्थ बोध हो जाता है, तब केवल यही रह जाता है। और अनेकता एकता का बखेड़ा दूर हो जाता है। २५—सद्गुरु ने जिस (एक) तत्व का उपदेश दिया है उसी के विचार में सब थक गये हैं। 'नेति नेति' 'अतद्व्यावृत्त्यायं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि'। २६—

* छन्द 'हरिपद'।

तीन[२७] लोक चोरी भई, सब का सरबस लीन्ह।
बिना मूंड का चोरवा, परा न काहू चीन्ह ॥१२८॥
चक्की[२८] चलती देखि के, नैनन आया रोय।
दूइ पट भीतर आय के; साबुत गया न कोय ॥१२९॥
चार[३०] चोर चोरी चले, पगु पनही ऊतार।
चारिउ दर थूनो हनी, पंडित करहु बिचार ॥१३०॥
बलिहारी[३१] वहि दूध की, जामें निकरे घीव।
आधी साखि कबीर की, चारि बेद का जीव ॥१३१॥
बलिहारी[३२] तेहि पुरुष की, परिचित परखनि हार।
साई दीन्हीं खांड की, खारी बोझे गँवार ॥१३२॥
बिप[३३] के बिरवे घर किया, रहः सरप लपटाय।
ताते जियरहिँ डर भया, जागत रैनि बिहाय ॥१३३॥
जो[३४] घर हैगा सरप का, सो घर साधु न होय।
सकल सम्पदा ले गया, विषहरि लागा सोय ॥१३४॥
घूँघूँचि[३५] भर बोईयो' उपजै पसैरी आठ।
डेरा परिया काल का, सॉझ सकारे जात ॥१३५॥

चारों वेद परोक्षरूप से 'तत्व' का निरूपण करते हैं। २७—साधनचतुष्टय—सम्पन्न अधिकारी मन को जीत लेता है। और जीवन्मृतक (मुक्त) काल को जीत लेता है। २८—मन एक रूप से नहीं रहता है अतः यह बिना सिर का चोर है। २९-जन्म और मरण में आने वाला मुक्त नहीं। ३०—विचारहीन नर को मन बुद्धि चित्त और अहंकार चारों योनियों में भटकाते हैं। ३१—'आपा तजो औ हरि भजो, नखसिख तजो बिकार' यह आधी साखी सबों की सार है। ३२—परख कर गुरु करने वाले धन्य हैं। अविवेकी मुक्ति के लिये वंचकों की शरण में जाकर उलटे बन्धन में पड़ जाते हैं। बोझे = बोझ लदना। ३३—जगत् के प्रेमियों प्रेम को काल खा जाता है। ३४—

मन[३६] भरके बोये कबौं, घुघुची भरि नहिं होय।
कहा हमर मानै नहीं अन्तहुँ चले बिगोय ॥ १३६ ॥
आपा[३७] तजै औ हरि भजै, नख सिख तजै बिकार।
सब जिउते निरबैर रहे, साधु मता है सार ॥१३७॥
पछा-पछी[३८] के कारने, सब जग रहा भुलान।
निरपछ होय के हरि भजे, सोई सन्त सुजान ॥१३८॥
बड़[३९] गये बड़ा पने, रोम रोम हंकार।
सत-गुरु के परचे बिना, चारौं बरन चमार ॥ १३९॥
माया[४०] त्यागे का भया, मान तजा नहिं जाय।
जेहि माने मुनिवर ठगे, मान सभनि को खाय ॥१४०॥
मायाकी[४१] झक जग जरै, कनक कामिनी लागि।
कहहि कबिर कस बांचिहो, रुई लपेटी आगि ॥१४१॥
माया[४२] जग सांपिनि भई, बिष ले बैठी बाट।
सब जग फन्दे फन्दिया, चले कबीरउ काछ ॥१४२॥
साँप[४३] बीछि का मंत्र है, माहुर झारे जांय।
बिकट-नारि पाले परे, काढि कलेजा खाय ॥१४३॥

सन्त जगत् से उपराम रहते हैं। ३५—आठ पसेरी का एक मन होता है। भाव यह है कि सूक्ष्म वासना से संकल्पात्मक-मन की सृष्टि होती है। ३६—कामना रहित कर्मों से वासना की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ३७—अपनापन, अहम् भाव। ३८—साम्प्रदायिका निर्मूल रूढ़ियाँ अनर्थ कारक हैं। ३९—'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं नचवयः'। सज्जनों का आदर-सत्कार होना चाहिये, चाहे वे किसी भी जाति के हों। ४०—मान =अहंकार।

४१—धन और नारी की कामना रूपी आग से रूई की तरह अन्दर २ (अपने २ दिलों में) सब के सब जल रहे हैं। ४२—ज्ञानी जन माया से रहित हो जाते हैं। ४३—स्थावर और जंगम सब प्रकार के विष दूर हो

तामस[४४] केरे तीनि गुन, भँवर लेहिं तहँ बास।
एकै डारी तीनि फल, भांटा ऊख कपास ॥१४४॥

मन-[४५]-मतंग गइयर हने, मनसा भई सचान।
जंत्र मंत्र माने नहीं, लागी उड़ि उड़ि खान ॥१४५॥

मन[४६]-गयंद माने नहीं, चले सुरति के साथ।
म्हावत विचारा का करै, अंकुस नाहीं हाथ ॥१४६॥

ई[४७] माया है चूहडी, औ चुहडों की जोय।
बाप पूत अरुझाय के, संग न काहुके होय ॥१४७॥

कनक[४८] कामिनी देखिके, तू मत भूल सुरंग।
बिछुरन मिलन दुहेलरा, कें चुलि तजत भुवंग ॥१४८॥

माया[४९] के बांस* सभी परे हैं, ब्रह्मा बिस्नु महेस।
नारद सारद सनक सनन्दन, गौरीपूत गणेस ॥१४९॥

सकते हैं, परन्तु विषय रूपी विष के खाने से कदापि नहीं बच सकते। ४४—ये सब सुक् चन्दन और वनितारूपी-कुसुमोद्यान तमः प्रधान पंचतत्वो की रचना होने के कारण त्रिगुणात्मक हैं, जिनके गन्धमात्र से मन-मिलिन्द सदैव मतवाला बना रहता है। और माया रूपी डाली ऐसी विचित्र है कि उसमें परस्परविरुद्ध सुख दुःख और मोह स्वभाव वाले सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण रूपी कपास ऊख और भंटे सदैव लगे रहते हैं। 'सत्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृतिः' (साङ्ख्य) ४५-'गैयर' नील गाय (अज्ञानी)। 'सचान' बाज। अनेक प्रयत्न करने पर भी मनवश में नहीं होता है। ४६—ज्ञानांकुश के बिना मन गजेन्द्र अधीन नहीं हो सकता है। ४७—'बाप पूत' ईश्वर और जीव तथा पिता पुत्र। ४८—कनक और कामिनी का संयोग और वियोग दोनों ही, क्षोभ तथा दुःख को उत्पन्न करते हैं, जैसे केंचुल का संयोग और वियोग सर्प को कष्ट देता है। ४९—माया के

---

* छन्द 'हरिपद'।

पिपरि[५०]† एक जो महागभानी ताकर मरम कोइ नहिं जानी।
डार ‡लँभाये कोइ न खाय, खसम अछत बहु पिपरे जाय॥१५०॥
साहू[५१] सेती चोरिया, चोरों सेती सूध।
तब जानहु गे जीयरा, मार परेगी तूझ॥१५१॥
ताकी[५२] पूरी क्यों परे, गुरु न लखाई बाट।
ताको बेड़ा बूड़िहै, फिरि फिरि औघट-घाट॥१५२॥
जाना[५३] नहिं बूझा नहीं, समुझि किया नहि गौन।
अन्धे को अन्धा मिला, राह बतावै कौन॥१५३॥
जाका[५४] गुरु है आंधरा, चेला काह कराय।
अन्धे अन्धा पेलिया, दोऊ कूप पराय॥१५४॥
लोगों[५५] केरि अथाइया, मति कोइ पैठो धाय।
एकहिं खेते चतुर हैं, बाघ गधेरा गाय॥१५५॥
चारि[५६] मास घन बरसिया, अति अपूर्व सर-नीर।
पहिरे जड़-तर बखतरी, चुभै न एकौ तीर॥१५६॥
गुरु[५७] की भेली जिउ डरे, काया सींचन हार।
कुमति कमाई मन बसे, लागि जु वाकी लार॥१५७॥

वशीभूत। ५०—माया रूपी पीपली (पेड़) फैली हुई है, उसकी डाली को किसी प्रकार झुकाने पर भी फल नहीं खाने पाते हैं, क्योंकि उसको शीघ्र ही दूसरे लोग छीन लेते हैं। ५१—सन्तों से दुष्टता और असन्तों से मित्रता करने वाले कठिन-कठिन यमयातनाओं को भोगते हैं। ५२—सद्गुरु-रूपी कर्णधार के बिना नरतनरूपी नौका पार नहीं लग सकती है। ५३—पूरे गुरु के बिना पूरा बोध नहीं होता है। ५४—'अरतिर्जन संसदि' इसके अनुसार दुर्जनों की संगति न करो क्योंकि उनको गुणागुण का विवेक नहीं होता है। ५५—अथाई=पंचायती चबूतरा या बैठका। ५६—वर्षा ऋतु की तरह निरन्तर वचन-बाणों की वर्षा करते रहने पर भी मूर्खों के हृदय में एक

---

† चौपाई। ‡ चोपई।

तन[५८] संसय मन सोनहा, काल अहेरी नित्त।
एकै डांग बसेरवा, कुसल पुछौ का मित्त ॥१५८॥
साहु[५९] चोर चीन्है नहीं, अन्धा मति का हीन।
पारख बिना बिनास है, करु बिचार होहु भीन ॥१५९॥
गुरु[६०] सिकलीगर कीजिये, मनहि मस्कला देय।
सब्द-छोलना छोलिके, चित्त दरपन करि लेय ॥१६०॥
मूरख[६१] के सिखलावते, ज्ञान गाँठिका जाय।
कोइला होय न ऊजरा, सौमन साबुन लाय ॥१६१॥
मूँढ[६२] करमिया मानवा, नख-सिख पाखर आहि।
बाहनहारा का करे, बान न लागे ताहि ॥१६२॥
सेमर[६३] केरा सूवना, छिवले बैठा जाय।
चौंच सवाँरे सिरधुनै, या वाही को भाय ॥१६३॥
सेमर[६४] सुवना बेगि तजु, घनी बिगुरचनि पांख।
ऐसा सेमर सेव जो, हृदया नाहीं आंख ॥१६४॥
सेमर[६५] सुवना सेइया, दुइ ढेंढी की आस।
ढेंढी फूटि चटाक दे, सुवना चला निरास ॥१६५॥

भी बात नहीं गड़ती है क्योंकि वे जड़ता का मजबूत 'बख्तर' (कवच) पहने रहते हैं। ५७—देह के दास गुरु की सेवा से (कुमतिवश) भागते रहते हैं। ५८—डांग, जगल-ससार। अज्ञानी-नर रूपी खरहा को मन रूपीकुत्ता और काल रूपी शिकारी घेरे रहते हैं। ५९—साहु = साहूकार—यहाँ प्रयोजन है साधु से। ६०—सिकलीगर रूपी गुरु सदुपदेश से विकारों को दूर करके शिष्य के चित्त को दर्पण (निर्मल) बना देते हैं। ६१—दुराग्रही (हठी) को ज्ञान नहीं हो सकता है। ६२—उक्त-मूढ़ नख से शिखा तक मानों पाषाणमय है। अतः उपदेश रूपी बाण उसको छूने भी नहीं पाते हैं, इस में बाण चलाने वाले (गुरु) का क्या दोष है। ६३—घर छोड़ा और मठ बनाया, एक प्रपच से निकले और

लोग[६६] भरोसे कवन के, बैठि रहे अरगाय।
ऐसे जियरहिं जम लुटे, जस मेढ़ेहिं कसाय ॥१६६॥
समुझि[६७] बूझि जड़ हो रहे, बल तजि निरबल होय।
कहैं कबिर ता सन्तका, पला न पकरे कोय ॥१६७॥
हीरा[६८] सोइ सराहिये, सहै घनन की चोट।
कपट कुरंगी मानवा, परिखत निकरा खोट ॥१६८॥
हरि[६९] हीरा जन जौहरी, सबन पसारी हाट।
जब आवे जन जौंहरी, तब हीरों की साट ॥१६९॥
हीरा[७०] तहाँ न खोलिये, जहँ कुँजरों की हाट।
सहजै गांठो बाँधिके, लगिये अपनी बाट ॥१७०॥
हीरा[७१] परा बजार में, रहा छार लपटाय।
मूरुख था सो बहिगया, पारखि लिया उठाय ॥१७१॥
हीरों[७२] की ओवरी नहीं, मल्या गिर नहिं पाँति।
सिंहों के लहँड़ा नहीं, साधु न चलै जमाति ॥१७२॥
अपने[७३] अपने सिरों का, सबन लीन्ह है मान।
हरि की बात दुरन्तरी, परी न काहू जान ॥१७३॥

दूसरे प्रपंच में पड़ गये। ६४—असार माया प्रपंच को जल्दी छोड़ो। ६५—'ढेंढी' सेमर के पक्के फल (थोड़ा सा मुख, और मस्तक) 'सुगना' (जीवात्मा) ६६—'उद्धरेदात्मनात्मानम्' इसके अनुसार अपना कल्याण अपने ही आचरणों पर निर्भर है। मेंढा=भेड़ा। ६७—'जडवल्लोकमाचरेत्' इसके अनुसार सर्वथा अहंकार रहित और परम उदास रहना सन्तों के लक्षण हैं। ६८—अनेक यातनाओं के उपस्थित होने पर भी जो अपने निश्चय से विचलित नहीं होते हैं, वे ही नर 'रत्न' हैं। ६९—विवेकी ही हरिपद की खोज करते हैं। ७०—अविवेकियों को गूढ तत्व का उपदेश देना व्यर्थ है। ७१—प्रपंच-पंक में सने हुए आत्मरत्न को विवेकी लोग विचार-वारि से धोकर सुरक्षित कर लेते हैं। ७२—'लहँड़ा' झुंड।

हाड़[७४] जरै जस लाकड़ी, केस जरैं जस घास।
कबिरा जरै राम रस, (जस) कोठी जरै कपास ॥१७४॥
घाट[७५] भुलाना बाट बिनु, भेख भुलाना कान।
जाकी मांडी जगत में, सो न परा पहिचान ॥१७५॥
मूरुख[७६] से का बोलिये, सठ से काह बसाय।
पाहन मे का मारिये, चोखा तीर नसाय ॥१७६॥
जैसे[७७] गोली गुमुज की, नीच परी ढहराय।
तैसा हृदया मूर्ख का, सब्द नहीं ठहराय ॥१७७॥
ऊपर[७८] की दोऊ गई, हियहुकि गई हिराय।
कहँहिं कबिर चारिउ गईं, ताको काह उपाय ॥१७८॥
केते[७९] दिन ऐसे गये, अनरूचे का नेह।
ऊसर बोय न ऊपजे, अति घन बरसे मेह ॥१७९॥

मैं[८०] रोवौं एहि जगत को, मोको रोव न कोय।
मोको रोवै सो जना, सब्द बिबेकी होय ॥१८०॥
साहब[८१] साहब सब कहैं, मोहि अँदेसा और।
साहब से परचै नहीं, बैठो गे केहि ठौर ॥१८१॥
जिव[८२] बिनु जिव जीवै नहीं, जिव का जीव अधार।
जीव दया करि पालिये, पंडित करहु बिचार ॥१८२॥

'ओवरी' तहखाना। सच्चे साधु विरले हैं। ७३—सब अपने-अपने मतों को पुष्ट करते हैं परन्तु 'तत्व' मत को कोई नहीं बताता है। ७४—राम वियोगी (प्रेमी) प्रेमाग्नि से कपास की तरह धीरे-धीरे जलते रहते हैं। ७५—सत्यमार्ग के न जानने से निजपद को भूल गये। और वेषधारी मर्यादा में भूल गये। अतः जिसकी यह तुच्छ माया फैली हुई है उसको न पहचान सके। ७६—मुरुख=बेवकूफ, अज्ञानी। ७७—जैसे मंदिर आदिकों के शिखर पर (खेलने की) गोली नहीं टिक सकती है, ठीक

हौंतो[३] सबही की कही, मोको कोउ न जान।
तब भी अच्छा, अब भी अच्छा, जुग २ होउँ न आन १८३
प्रगट[४] कहौं तो मारिया, परदा लखै न कोय।
सहना छिपा पयार तर, को कहि बैरी होय ॥१८४॥
देस[५] विदेसे हौं फिरा, मनहीं भरा सुकाल।
जाको ढूंढत हौं फिरौं, ताको परा दुकाल ॥१८५॥
कलि[६] खोटा जग आंधरा, सब्द न मानै कोय।
जाहि कहौं हित आपुना, सो उठि बैरी होय ॥ १८६ ॥
मसि[७] कागद छूयो नहीं, कलम नहीं गही हात।
चारिउ जुग को महातम, मुखहिं जनाई बात ॥१८७॥
फहम[८] आगे* फहम पीछे, फहम बायें डेरी।
फहमै पर जो फहमकिनारे, सोइ फहम है मेरी ॥१८८॥
हद[९] चले सो मानवा, बेहद चले सो साध।
हद बेहद दोऊ तजे, ताकर मता अगाध ॥ १८९ ॥

इसी प्रकार आभिमानोन्नत मूर्खों के हृदयों पर ज्ञान-रत्न नहीं ठहर सकता है। ७८—'हियहुकी' विवेक दृष्टि। ७९—कितने। ८०—'गोना' प्रेम करना। ८१—ब्रह्म; पारब्रह्म। ८२—जिव = जीवन—यहाँ पर ब्रह्म का अर्थ है, ब्रह्म के बिना यह जीव नहीं जीता। ८३—मुक्त-पुरुष सदैव एक रस रहा करते हैं। ८४—मायारूपी परदे के पीछे साक्षी-पुरुष (आत्मा) खड़ा है। चौकीदार। ८५—परम पारखी-तत्व के वेत्ता विरले हैं। ८६—कलियुग, काल। ८७—कबीर 'सहना' साहब ने अपने शिक्षाप्रद वाक्यों को स्वयं लिपिबद्ध नहीं किया है। वे तो सदैव मौखिक-शिक्षा दिया करते थे। ८८—लौकिक कार्यों के लिये भी विचार की बड़ी ही आवश्यकता है। और जो इसके ऊपर (पारमार्थिक) विचार है वह सच्चा विचार है। ८९—विशेष विहित (आश्रमादि) कर्मों का अनुष्ठान करने वाले मनुष्य कहलाते हैं।

---

* छन्द 'सार'।

समुझे[१०] की मति एक है, जिन समुझा सब ठौर।
कहहिं कबिर ये बीच के, बलकहिं और कि और ॥१६०॥
राह[११] बिचारी का करे, पंथि न चलै बिचारि।
आपन मारग छाँडिके, फिरै उजारि उजारि ॥१६१॥
मूवा[१२] है मरि जाहुगे, मुये कि बाजी ढोल।
सपन-सनेही जग भया, महिदानी रहि बोल ॥१६२॥
मूवा[१३] है मरि जाहुगे, बिन सर थोथो भाल।
परा कलहारे बृच्छतर, आजु मरै की काल ॥१६३॥
बोली[१४] हमरी पूरबकी, हमै लखै नहिं कोय।
हमको तो सोई लखै, धुर पूरब का होय ॥१६४॥
जेहि[१५] चलते खंदे परा, धरती होत बेहाल।
सो सँवत घामें जरै, पडित करहु बिचार ॥१६५॥
पांयन[१६] पुहुमी नापते, दरिया करते फाल।

और काम्य-कर्मों के त्यागी साधु (सन्यासी) कहलाते हैं। और जो संग्रह और त्याग दोनों से रहित हैं; उनका मत अगम है। "बलदु मता है सन्त का नहिं सग्रह नहिं त्याग" "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरता कोविधिः कोनिषेध."। ६०—'सो सयाने एक मत' 'बलकना' बिना समझे कहना।

६१—यदि मतानुयायी पूरी तरह निज धर्मों का पालन नहीं करते हैं तो इसमें मतों और पथों का क्या दोष है। ६२—मरने का डंका बज रहा है (श्वासा क्षीण हो रही है) और सपने की तरह सब चले गये, केवल उनकी कृतियाँ रह गयी हैं। 'सब चलि जैहैं ऊधो! बातें रहि जैहैं"। ६३—वंचकों के निःसार मिथ्या वचन रूपी बाणों से पराहत होकर तुम संसार तरु के नीचे पड़े हुए क्यों कराहते (पछताते) हो। अब तुम नहीं बच सकते। 'अब तोर होय नरक महँ बासा। निसुदिन बसेउ लबारै पासा'। ६४—'बोली' भाषा और उपदेश। 'पूरब' देश और आत्मा। हमारे आत्मिक को आत्मीय ही समझ सकता है। ६५—काल की प्रबलता-

हाथन परबत तौलते, ते धरि खायो काल ॥१९६॥
नौ[९७] मन दूध बटोरिके, टिपके किया बिनास।
दूध फाटि काँजी भया, हूवा घृत का नास ॥१९७॥
कितनु[९८] मनाऊँ पाँव परि, कितनु मनाऊँ रोय।
हिन्दू पूजै देवता, तुरुक न काहू होय ॥१९८॥
मानुष[९९] केरा गुन बड़ा, मांसु न आवै काज।
हाड़ न होते आभरण, तुचा न बाजन बाज ॥ १९९ ॥
जो[१००] मोहिं जानै ताकि मैं जानौ लोक बेदका कहा न मानौं ॥२००॥
सबकी[१] उतपति धरनि से, सब जीवन प्रतिपाल।
धरति न जाने आप गुन, ऐसा गुरू बिचार ॥ २०१ ॥
धरती[२]* जो जानति आप गुन, कधी न होती डोल।
तिल तिल बढ़ि गारू भई, होति ठिकों की मोल ॥२०२॥
जहिया[३] किरतम ना हता, धरती हती न नीर।
उतपति परलय ना हता, तब की कहैं कबीर ॥२०३॥

जिन महा-वीरों के चलने से भूकंप हो जाता था, वे भी पराहत होकर धूप में पड़े हुए हैं। ९६—(फाल) एक फरलांग। ९७—जैसे तेज सिरके की एक बून्द नौ मन दूध को भी नष्ट कर (फाड़) देती है, इसी तरह दुष्ट मन नवधा भक्ति के प्रेम को बिगाड़ देता है। ९८—हिन्दू लोग अनेक देवों की उपासना और मुसलमान झूठे आसमानी खुदा की इबादत में भूले रहते हैं। ९९—'आभरण' गहना। १००—'हरि को भजे सो हरि का होय'।

१—ऐसे गुरु बनाना चाहिये जो पृथ्वी से भी अधिक क्षमाशील और स्थिर चित्त हों। २—पृथ्वी यदि पूरी तरह अपने धर्मों का पालन करती तो वह मुक्तात्माओं की तरह सदा अविचल बनी रहती। ३—कबीर साहब ने

---

*छन्द दोहा।

जहाँ[४] बोल तहाँ अच्छर आया।*जहाँ अच्छर तहाँ मनहिं दिढ़ाया।
बोल अबोल एक है सोई*जिनयहलखा सोबिरला होई ॥२०४॥
तौ लगि तारा जगमगैं (सभ) जौ लगि उगै न सूर।
तौ* लगि जीव करमबस[५] डोलै, जौलगि ज्ञान न पूर॥२०५॥
नाम न जाने गाँव का, भूला मारग जाय।
काल गड़ेगा काँटवा, अगमन कसन खुराय ॥२०६॥
संगति कीजै साधु की, हरै[७] अवर कि बियाधि।
ओछी संगति कूर की, आठौं पहर उपाधि ॥२०७॥
संगति से सुख ऊपजे, कूसंगति दुख होय।
कहँहिं कबिर तहाँ जाइये, अपनी संगति होय ॥२०८॥
जैसी लागी ओर से, जैसे निबहै[९] छोर।
कौड़ी कौड़ी जोरि कै, जोरें लच्छ करोर ॥२०९॥
आजु[१०] काल दिन कैक में, अस्थिर नाहि सरीर।
कहँहि कबिर कस राखिहो, काँचे बासन नीर ॥२१०॥
बहु[११] बन्धन ते बाँधिया, एक बिचारा जोव

आदि धर्म का उपदेश दिया है। ४—क्षर, अक्षर, और निरक्षर इन तीनों के तत्व को खूब समझ लेना चाहिये। भूतों को क्षर और जीवात्मा को अक्षर कहते हैं। (अक्षर के दो अर्थ हैं वर्ण और जीवात्मा) इन दोनों से परे 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' इसके अनुसार (सर्जन-पालनादि करनेवाला) निरक्षर 'ईश्वर' है। जिस प्रकार बोलने और नही बोलने से वर्णों के अक्षर और निरक्षर व्यपदेश होते हैं इसी प्रकार एक ही चेतन की जीवता और ईशता भी सोपाधिक है। फलतः निरुपाधिक 'तत्व' (शुद्ध चेतन, केवल) उक्त तीनो से परे है। अतः उसके साक्षात् होने पर 'बोल अबोल एक है सोई' इस प्रकार दृढ़ निश्चय हो जाता है। "क्षर अक्षर निह अक्षर सारा, ताके आगे वस्तु अपारा"। ५—'जीवो वै प्राण धारणात्"

---

* छन्द हरिपद।

की छूटै बल आपने, की छोड़ावैं पीव ॥२११॥
जिव जनि मारहु बापुरा, सबका एकै प्रान।
हत्या कबहुँ न छूटि है, कोटिन सुनहु पुरान[१२] ॥ २१२ ॥
जीवघात[१३] ना कीजिये, बहुरि लेत वै कान।
तीरथ गये न बांचिहो, कोटि हिरा देहु दान ॥२१३॥
तीरथ[१४] गये तीनि जन, चित चंचल मन चोर।
एकौ पाप न काटिया, लादिनि मन दस और ॥२१४॥
तीरथ[१५] गये ते बहि मुये, जूड़े पानि नहाय।
कहहिं कबिर सन्तो सुनो राच्छस ह्वै पछिताय ॥२१५॥
तीरथ[१६] भइ विष बेलरी, रही जुगन जुग छाय।
कबिरन मूल निकन्दिया, क्यों न हलाहल खाय ॥२१६॥
ये[१७] गुनवन्ती बेलरी, तव गुन बरनि न जाय।

इसके अनुसार, कर्म-परतत्र (सोपाधिक) चेतन की जीव संज्ञा है। ६—'खुराना' धीरे धीरे चलना (सावधानी) ७—और। ८—उत्पन्न; प्रकट। ९—निर्वाह। १०—कांचे बासन टिकै न पानी, उड़िगौ हंस काया कुंभिलानी"। ११—बहुत। १२ – कितना ही पुराण क्यों न सुनो।

१३—'कान' आत्म-गौरव (बदला) १४—चंचल-चित्त वाला, चंचल मन वाला, और चोरी करने वाला। १५—ऐसे जो २ मनुष्य तीर्थों में जाते हैं वे केवल अत्याचार करने के कारण मर कर या जीतेजी राक्षस बन जाते हैं। १६—कुकर्मी लोग तीर्थों में भी जाकर या रहकर सदैव कुकर्म किया करते हैं; अतः उन के लिये तीर्थभूमि भी जहरीली बेल बनी हुई है फलतः अपने खोदे हुए जहरकन्द को वे स्वय खाते हैं। 'यः कर्त्ता स एव भोक्ता'। सूचना—मूर्खों का यह अन्ध विश्वास है कि 'घोरातिघोर दुष्कर्मी भी केवल तीर्थ स्थान मात्र से मुक्त हो जाता है' इस अज्ञानता को दूर करते हुए पुंड्यधामों के सदुपयोग के लिये तीर्थों के विषय में कबीर गुरु ने अपने ये शुभ विचार प्रकट किए हैं। 'ताकर जो किछु होय अकाज ताहि दोष, नहीं साहबलाज'। खेद है कि इस अभिप्राय को न जानने

जहँ काटे तहँ हरियरी, सींचेते कुम्हिलाय ॥२१७॥
बेलि[१८] कुढंगी फल बुरो, फुलवा कुबुधि बसाय।
ओर बिनस्टी तूमरी, सरे पात करुवाय ॥२१८॥
पानी[१९] ते अति पातला, धूँवा ते अती झीन।
पवनहु ते ऊतावला, दोस्त कबीरन कीन ॥२१९॥
गुरू[२०] बचन सन्तो सुनो; मति लीजै सिर भार।
हो हजुर ठाढा कहौं, अबतैं समर सँभार ॥२२०॥
ए[२१] करुवाई बेलरी, है करुवा फल तोर।
सिद्ध नाम जब पाइये, बेलि बिछोहा होय ॥२२१॥
सिद्ध[२२] भया तो का भया, चहुँदिसि फूटी बास।
अन्तर बाके बीज है, फिर जामन को आस ॥२२२॥
परदे[२३] पानी ढारिया, सन्तो करहु विचार।

वाले कबीर गुरु पर मिथ्या आक्षेप करते हैं। १७—'गुनवन्ती बेलरी' त्रिगुणात्मिका माया। 'अन इच्छित आवै बरियाई'। १८—यह तितलौकी और माया का श्लिष्ट वर्णन है। 'और विनष्टी' जड़कटी (ईश्वर से हटी हुई) १९—अज्ञानी नर मन के विषम चक्र में पड़ कर चूर २ हो रहे हैं। २०—निरहंकार होकर निर्द्वन्द हो जाओ। २१—इस साखी में 'कचरी' की बेल और माया तथा सींध (उसके पके हुए फल) और सिद्धों का श्लिष्ट वर्णन है। भाव यह है कि जिस प्रकार कच्ची 'कचरी' कड़वी होती है और पकने पर बेल से अलग हो जाती है तथा सुगन्धित और मीठी हो जाती है इसी प्रकार जहरीली स्थूल माया—बल्ली से छूटने वाले सिद्ध (सिद्धियुक्त योगी) कहलाते हैं। २२—यह भी साखी श्लिष्ट (दो अर्थवाली) है जिस प्रकार उक्त 'सींध' में बीज रहने के कारण वह फिर लता रूप में परिणत होकर कड़वी हो जाती है इसी प्रकार सिद्धि प्राप्त होने पर भी (बिना साक्षात् बोध के)

† 'सार' छन्द।

सरमा सरमी पचिमुवा, काल घसीटनि हार ॥२२३॥
आस्ति[२४] कहौं तो कोइ न पतीजे, बिना आस्तिकासिद्धा ।
कहँहि कबीर सुनहु हो सन्तो हीरी हीरा बेधा ॥२२४॥
सोना[२५] सज्जन साधुजन, टूटि जुरैं सौबार ।
दुरजन कुंभ कुम्हारके, एकै धका दरार ॥२२५॥
काजर[२६] केरी कोठरी, बूडत है संसार ।
बलिहारी तेहि पुरुष की पैठिके निकरनिहार ॥२२६॥
काजर[२७] ही की कोठरी, काजर ही का कोट ।
तोंदी कारी ना भई, रही जो ओटहि ओट ॥२२७॥
अरब[२८] खरब लों दरब है, उदय अस्तलों राज ।
भक्ति महातम ना तुले, ई सभ कौने काज ॥२२८॥
मच्छ[२९] बिकाने सब चले, धीमर के दरबार ।
अँखियां रतनारी तेरी, क्यों करि पहिरा जाल ॥२२९॥
पानी[३०] भीतर घर किया, सेजा किया पताल ।
पासा परा करीम का, ताते पहिरा जाल ॥२३०॥

ासनांकुर के कारण योग भ्रष्ट होकर 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टो-भिजायते) के अनुसार हठ योगी फिर जन्म लेते हैं। २३—वंचकों के ाष्य गुरूपदेश को प्रकट नहीं करते हैं। और छोड़ते भी नहीं अतएव ट हो जाते हैं। २४—उक्त योगी अनात्मोपासना में लग गये अतः हीरे तरह (वासनारूपी) सूक्ष्म-मायारूपी हीरी (हीर-कणी) ने उनको ा दिया। २५—साधु जन और सज्जन सोना है जो सौ बार टूटने पर जुड़ जाते हैं, दुर्जन कुम्हार के घड़े हैं जिनमें एक धक्का लगने से दरार हो जाती है अर्थात् चिटक जाते हैं। २६—'काजर की कोठरी' ा। २७—आत्माकारवृत्ति माया कलंक से बच जाती है। २८—भक्ति : दायिनी है। और भोग बन्धन कारक हैं। २९—ये मत्स्यान्योक्तियां

मच्छ[३१] होय नहिं बांचि हो, धीमर तेरो काल।
जेहि जेहि डाबर तुम फिरो, तहँ तहँ मेलै जाल ॥२३१॥
बिनु[३२] रसरी गर सब बंधे, तासो बँधा अलेख।
दीन्हो दरपन हस्त में, चसम बिना का देख ॥२३२॥
समुझाये समझै नहीं, पर हाथ आपु बिकाय।
मैं खेंचत हौं आपको, चला सो जमपुर जाय ॥२३३॥
नित[३३] खरसान लोह घुन छूटै।
नितकी गोस्टि माया मोह टूटै ॥२३४॥
लोहा[३४] केरी नावरी, पाहन गरुवा भार।
सिर पर विष की मोटरी, उतरन चाहै पार ॥२३५॥

हैं। संसार-सागर में बिहरने वाले मूढनर-मत्स्य यमके (कर्म या) माया जाल में फंस जाते हैं ३०—यहाँ पर करीम से कर्म विवक्षित हैं, ईश्वर नहीं 'करम का पासा डारा' (बीजक) ३१ —ऐ जीव ! तू नाना विषय रूपी अल्पसरोवरों (पोखरों) का मच्छ न बन, क्योंकि काल रूपी धीमर सब जगह अपना जाल फैलाता है। दूसरा अर्थ मीन मार्ग को अवलम्बन करने वाले योगियों के पक्ष में है। भावार्थ—'यतो यतोनिश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशंनयेत्' (गीता)। ३२—कबीर साहब कहते हैं कि अज्ञानियों का मन बिना रस्सी के मिथ्या आशा से बँधा हुआ है। मैंने स्वरूप परिचय के लिये ज्ञानरूपी दर्पण सबों को दिया है, परन्तु विवेक-दृष्टि के बिना वे लोग अपने आपको नहीं देख सकते हैं। ३३—कबीरदास जी कहते हैं कि खरसने अर्थात् रगड़ने से मुर्चा लोहे का जिस प्रकार छूटता है उसी प्रकार गोष्ठी करने से माया का बंधन कटता है। ३४—यह महा आश्चर्य है कि अज्ञानी जन अज्ञानता रूपी लोहे की नौका पर एषणा त्रय का भारी बोझा लादकर और अपने सिरों पर विषयों की भारी २ मोटरियाँ लेकर संसार समुद्र से पार उतरना चाहते हैं। ३५—यदि पांडवों को यथार्थ बोध होता तो हिमालय में जाकर

किसुन[३५] समीपी पंडवा, गले हिंवारे जाय।
लोहा[३६] को पारस मिले, काहे काई खाय ॥२३६॥
पूरब[३७] उगि पच्छिम अथै, भखै पवन के फूल।
ताहू को राहू ग्रसै, मानुष काहे को भूल ॥२३७॥
नैनन[३८] आगे मन बसे, पलक पलक करे दौर।
तीन लोक मन भूप है, मन पूजा सभ ठौर ॥२३८॥
मन[३९] सारथि आपहि रसिक, विषय लहर फहराय।
मनके चलाये तन चले, ताते सरबस जाय ॥२३९॥
कैसी[४०]* गति संसार की, ज्यों गाडर का ठाठ।
एक परा जो गाड में, सबै गाड में जात ॥२४०॥
मारग तो अति कठिन है, वहाँ कोइ मति जाय।
गये ते बहुरे नहीं, कुसल कहे को आय ॥२४१॥
मारी[४१] मरे कुसंग की, केरा साथे बेर।
वै हाले वै चींघरे, बिधिनै संग निबेर ॥२४२॥

न गलते। ३६—जब आत्मा को परमात्मा मिल जाता है तो काई रूपी माया उसे नहीं खाती। ३७—सूर्य्य को केवल पवन का आधार है, तथापि राहू का आक्रमण उस पर सदैव हुआ करता है तो भला प्राणोपासक योगियों का अन्तक अन्त क्यों न करेगा। ३८—जाग्रत अवस्था में मन (निरंजन) का नेत्रों में निवास रहता है। और पल पल में दौड़ता रहता है। ३९—रसिकों का मन सारथी रूप है और वे स्वयं रथी (सवारी करने वाले) हैं। और उनका तन रथ है जिसमें कि विषय की ध्वजा फहराती रहती है। मनसारथी कुमार्ग से उक्त रथ को ले जाता है इस कारण जीवात्मा का ज्ञान रूपी धन छिन जाता है। ४०—गाडर का ठाट भेड़ों का झुंड। गाड=गड्ढा। यहाँ पर काशी

पाठा०—* क० पु० कासागति संसार की।

केरा तबहिं न चेतिया, जब ढिंग लागो बेर।
अब के चेते का भया, कांटन लीन्हा घेर ॥२४३॥
जीव[४२] मरम जाने नहीं, अन्ध भया सब जाय।
वादी दाद न पावई, जनम जनम पछिताय ॥२४४॥
जाको[४३] सतगुरु ना मिला, व्याकुल दहुँदिसि धाय।
आँखि न सूझै बावरा, घर जरे घूर बुताय ॥२४५॥
वस्तु कहीं खोजे कहीं, क्यों कर आवे हाथ।
ज्ञानी सोइ सराहिये, पारख राखे साथ ॥ २४६ ॥
मुनिये*[४४] सबकी (बारता) निबेरिये अपनी।
सेंदूरे का सिधौरा, झपनी की झपनी ॥२४७॥
बाजन्दे बाजन्तरी, कल-कुकुही मति छेड़।
तुझे बिरानी का परी, अपनी आप निबेर ॥२४८॥
गावै†[४५] कथै विचारे नाहीं, अन जाने का दोहा।
कहहिं कबिर पारस (परसे) बिनु पाहन भीतर लोहा ॥२४६॥

गति ऐसा प्राचीन पाठ है। ४१—बेर के पेड़ के पास लगे हुए केला की तरह कुसंग से मति नष्ट हो जाती है, अतः कल्याण चाहने वालों को पहले ही सावधान रहना चाहिये। ४२—दुराग्रही मतवादी जीव के स्वरूप को न समझ कर विवाद करते हैं अतः वे प्रशंसा के योग्य नहीं है। ४३—हृदय त्रितापाग्नि से जलता रहता है, तथापि शारीरिक सुखों में भूले रहते हैं। ४४—हृदय निवासी राम बाहर ढूंढने से नहीं मिल सकते हैं। ज्ञानी वही है जो विवेक से काम लेता है। ४५—जिस प्रकार दर्पण को ढाँकने के लिए विचित्र चाल का बना हुआ ढक्कन सिन्दूर दान (सिन्धौरा) और ढक्कन दो नाम वाला होने पर भी वस्तुतः ढक्कन ही है। इसी प्रकार सबों से सहमत रहते हुए भी अपनी बुद्धि को स्वतन्त्र रखना चाहिये।

---

* 'अवतार' छन्द। सम में १० और विषम में १३ मात्रा। † 'सार' छन्द

प्रथम[४७] एक जो हौं किया, भया सो बारह बाट।
कसत कसौटी न टिका, पीतर भया निदान ॥२५०॥
कबिरन[४८] भक्ति बिगारिया, कंकर पत्थर धोय।
अन्तर में विष राखि के, अमृत डारिनि खोय ॥२५१॥
रही[४९] एककी* भई अनेककी, बेस्या बहुत भतारी।
कहहिं कबिर काके संग जरिहै, बहु पुरुषन की नारी ॥२५२॥
तन[५०] बोहित मन काग है (यह) लख जोजन उड़ि जाय।

'बुद्धौ शरणमन्विच्छ'। ४६—जो सदैव वेदादिक वाणियों का गायन और कथा तो किया करते हैं परन्तु उन को विचारने का कभी कष्ट नहीं करते, उनके लिये वेदादिक अज्ञातार्थ दोहे की तरह (निष्फल) हैं। और उनका हृदय इस प्रकार विकृत रह जाता है जैसे पत्थर के अन्दर रहा हुआ लोहा पारस के न छूने से लोहा ही रह जाता है। ४७—पहली साखी में यह प्रसग लिख दिया गया है।

भावार्थ—जीवात्मा रूपी नकली सोना निज रूप कसौटी पर न टिक सका, इस कारण पीतल ठहराया गया। बारहबाट=तीनतेरह (बेकाबू) ४८—अज्ञानियो ने भक्ति के तत्व को नहीं समझा इस कारण उन्होंने चेतनात्मा की सेवारूपी अमृत को ठुकराकर जड़ पूजा रूपी हलाहल को पी लिया। ४९—नाना देवोपासक बारबनिता के समान हैं। ५०—अज्ञानियों के मन की दशा का वर्णन—संसार समुद्र में चलते हुए तन रूपी जहाज पर मनरूपी कौवा बैठा रहता है। वह कभी तो प्रपंचपरायण होकर भौतिक समुन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है और कभी उससे उपराम होकर कर्म और उपासना के अनन्त मार्ग में उड़ते २ थक जाता है। अनन्तर वासना रूपी क्षुधा से पीड़ित होकर उसी जहाज पर आ बैठता है। (अर्थात् अध्यास वश पुनः शरीराकार वृत्ति हो जाती है) भाव यह है कि आत्मज्ञान के बिना आत्मकार वृत्ति नहीं हो सकती है। चुम्बक का

* छन्द 'सार'।

कबहिंके भरमे अगम दरिया, कबहुँ क गगन रहाय॥२५३॥

ज्ञान* रतन की कोठरी, चुंबक दीन्हौ ताल।
पारखि आगे खोलिये, कुंजी बचन रसाल ॥२५४॥

सुरग[५१] पतालके बीच में, दुई तुमरिया बद्ध।
षटदरसन संसय परी, लख चौरासी सिद्ध ॥२५५॥

सकलो दुरमति दूरि करु, अच्छा जनम बनाव।
काग कौन गति छांड़िके, हँस गौन चलि आव ॥२५६॥

जैसी कहैं करैं पुनि तैसी, राग दोष निरुबारे।
तामें घटै बढ़ै रतियो नहिं यहि विधि आपु सँवारै ॥२५७॥

ठारे[५२] तेरे रामजी, मिलहु कबीरा मोंहि।
तैं तो सभसों मिलि रहा, मैं न मिलूँगा तोहि ॥२५८॥

भरम बढ़ा तिहुँ लोक में, भरम मंडा सब ठांव।
कहहिं कबीर पुकारिके, बसेउ भरम के गाँव ॥२५९॥

रतन[५३] अडाइनि रेत में, कंकर चुनि चुनि खाय।
कहहिं कबीर अवसर बिते, बहुरि चले पछिताय ॥२६०॥

जेते पत्र बनासपति, औ गंगा की रेन।
पँडित विचारा का कहै, कबिर कही मुख बैन ॥२६१॥

ताला बहुत मजबूत होता है। ५१—स्वर्ग से पाताल तक माया और अविद्या फैली हुई है और इन्हीं के फेर में सब पड़े हैं। ५२—हे रामजी मैं आपके दर्शनों की इच्छा से हृदय-मंदिर के द्वार पर चिरकाल से खड़ा हुआ हूँ, अतः मुझको यहीं प्रकट होकर दर्शन दीजिये। ५३—ऐ अज्ञानी हंस! तू सद्गुण रूपी मोतियों को रेत में मिलाकर दुर्गुण रूपी कंकरियों को चुन २ कर खा रहा है।

---

* छन्द 'हरिपद'।

हौं[५४] जाना कुल हंस हो, ताते कीन्हा संग।
जो जानत बगु बावरा, छुवे न देतेउँ अंग ॥२६२॥
गुनिया तो गुनहीं कहै, निर्गुन गुनहि धिनाय।
बैलहिं दीजे जायफर, का बूझे का खाय ॥२६३॥
अहिरहु[५५] तजि खसमहुँ तजी, बिना दाँत की ढोर।
मुक्ति परी बिललात है, बृन्दाबन की खोर ॥२६४॥
मुखकी मीठी जो कहै, हृदया है मति आन।
कहँहि कबिर ता लोगसे, तैसहिं राम सयान ॥२६५॥
इतते[५६] सब कोई गये, भार लदाय लदाय।
उतते कोइ न आइया, जासों पूछिये धाय ॥२६६॥
भक्ति पियारी रामकी, जैसि पियारी आग।
सारा पट्टन जरि मुवा, बहुरि ले आवे माँग ॥ २६७ ॥
नारि कहावे पीवकी, रहै अवर सँग सोय।
जार मीत हृदया बसे, खसम खुसी क्यों होय ॥२६८॥
सज्जन से दुरजन भया, सुनि काहू के बोल।
कांसा तामा होय रहा, *नहिं हिरन्य का मोल ॥२६९॥

५४—'आइ थी मैं भगत जान, जगत देखि गोई' (मीराबाई) ५५—बृज-वासियों की धारणा। बूढ़े ढोर (पशु) की तरह मुक्ति तो बृन्दावन की गलियों में अनाथ बनकर पड़ी रहती है। भाव यह है कि बृजवासी मुक्ति नहीं चाहते हैं, किन्तु प्रति जन्म में बृज के सियार होकर रहना चाहते हैं। ५६—'साधन-धाम मोक्षकर द्वारा' तथा 'स्वर्ग नर्क अपवर्ग निसेनी' इत्यादि कथन के अनुसार नरतन कर्म भूमि होने के कारण स्वर्गादि फलों का देने वाला है। इस कारण यहीं से देवतादिक बन कर स्वर्गादिकों को जाते हैं किन्तु स्वर्ग से देवतादिक बनकर यहाँ पर कोई नहीं आता है। फलतः नरतन को सुधारना चाहिये।

पाठां०—*हता ठिकों।

बिरहिन साजी आरती, दरसन दीजे राम।
मूये दरसन देहुगे, आवे कवने काम ॥२७०॥
पलमें[५७] परलै बीतिया, लोगन लागु तँवारि।
आगल सोच निवारिके, पाछलकरहु गोहारि ॥२७१॥
एक[५८] समाना सकल में, सकल समाना ताहिँ।
कबिर समाना बूझ में, जहाँ दूसरा नाहि ॥२७२॥
इक[५९] साधे सब साधिया, सब साधे इक जाय।
जैसे सींचे मूलको, फूले फले अघाय ॥२७३॥
जेहि[६०] बन सिंघ न संचरे, पंछी ना उड़ि जाय।
सो बन कबिरन हींडिया, सुन्नसमाधि लगाय ॥२७४॥
सांच[६१] कहौं तो मारिया, झूठहिं लागु पियारि।
मो सिर ढारे ढेंकुली, सींचै और कियारि ॥२७५॥
बोली तो अनमोल है, जो कोइ बोले जान।
हिये तराजू तौलिके, तब मुख बाहर आन ॥२७६॥
करु[६२] बहियाँ बल आपनी, छाडु बिरानी आस।
जाके नदिया आँगने, सो कस मरे पियास ॥२७७॥

५७—तर्वारा-चक्कर (भ्रम) भविष्यत् की कल्पनाओं को छोड़कर पहले किये हुए कामों पर पश्चात्ताप करो और वर्तमान के कार्यों को सुधारो। ५८—एक आत्मा सब में समाया हुआ है और सब उसके आश्रित हैं। कबीर=मुक्तात्मा, ज्ञान में समा गये, क्योंकि ज्ञान में द्वैत भाव नहीं रहता। ५९—इक=आत्मदेव। सब=नानादेव। ६०—हठयोगियों की दशा। जेहिबन=असत्कल्पना में। सिंह—जीवात्मा। पंछी=मन। न उड़िजाय=स्वेच्छा से नहीं जा सकता है। ६१—ढेंकुल या ढेंकी से कियारी सींची जाती है। कबीर साहब कहते हैं कि मेरे नाम का वेष

वोतो[६२] वैसे ही हुवा, तू मत होहु अयान।
वो निरगुन गुनवन्त तू, मत एकहि में सान ॥२७८॥
जो मतवारे[६३] राम के, मगन होहिं मन माहिं।
ज्यों दरपन की सुन्दरी, गहे न आवे बाहिं ॥२७९॥
साधू होना चाहिये, पक्का के संग खेल।
कच्ची सरसों पेरिके, खरी भई नहिं तेल ॥२८०॥
सिंघो[६४] केरी खोलरी, मेंढा बैठा धाय।
बानी ते पहिचानिये सब्दहि देत लखाय ॥२८१॥
जेहि[६५] खोजत कलपौ गये, घटही माँहि सो मूर।
बाढ़ी गरब गुमान ते, ताते परि गइ दूर ॥२८२॥
दस[६७] द्वारे का पींजरा, तामें पंछी पौन।
रहिबे का अचरज अहै, जात अचंभौ कौन ॥२८३॥
रामहि[६८] सुमिरे रन भिरे, फिरे और की गैल।
मानुष केरी खोलरी, ओढि फिरतु है बैल ॥२८४॥
खेत[६९] भला बीजै भला, बोय मुठी का फेर।

बनाकर लोग अपने अपने स्वार्थों को सिद्ध करते हैं। ६२—जिसके हृदय में विवेक धारा बहती है उसको उचित है कि पुरुषार्थ द्वारा अपने आपको स्वतन्त्र करले। ६३—दुष्टों के साथ दुष्ट न बनो। ६४—राम के काल्पनिक रूप का ध्यान करने वाले केवल प्रेम में मग्न रहा करते हैं, परन्तु दर्पण के प्रतिबिम्ब की तरह उससे व्यवहार सिद्धि (मुक्ति आदिक) नहीं हो सकती है।

६५—"जपमाला छापा तिलक, सरे न एको काम। मन काचे नाचे वृथा, साँचे राचे राम"। ६६—राम संजीवन मूरी हृदय में ही है। ६७—तन पींजरे में प्राण पक्षी बैठा हुआ है और पींजरे की दसों खिड़कियाँ सदैव खुली रहती हैं। ६८—राम भक्त कहलाते हैं और लड़ते मरते हैं।

काहे बिरवा रूखरा, ये गुन खेतहिं केर ॥ २८५ ॥
गुरु सीढ़ी ते ऊतरे, शब्द बिमूखा, होय।
ताको काल घसीटि है, राखि सके नहिं कोय ॥२८६॥
भुभुरी[७०] धाम बसे घट माहीं सब कोइ बसे सोग की छाहीं ॥२८७॥
जो[७१] मिलिया सो गुरू मिलिया, सीष न मिलिया कोय।
छ लख छयानवे सहस रमैनी, एक जीव पर होय ॥२८८॥
जहँ[७२] गाहक तहँ हौं नहीं, हौं तहाँ गाहक नाहि।
बिनु बिबेक फटकत फिरे, पकरि सब्द की छांहि ॥२८९॥
नग[७३] पषाण जग सकल है, परखे बिरला कोय।
नगते उत्तम पारखी, जग में बिरला होय ॥२९०॥
सपने[७४] सोया मानवा, खोलि जो देखे नैन।
जीव परा बहु लूट में, ना किछु लेन न देन ॥२९१॥
नष्टहि[७५] का तो राज है, नफर का बरते तेज।
सार-सब्द टकसार है, हृदया माहिं बिबेक ॥२९२॥
जबलग[७६] ढोला तबलग बोला, तोलौं धन व्यवहार।
ढोला फूट बोला गया, कोइ न झांके द्वार ॥२९३॥
कर[७७] बन्दगी बिबेक की, भेख धरे सब कोय।
सो बन्दगि बहि जानदे, सब्द बिबेक न होय ॥२९४॥

६९—अन्तःकरण भी शुद्ध है और वासना भी शुभ है परन्तु साधनों में त्रुटि रहने के कारण पूरी फल सिद्धि नहीं होती है। ७०—भुभुरीघाम = त्रितापाग्नि ॥ ७१—सहस छानवे और छवलाखा, जुग परमान रमैनी भाखा। रमैनी = पद्य। ७२—गाहक सकामी। ७३—नग ज्ञानी। पषान अज्ञानी। ताहि न कहिये पारखी, पाहन लखे जो कोय। नग-नर या दिल में लखे रतन पारखी सोय ७४—अज्ञान निद्रा में पड़ा हुआ यदि वह जागकर विवेक दृष्टि उघारे। ७५—नष्ट = माया नफर = गुलाम। (मन) ७६—ढोला = शरीर। बोला = कहना सुनना। ७७—विवेक पूर्वक सत्कार

सुर नर मुनि औ देवता, सात दीप नौ खंड।
कहहिं कबिर सब भोगिया, देह धरे का दंड ॥२६५॥
जबलग[७८] दिल पर दिल नहीं, तबलग सब सुख नाहिं।
चारिउ जुगन पुकारिया, सो संसै दिल माहिं ॥२६६॥
जंत्र[७९] बजावत हौं सुना, टूटि गये सब तार।
जंत्र विचारा का करे, गया बजावनि हार ॥२६७॥
जो[८०] तू चाहे मुझ को, छांड सकल की आस।
मुझहि ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास ॥२६८॥
साधु[८१] भया तो का भया, बोले नाहिं बिचार।
हते पराई आतमा, जीभ बाँधि तरवार ॥२६९॥
हंसा[८२] के घट भीतरे, बसे सरोवर खोट।
चले गाँव जहवाँ नहीं, तहाँ उठावन कोट ॥३००॥
मधुर वचन है औषधी, कटुक बचन है तीर।
श्रवनद्वार ह्वै संचरे, सालै सकल सरीर ॥३०१॥
ढाढस[८३] है मरजीव को, धाय जुरि पैठि पताल।
जीव अटक माने नहीं, ले गहि निकरा लाल ॥३०२॥

करो केवल भेख देख कर न भूलो। ७८—दिलपर दिल=दृढ़ निश्चय। ७९—जंत्र=अनाहत शब्द आदिक। तार=ईडा, पिंगलादिक। बजावनिहार=जीवात्मा। ८०—मुझको=मालिक को। मुझ जैसा=इच्छा रहित। ८१—तलवार=कुवचन रूपी तलवार। ८२—जीवात्मा का हृदय—सरोवर अज्ञानता के कारण मलिन हो रहा है। इस कारण मिथ्या—कल्पित—मनोरथों की रक्षा में सदैव लगा रहता है।

८३—जिस प्रकार गोताखोर (पनडुब्बे) निर्भय होकर समुद्र के तल में पैठ जाते हैं, और मोतियों को ले आते हैं। इसी प्रकार निरहंकारी (जीवन्मृतक) भी निर्द्वन्द्व होकर आत्मसागर में निमग्न होते हुए परमा-

ई[८४] जग तो जहँडे गया, भया जोग ना भोग।
तिलै झारि कबिरा लिया, तिलठी झारैं लोग ॥३०३॥
ऐ[८५] मरजीवा* अमृत पीवा, का धसि मरसि पतार।
गुरुकी दया साधुकी संगति, निकरि आव यहि द्वार ॥३०४॥
केतेहिं[८६] बुंद हलफों गये, केते गये बिगोय।
एक बुन्द के कारने, मानुष काहेक रोय ॥३०५॥
आगि[८७] जो लागि समुद्र में, टुटि टुटि खसै खोल।
रोवै कबीरा डंफिया, हीरा जरैं अमोल ॥३०६॥
छौ† दर्शन में जो परवाना, तासु नाम बनवारी।
कहहिं कबिर सब खलक सयाना, इनमें हमहिं अनारी॥३०७॥
साँचे साप न लागई, साँचे काल न खाय।
साँचे साँचे जो चले, ताको काह नसाय ॥३०८॥
पूरा साहब सेइये, सब बिधि पूरा होय।
ओछ से नेह लगाय के, मूलहुँ आवै खोय ॥३०९॥

नन्द रूपी रत्नों को लेते रहते हैं। ८४—पूरे अज्ञानियों का जन्म निरर्थक चला जाता है। कर्मी और उपासकों का कार्य प्रशंसनीय है, जो कि स्नेहोत्पादक कर्म और उपासनारूपी तिलों का संचय करते रहते हैं। और विषयी लोग तो निःसार विषयरूपी तिलेठियों के झाड़ने में ही सदा व्यस्त रहते हैं। ८५—हठयोगियों को उपदेश। मरजीवा=(गोताखोर) ८६—आश्वासन। बुन्द—वीर्य-बिन्दु। हलफों गये—शरीर रूप में बदल गये (सच्चे हो गये)। एक बुन्द=पुत्रादिकों का शरीर) ८७—संसार—समुद्र में अज्ञानता रूपी वाड़वाग्नि जल रही है, जिससे नाना शरीर रूपी जल की तरंगें स्वाहा होती चली जाती हैं। इस बात को न जानने वाले जोरों से चिल्लाते हैं कि हा मेरा हीरा लाल जल गया (मर

---

* छन्द 'हरिपद'। † सार छन्द।

जाहु बैद घर आपने, बात न पूछै कोय।
जिन यह भार लदाइया, निरबाहेगा सोय ॥३१०॥

औरन[८८] के सिखलावते, मोहड़े परिगौ रेत।
रास बिरानी राखते, खाइनि घर का खेत ॥३११॥

मैं[८९] चितवत हौं तोहि को, तू चितवत है वोहि।
कहहिं कबिर कैसे बने, मोहि तोहि औ वोहि ॥३१२॥

तकत[९०] तकावत तकि रहा, सका न बेझा मार।
सबै तीर खाली परा, चला कमानहिं डार ॥३१३॥

जस[९१] कथनी करनी तसी, जस चुम्बक तस ज्ञान।
कहहिं कबिर चुम्बक बिना क्यों जीतै संग्राम ॥३१४॥

अपनि कहै मेरी सुने, सुनि मिलि एकै होय॥
हमरे देखत जग चला, ऐसा मिला न कोय ॥३१५॥

देस बिदेसन हौं फिरा, गाँव गाँव की खोरि।
ऐसा जियरा न मिला, लेवे फटकि पिछोरि ॥३१६॥

मैं चितवत हौं तोहिको, तू चितवत किछु और।
लानत ऐसे चित्त पर, एक चित्त दुइ ठौर ॥३१७॥

चुम्बक लोहे प्रीति है, लोहै लेत उठाय।
ऐसा सब्द कबीर का, जम से लेत छुड़ाय ॥३१८॥

गया) ८८—औरों को उपदेश देते हैं परन्तु स्वयं आचरण नहीं करते हैं। रास = अन्न की ढेरी। ८९—चित्त की एकाग्रता के बिना उपदेश व्यर्थ चला जाता है। वोहि = प्रपंच। ९०—बेझा = लक्ष्य। कहते सुनते दिन बीत गये, परन्तु लक्ष्य प्राप्ति न हो सकी। ९१—जिस प्रकार चुम्बक के शस्त्रास्त्र धारी वीर युद्ध में विजयी होते हैं। इसी प्रकार कर्मयोगी (सच्चाज्ञानी) ही संसार को सत्य मार्ग पर ले जा सकता है। ९२—

भूला[९२] तोक* भूला, बहुरि के चेतना।
सब्द की छुरी से (से), संसय को रेतना ॥३१९॥
दोहरा[९३] कथि कहैं कबीर, प्रतिदिन समय जो देखि।
मुये गये नहिं बाहुरे, बहुरि न आये फेरि ॥३२०॥
गुरू[९४] बिचारा का करे, सीषहि माँहे चूक।
भावे त्यों परबोधिये, बाँस बजाये फूक ॥३२१॥
दादा† [९५] भाई बाप कै लेखौ, चरनन होइ हौं बन्दा।
अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा ॥३२२॥
सबते है लघुता भली, लघुता से सब होय।
जस दुतिया का चन्द्रमा, सीस नाँय सब कोय ॥३२३॥
मरते[९६] मरते जग मुवा, मुये न जाना कोय।
ऐसा होय के ना मुवा, बहुरि न मरना होय ॥३२४॥
मरते[९७] मरते जग मुवा, बहुरि न किया विचार।
एक सयानी आपनी, परबस मुव संसार ॥३२५॥

सत्योपदेश से सब संशय दूर हो जाते हैं। ९३—कबीर साहब कहते हैं कि मैं जिन-जिन त्रुटियों को देखता हूँ उनकी निवृत्ति के लिए उपदेश देता हूँ। अतः केवल पूर्वजों के गौरव पर गर्व करते रहना व्यर्थ है, उचित तो यह है कि उनके सद्गुणों का अनुसरण किया जाय जिससे कि फिर वैसे पुरुष-रत्न पैदा होने लगें। जो गये सो तो गये ही। ९४—बांस की फाँफी (नली) की तरह शून्य हृदय वाले शिष्य के हृदय में तत्वोपदेश नहीं ठहर सकता है। ९५—कबीर साहब कहते हैं कि जो अपने नरतन को सुधारेगा, उसको मैं दादा भाई या अपना पिता समझकर सम्मानित करूँगा। ९६—जो ज्ञानपूर्वक मरते हैं वे मुक्त हो जाते हैं अतः फिर नहीं मरते। और

---

* १० मात्रा के 'दैशिक' जात्यन्तर्गत छन्दों विशेष (प्रिय)।
† 'सार' छन्द।

सब्द अहै गाहक नहीं, वस्तु है महँगे मोल।
बिना दाम का मानवा, फिरै सो डामा डोल ॥३२६॥
गृह[९८] तजिके जोगी भये, जोगी के गृह नाहि।
बिनु बिवेक भटकत फिरे, पकरि सब्द की छाँहिं ॥३२७॥
सिंघ[९९] अकेला बन रमे, पलक पलक करै दौर।
जैसा बन है आपना, वैसा बन है और ॥३२८॥
पैठा[१००] है घट भीतरे, बैठा है साचेत।
जब जैसी चाहे गती, तब तैसी मति देत ॥३२९॥
बोलत ही पहिचानिये, साहु चोर का घाट।
अन्तर घट की करनी, निकरे मुख की बाट ॥३३०॥
दिलका[१]* महरमि कोइ न मिलिया, जो मिलिया सो गरजी।
कहहिं कबीर असमानहिं फाटा, क्यों कर सीवे दरजी ॥३३१॥
ई जग जरते देखिया, अपनी अपनी आगि।
ऐसा कोई ना मिला, जासों रहिये लागि ॥३३२॥
बना[२] बनाया मानवा, बिना बुद्धि बैतूल।
कहा लाल ले कीजिये, बिना वास का फूल ॥३३३॥

अज्ञानी लोग बार-बार जन्मते मरते रहते हैं। ९७—सयानी = अहंकार। भाव यह है कि अज्ञानी अहंकार वश मरते हैं। ९८—प्रपंच छोड़ कर फिर प्रपंच में पड़ना प्रपंचियों का ही काम है। ९९—जीवात्मा रूपी सिंह शरीर रूपी वन में मन रूपी सियार की मन्त्रणा से अनेक अनर्थ करता रहता है। सब अज्ञानियों के व्यवहार अज्ञान मूलक ही हुआ करते हैं। १००—निज देव (ईश्वर) सबों के हृदय मन्दिरों में सदैव प्रबुद्ध रहते हैं। "तदेव साधु कर्म कारयति य मुन्निनीषति" इत्यादि। १—दिलका महरमी = हार्दिक भाव का जानने वाला। २—बेतूल = हलका, या ओछा। उस सुहावने

---

* छन्द 'सार'।

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदया साँच है, ताके हृदया आप ॥३३४॥

कोरे[३] बड़े कुल ऊपजे, जोरे बड़ी बुधि नाहिं।
जैसा फूल उजारि का, मिथ्या लगि झरि जाहिं ॥३३५॥

करने[४] किया न बिधि किया, रबि ससि परी न दीस्टि।
तिन लोक में है नहीं, जानै सकलो सीस्टि ॥३३६॥

सुरहुर[५] पेड़ अगाध फल, पंछी मरिया झूर।
बहुत जतन कै खोजिया, फल मीठा पै दूर ॥३३७॥

बैठा[६] रहै सो बानिया, ठाढ रहे सो ग्वाल।
जागत रहे सो पहरुवा, तेहि धरि खायो काल ॥३३८॥

आगे[७] आगे दौं जरे, पाछे हरियर होय।
बलिहारी तेहि ब्रिच्छकी, जर काटे फल होय ॥३३९॥

लाल फूल से क्या लाभ है जिसमें गन्ध न हो। ३—जैसे जंगल में लगे हुए फूल किसी उपयोग में नहीं आते हैं, इसी प्रकार बुद्धि हीन मनुष्य ऊँचे कुल में जन्म लेने पर भी किसी सत्कार्य को नहीं कर सकता है। ४—यह मिथ्या कल्पना की पहेली है। ५—जैसे दूर लगे हुए नरियर के कच्चे फलों को खाने के लिये तोता उसमें चोंच मारता है, और चोंच के फँस जाने से छटपटा कर मर जाता है, इसी प्रकार स्वर्ग और बिहिश्त के सुदूरवर्ती मीठे फलों के मिलने की इच्छा से अज्ञानी लोग व्यर्थ ही प्राण देते रहते हैं, और दूसरो के प्राण लेते रहते हैं। सुरहुर-लम्बा और सीधा। ६—बिना ज्ञान के धूनी लगाकर सदा बैठे रहना या खड़े रहना केवल कष्ट कारक कर्म ही है। मन का निरोध करना आवश्यक है तन को कष्ट देना तो व्यर्थ है। 'बांबी कूटे बावरे, सांप न मारा जाय। मूरुख बांबी ना डसे, सांप समनि को खाय। ७—संसार वृक्ष की विचित्रता। पुराने-पुराने प्रस्थान करते रहते हैं और नये-नये उत्पन्न होते रहते हैं। यह वृक्ष ऐसा

जनम मरन बालापना, बिरध अवस्था आय।
जस बिलाइ मूसा तकै, जम जिव घात लगाय ॥३४०॥
है[८]*बिगरायला ओरका, बिगरो नाहि बिगारो।
घाव काहिपर घालौं, जित देखौं तितप्रान हमारो ॥३४१॥
पारस[९] परसे कनक भौ, पारस कधी न होय।
पारस के अरसै परस, कनक कहावे सोय ॥३४२॥
ढूंढत[१०] ढूंढत ढूंढिया, भया सो गूना गून।
ढूंढत ढूंढत ना मिला, हारि कहा बेचून ॥३४३॥
बे[११] चूने जग चूनिया, सांई नूर निनार।
आखिरताके वख्त में, किसका करो दीदार ॥३४४॥
सोई[१२] नूर दिल पाक है, सोइ नूर पहिचान।
जाके कीये जग हुवा, सो बेचुन क्यों जान ॥३४५॥
ब्रह्मा[१३] पूछै जनिनसे, करजोरि सीस नवाय।
कवन बरन वह पुरुष है, माता कहु समुझाय ॥३४६॥

विलक्षण है कि इसकी जड़ (अज्ञानता) के काटने से ही फल (मोक्ष) मिलता है।

८—ऐ वंचक गुरुओ! अनादिकाल के बिगड़े हुए जीवात्मा को तुम लोग और भी बिगाड़ रहे हो। ऐसा न करो। ९—जीव वादियों का कथन। जीव का जीवत्व कदापि नहीं मिट सकता है। हां ज्ञान पाकर यह निर्मल हो सकता है, परन्तु अपने स्वरूप को नहीं खो सकता। १०—मुसलमानों का निश्चय—बेचून=निराकार। मुसलमान लोग खुदा को निराकार और सातवें आसमान पर रहने वाला मानते हैं। गूनागून=गुम। ११—नूर=प्रकाश। यदि साँई का नूर सातवें आसमान पर है तो उसने दुनिया को (बिना साधन के) कैसे बनाया। और तुम लोग अन्त समय

---

*विषम मात्रिक छन्द।

रेख रूप वै है नहीं, अधर धरी नहिं देह।
गगन मँडल के मध्य में, निरखो पुरुष बिदेह ॥३४७॥

धरे ध्यान गगन के माहिं, लाये बज्र किंवार।
देखि प्रतीमा आपनी, तीनिउँ भये निहाल ॥३४८॥

यह[१४] मन तो सीतल भया, जब उपजा ब्रह्मज्ञान।
जेहि बसन्दर जग जरे, सो पुनि उदक समान(!)॥३४९॥

जासो नाता आदिका, बिसरि गया सो ठौर।
चौरासी की बसि परे, कहे और की और ॥३५०॥

अलख[१५] लखौं अलखे लखौं, लखौं निरंजन तोहि।
हौं कबीर सबको लखौं, मोको लखै न कोइ ॥३५१॥

किसका दीदार (दर्शन) करना चाहते हो। १२—स्वमत। वस्तुतः वह पवित्र स्वयंज्योति हृदय कमल में विराजमान है उसी को पहिचानो और मिथ्या कल्पनाओं को छोड़ो। १३—इन साखियों का अर्थ दूसरी रमैनी की टीका के अन्तर्गत है। सूचना— अति प्राचीन सुखनिधान ग्रन्थ में ये साखियाँ कुछ पाठ भेद से उपलब्ध होती हैं। यथा—समै। ब्रह्मा पूछे दीन होय करजोरि सीसनिवाय। कवन वरन वह पुरुष है, कहो मात समुझाय। मायावचन। रूप रेख उनके नहीं, अधरि धरी नहीं देह। तीनलोक के बाहरे निरखो पुरुष विदेह। इत्यादि। १४—त्रितापाग्नि से सन्तप्त मन 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति से कुछ शीतल सा हो जाता है सर्वथा नहीं, क्योंकि वह भी तो एक वृत्ति ही है, अतः वृत्ति मात्र का लय करना परम कर्तव्य है; क्योंकि तरंगों के प्रशान्त हुए बिना प्रतिबिम्ब प्रतिफलित नहीं होता है। यह इस साखी का निगूढ़ आशय है। इसका उत्तरार्ध काकू—वचन है। १५—अलख अलख की टेर लगाने वाले अलखिया (जोगी) को उपदेश—आत्मा सबों का साखी होने के कारण अलख निरंजन आदि नामों से कहे जाने वाले मन आदिकों का

हम[१६] तो लखा तिहुँ लोक में, तू क्यों कहे अलेख।
सार-सब्द जाना नहीं, धोखे पहिरा भेख ॥३५२॥
साखी आँखी ज्ञानकी, समुझि देखु मन माहिं।
बिनु साखी संसार का झगरा छूटत नाहिं ॥३५३॥

॥ इति ॥

भी द्रष्टा है और 'द्रष्टा का द्रष्टा नहीं होता' इसके अनुसार उसका द्रष्टा कोई नहीं है। १६—जिसको आप लोग अलख, निरंजन और ज्योतिस्वरूप कहते हैं, वह मनही है क्योंकि "तीन लोक मन भूप है मन पूजा सब ठौर" एवं "दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु" इस यजुः श्रुति के अनुसार उक्त मन ज्योतिः स्वरूप भी है। भाव यह है कि अलख के चक्र से छूट कर सबों के हृदय मन्दिरों में साक्षात् विराजमान अविनाशी राम के दर्शन करने का प्रयत्न करिये। श्रीगोस्वामी जी ने भी किसी अलखिये से यही बार्ता कही थी। यथा-'हम लख हमहिं हमार लख, हम हमार के बीच। तुलसी अलखहिं का लखै, राम नाम भजु नीच'। १७—ये साखियां (यथार्थ वचन होने के कारण) तत्व निर्णायक (साक्षी पुरुष रूप) हैं।

यत्कृतश्लेशतस्तीर्णो बीजकाब्धिर्मयांजसा।
सोऽयंवोमुक्तिदोभूयाज्जगन्नाथो गुरुर्मम ॥

॥ समाप्त ॥

सम्मति—सार

तत्र तावत्, निखिलतंत्रापरतंत्रपदवाक्य-प्रमाणपारावारीण विद्वच्चक्रचूडामणि श्रीयुत पं० काशीनाथशास्त्रिमहोदयानाम्।

श्रीः।

अथ विदितमिदमस्तु प्रस्तुतम्। यो निखिलमहीमंडले प्रथते यदीय यशोराशि रारभ्य भक्तमालादिना वर्ण्यते, यदीयानि च कतिपयानि पद्यानि नानकीयग्रन्थादौ (ग्रन्थ साहब) सादरं धृतानि सोऽयं महात्मा कबीरो ज्ञानिभक्तः। किंवदन्त्या तदीयबीजकीयतत्तद्वचनपर्यालोचनया च परमधार्मिको गम्यते। ननु कानिचित्तदीयानि वचनानि तीर्थादीनि निन्दन्तीति कथमीदृग सा वितिचेन्न, अतत्परत्वात्तेषाम्, तेहि तानितानि निन्दन्ति किंतर्हि श्रद्धापुरस्सरमीश्वरार्पणावसानमिह जन्मनि जन्मान्तरे वा यथाशक्ति विधिवदनुष्ठितैस्तीर्थवाससत्यभाषणगंगास्नानादिभिस्साधारणैरसाधारणैश्चान्यैस्स्वैः स्वैर्धर्म्मैर्निताम्तद्भपितान्तःकरणकल्मषान् विवेकादिसाधनसम्पन्नानात्मचिन्तनादौ प्राधान्येन प्रवर्तयन्ति, अन्यथा कथं काशीविरहाहितवेदनावेदकं तदीयवचन मन्यानिच यज्जातीयानि तानि संगच्छेरन्। एवमेवातिसदयहृदयतया वैधी मपिहिंसा मसहिष्णोरवैधान्तां प्रतिषिषित्सतस्तस्यापाततो ब्राह्मणनिन्दापरतया लक्ष्यमाणमपिवननमतत्परमेवेति सुवेदमेवाशेषवाक्यविदाम्। इत्थंचाधुनिकाः केचन नवीरा वेदादिशास्त्रं हरिहरहिरण्यगर्भादिदैवतमवतारांश्च दूषयन्तो न के तं तान्येव दूषयन्त्येवापितु दुस्तरभवमहोदधौ निमग्नानां तमुत्तितीर्षतां श्रुतिश्रवणादावनधिकारिणा मुद्दिधारयिषया प्रवृत्तंमहानौकास्थानीयं बीजकनामानं निबन्धं तन्निर्मातारं करुणावरुणालयं महात्मानं कबीरं च दूषयन्तो नैज मात्मान मप्यधः पातयन्तीति हा कष्टं करुणाभाजनभूतास्ते शोच्या एव न दूष्या इति दिग्दर्शनामात्रं बहुमन्यमानोऽ

निगूढार्थबीजकमृजुभिर्मिताक्षरैर्विवृण्वतीमिमां साधुविचारदासविनिर्मितां, प्रबोधिनीं, पश्यन् हृष्यंश्च बलिया मंडलान्तर्गतच्छाताग्रामाभिजयः काशीनाथशर्म्मोपरमतीतिशम्।

'सुप्रभात' सम्पादक श्रीयुत पं० गिरीशशर्मशुक्लन्यायाचार्याणाम्

श्रीमन्तोमहाभागाः।

जानन्त्येव खलु तत्र भवन्तो भारतीयमहात्मनां श्रीमतां कबीर महोदयानामध्यात्मोपदेशपरं हिन्दी-ग्रन्थ बीजकाभिधम्। ग्रन्थोऽयं हिन्दीसाहित्यग्रन्थेषु पुरातनः प्रधानश्च। स्वतन्त्रेच्छेन महात्मना ग्रन्थोऽयं हिन्द्या गिरा यद्यपि निबद्धस्तथापि विषयकाठिन्याद् भाषाकाठिन्याच्च निरूपणप्रकारस्य रूपकाद्यलंकारपूर्णत्वाच्च अत्यन्तं दुर्बोध एव साधारणमतीनां विशेषतो हिन्दीभाषानभिज्ञानाम्। यद्यपिचास्य हिन्दीग्रन्थरत्नस्य प्राचीनान्यपि सन्ति व्याख्यानानीति श्रूयते, तथापि सर्वोपयोगि नासीत किमपि व्याख्यानं मुद्रितम। सेयं त्रुटिःकाशीस्थेन श्रीमताविचारदासमहाशयेन दूरीकृतेतिविलोक्य नितरां प्रसीदति हृदयम। अस्यां टीकायां ग्रन्थकर्तुस्तात्पर्य्यम् तत्तत्प्राच्यभाषा शब्दानां विवरणं च सम्यङ् निरूपितम्। 'बीजक ग्रन्थे' अद्वैतात्मतत्वस्य, नामोपासनस्य, विज्ञान-वैराग्ययोः अहिंसायाः, ईश्वरभक्तेः, पाखंड परित्यागस्य, वाह्यचिन्हानामकिंचित्करत्वस्यच बाहुल्येन प्रतिपादनं दृश्यते। अध्यात्मनिरूपणप्रकारश्चास्य ग्रन्थस्य स्वतन्त्र एव। येन यथा श्रुतार्थः कश्चिदन्य एवापाततो भासते, तात्पर्य्यार्थश्चापर एव भवति। यत्र विशेषतः काठिन्यमन्यावालोक्यते तत्र टीकेयं तात्पर्य्यार्थं स्फुटं प्रकाशते। अनया टीकया केचन विषयाः यथा सविस्तरं निरूपितास्तथा न सर्वत्र विवृता इति विवरणविस्तरमपेक्षत एवायं ग्रन्थः। टीकेयं संस्कृतपंडितेन रचिता, तत्रतत्र संस्कृतग्रन्थानां प्रमाणोल्लेखालंकृताच अतःसंस्कृतपंडितानामति मनोरंजन यथावत् सम्पादयति! अतःसंस्कृतज्ञा अप्येतत्साहाय्येन श्रीमत्कबीरविचारं विशदीकुर्वन्तु।

३०।१७।२६] **गिरीशशुक्लः।**

श्रीयुत पं० विन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रिणाम्

'बीजक' नामकं पुस्तकमिदं महात्मना कबीरमहोदयेन प्रणीतम् । तच्च विपश्चिद्वरेण श्रीमता विचारदासाशास्त्रिणा विरचितया 'विरल—टीकया टिप्पण्या' च समलंकृत कृत्वा श्रीनगेश्वरवरश्च सिंहेन प्रकाशितम् । मुद्रणं संशोधनंचातीवसमीचीनम् । पुस्तकमिदं भक्तपाठकेभ्यो मूल्यमन्तरेणैव प्रदीयते । महात्मनः कबीरस्य कविताः काठिन्ये लोकविश्रुताः । परन्तु श्रीमता शास्त्रिवर्य्येण तदीयकविताः समाश्रित्य भाष्यरूपा तादृशी टीका टिप्पणी च विहितायया सर्वसाधारणाः अपि दुर्बोधाः क्लिष्टाश्च कबीर-कविताः सुखेनावगन्तुं शक्नुयुः । टीकायां मध्ये मध्ये श्रुतीनां स्मृतीनां ग्रन्थान्तराणां च वाक्यानि समुद्धृतानि यैष्टीकाकृतः पांडित्येन साकं ग्रन्थस्य गुरुत्वमुपादेयत्वं च स्फुटं प्रतीयते । किम्बहुना, पुस्तकमेतत् सर्वाङ्गशोभनं सहृदयैर्द्रष्टव्यञ्चेति ।

श्री विन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रिणः सूर्योदयसम्पादकस्य ।

काशी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् श्रीयुत बाबू भगवान दासजी एम० ए० महोदय ।

श्रीमहन्त राम विलास दास जी

कबीर चौरा

बनारस ।

नमस्कार

आपने बड़ा अनुग्रह किया जो सटीक बीजक की एक प्रति भेजी । मैं उसके लिये आपको अनेक धन्यवाद देता हूं । श्री विचार दास जी ने टीका अत्युत्तम बनाई है । वैसी ही विद्वत्ता और पांडित्य वैसी ही सरलता । गूढ़ से गूढ़ पदों को स्पष्ट कर दिया है । और समानार्थक प्राचीन संस्कृत वाक्यों और आर्ष श्लोकों के उद्धरण से बड़ी ही आनन्द और रस की सामग्री एकत्र कर दी है । कबीर के पदों के पुनः प्रचार की बड़ी आवश्यकता है । जब वर्ण संबंधी दंभ और दुराग्रह फिर बहुत बढ़ गया है ।

और इसी के कारण से हिन्दू धर्म और समाज का ह्रास हो रहा है। इनके पुनः प्रचार से आत्मतत्व का ज्ञान और आत्म धर्म का प्रचार सर्व साधारण में होकर धार्मिक कलह कम होने की पूरी आशा हो सकती है। मैं पुनर्वार आपका और श्री विचारदास जी और श्री नगेश्वर वख्श सिंह जी का बहुत बहुत उपकार मानता हूँ और धन्यवाद करता हूँ।

शुभ चिंतक—

भगवान् दास

"सरस्वती"

बीजक महात्मा कबीर दास का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। अब तक इस ग्रन्थ के अनेक संस्करण निकल चुके हैं। इसके इस संस्करण में यह विशेषता है कि इसके टीकाकार साधु—विचारदास केवल विद्वान् ही नहीं है, किन्तु कबीर पन्थी साधु भी हैं। आपने इस ग्रन्थ के कठिन स्थलों का आशय स्पष्ट करने में खासा परिश्रम किया है। पन्थ की परम्परा के अनुसार उनके गूढ़ तत्वों को प्रकट किया है, साथ ही स्थल स्थल पर उपनिषदादि शास्त्रों की बहु संख्यक उक्तियाँ उद्धृत कर भाव-सादृश्य दिखला कर उन उन स्थलों को आर्य-शास्त्रों से प्रमाणित किया है। आपकी टीका से बीजक का आशय समझने में सर्व साधारण को बड़ी सुविधा हो गई है।

जनवरी सन् १६२८।